आत्माराम-आकर्षक हरिके गुण



आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

आत्माराम-आकर्षक हरिके गुण

प्रकाशक—
श्रीकृष्ण जन्मस्थान सेवासंघ
मथुरा

प्रकाशन-तिथि—
मकर संक्रान्ति, विक्रम संवत् २०२८, गौराब्द ४८५,
बङ्गाब्द १३७८, शकाब्द १८९३, ईस्वी सन् १९७२

मुद्रक—
नेशनल प्रिन्ट क्राफ्ट्स
९५-ए, चित्तरंजन एवेन्यू
कलकत्ता-१२

प्रथमावृत्ति ११००

न्यौछावर १ रु० ५० पै०

प्रकाशकीय निवेदन

श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभुने श्रीसनातन गोस्वामीको शिक्षा दी उसी समय श्रीसनातन गोस्वामीने उनसे श्रीमद्भागवतके श्लोक—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥ (१।७।१०)

की व्याख्या जाननी चाही। इस श्लोककी व्याख्या करनेमें श्रीमन्महाप्रभुने उनको इसके ६१ अर्थ बताये थे। इसका वर्णन श्रीचैतन्यचरितामृतके मध्यखण्डके २४वें परिच्छेदमें है। इसकी बड़ी सुन्दर टीका बंगभाषामें नित्यधामगत परमवैष्णव डाक्टर श्रीराधागोविन्द नाथने की है। एक सन्तकी प्रेरणासे उसीका अनुवाद करके प्रकाशित किया जा रहा है। इस कार्यमें आवश्यकतासे अधिक समय लग गया, जिसके लिये अनुवादक उन सन्तके चरणोंमें क्षमा प्रार्थना करता है।

बंगभाषाका पूरा ज्ञान न होनेके कारण अनुवादमें भूलका रह जाना सम्भव है। विज्ञजनोंसे प्रार्थना है कि कहीं कोई ऐसी त्रुटि दृष्टिगोचर हो तो उसको बतानेकी कृपा करें जिससे अगले संस्करणमें उसको सुधारनेकी चेष्टा की जाय।

मुद्रणमें भी प्रूफ देखते समय अथवा मुद्रणकालमें किसी टाइपके टूट जानेसे अशुद्धियाँ रह जानी सम्भव हैं। जहाँ कहीं ऐसी अशुद्धियाँ रही होंगी उनको अगले संस्करणमें सुधारनेकी और अधिक सावधानी रखनेकी पूरी चेष्टा की जायगी। पाठकोंको इस प्रकारकी अशुद्धियोंके कारण जो कष्ट हो उसके लिये क्षमा करनेकी प्रार्थना है।

टीकाकारने टीकामें जहाँ-तहाँ उद्धरण दिये हैं, उनकी संकेत-लिपि संक्षिप्त रूपमें दी गयी है जिसका विवरण विषय सूचीके अन्तमें दिया है।

—प्रकाशक

विषय-सूची

संकेत-लिपि

स्वामी	श्रीधरस्वामी
श्रीजीव	श्रीपाद जीवगोस्वामी
चक्रवर्ती	श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्ती
गी० या श्रीगी० या गीता	श्रीमद्भगवद्गीता
भा० या श्रीभाग० या श्रीम० भा०	श्रीमद्भागवत महापुराण
भ० र० सि०	भक्तिरसामृत-सिन्धु
वि० पु०	विष्णुपुराण
चै० च०	चैतन्य चरितामृत
आ०	आदिलीला
म०	मध्यलीला
अं०	अन्त्यलीला

मङ्गलाचरण

आत्मारामेतिपद्यार्कस्यार्थांशून् यः प्रकाशयन् ।
जगत्तमो जहाराव्यात् स चैतन्योदयाचलः ॥१॥

संस्कृतटीका—अर्थांशून् अर्थरूपकिरणान् । **उदयाचलः** उदय पर्व्वतः ॥ इति ॥ चक्रवर्ती ॥१॥

अन्वय— यः (जिन्होंने) **आत्मारामेति** (आत्मारामाः···— इस) **पद्यार्कस्य** (श्लोकरूप सूर्यकी) **अर्थांशून्** (अर्थरूप किरण) **प्रकाशयन्** (प्रकाशित कर) **जगत्तमः** (जगतके अज्ञानान्धकारका) **जहार** (हरण किया है), **सः** (वे) **चैतन्योदयाचलः** (श्रीचैतन्यरूप उदय पर्वत) **अव्यात्** (रक्षा करें) ।

अनुवाद—जिन्होंने "आत्मारामाः···" श्लोकरूप सूर्यकी अर्थरूप किरणोंको प्रकाशित करके जगत्के (अज्ञानरूप) अन्धकारका हरण किया है, वे श्रीचैतन्यरूप उदय पर्वत (हमलोगोंकी) रक्षा करें ।

आत्मारामाः—इत्यादि श्लोकका स्थूल तात्पर्य यही है कि आत्माराम-मुनिगणसे लेकर स्थावर वृक्षादि पर्यन्त सभी अहैतुकी भावसे श्रीकृष्णका भजन करते हैं—यदि सौभाग्यक्रमसे उन्हें भक्तकृपा, कृष्णकृपा या भक्तिकी कृपा प्राप्त हो जाय ।

श्रीपाद सनातनके निकट श्रीमन्महाप्रभुने इस '**आत्मारामाः**···' श्लोकके अनेक प्रकारके अर्थ प्रकाश किये थे । उक्त श्लोकमें '**आत्मारामाः**···' श्लोककी सूर्यके साथ और उसके अर्थोंकी किरणके साथ एवं श्रीमन्महाप्रभुकी उदय-गिरिके साथ तुलना की गयी है । सूर्य उदयाचलपर आरोहण करके अपने किरण-जालका विस्तार करना आरम्भ करते हैं एवं उसके द्वारा जगत्का अन्धकार पूर्णरूपसे दूर कर देते हैं । '**आत्मारामाः**···' श्लोकने भी श्रीमन्महाप्रभुके श्रीमुखपर आरोहण कर (प्रभुकी कृपासे) अपने अपूर्व अर्थोंका प्रकाश किया है एवं

उसके द्वारा लोकका अज्ञान दूर किया है। उदयाचलसे जिस प्रकार सूर्यकी किरणें जगत्में प्रकाशित होती हैं, उसी प्रकार श्रीमन्महाप्रभु द्वारा 'आत्मारामाः···' श्लोकके अर्थ जन-समाजमें प्रचारित हुए हैं। इसीलिये अर्थको किरणके तुल्य, श्लोकको सूर्यके तुल्य एवं महाप्रभुको उदयाचलके तुल्य कहा गया है।

इस परिच्छेदमें जो 'आत्मारामाः···' श्लोकके अर्थ प्रभु द्वारा प्रकाशित हुए हैं, इस श्लोकमें ग्रन्थकारने उन्हींको इङ्गित किया है। श्लोकस्थ 'अव्यात्' शब्द द्वारा यह सूचित होता है कि 'आत्मारामाः···' श्लोकके अर्थ-प्रकाश विषयमें ग्रन्थकार महाप्रभुकी कृपाकी भिक्षा करते हैं। उदयाचलः — उदय-पर्वत। अर्क—सूर्य।

जय जय श्रीचैतन्य जय नित्यानन्द।
जयाद्वैतचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द ॥१॥

जय जय श्रीचैतन्यदेव, श्रीनित्यानन्द जयति जय जय।
जय जय जय श्रीअद्वैतचन्द्र, श्रीगौर-भक्त-गणकी जय जय॥

सनातन गोस्वामी द्वारा 'आत्मारामाः···' श्लोकको अर्थ-जिज्ञासा

तबे सनातन प्रभुर चरणे धरिया।
पुनरपि कहे किछु विनति करिया ॥२॥

तब पकड़ सनातन गोस्वामीने प्रभुके चरण-सरोज उभय।
आरम्भ किया इस भाँति पुनः कहना कुछ करते हुए विनय॥

तबे—विविध तत्त्वसम्बन्धी उपदेश देनेके बाद, ग्रन्थ प्रणयनके उद्देश्यसे समस्त तत्त्वोंके स्फुरण होनेके निमित्त श्रीमन्महाप्रभु द्वारा सनातन गोस्वामीको वर दिये जानेके अनन्तर। **विनति**—विनय।

तब सनातन गोस्वामीने श्रीमन् महाप्रभुके चरण पकड़कर विनयपूर्वक कुछ और भी जिज्ञासा की।

पूर्व्वे शुनियाछि—तुमि सार्व्वभौम-स्थाने।
एक श्लोकेर आठार अर्थ करियाछ व्याख्याने॥

है सुना, आपने एक बार पहले श्रीसार्वभौमके घर।
था एक श्लोकका किया अर्थ उसकी अष्टादश व्याख्या कर॥३॥

प्रभु! ऐसा सुना है कि तुम्हींने तो वासुदेव-सार्वभौमके निकट 'आत्मारामाः···' श्लोककी अट्ठारह प्रकारकी व्याख्या की थी। **एक श्लोकेर**—निम्नोद्धृत 'आत्मारामाः···' इत्यादि श्लोककी।

तथाहि श्लोकः श्रीमद्भागवते (१।७।१०)

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्व्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥२॥

संस्कृतटीका—निर्ग्रन्था ग्रन्थेभ्योनिर्गताः। तदुक्तं गीतासु।
"यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च" इति।
यद्वा ग्रन्थिरेव ग्रन्थः निवृत्तः क्रोधोऽहङ्काररूपो ग्रन्थिर्येषां ते निवृत्त हृदयग्रन्थय इत्यर्थः। ननु मुक्तानां किं भक्त्येति सर्वाक्षेपपरिहारार्थमाह इत्थम्भूतगुणो हरिरिति॥ स्वामी॥

अन्वय—निर्ग्रन्थाः (अविद्या ग्रन्थि शून्य) अपि (होकर भी) आत्मारामाः (आत्माराम) च मुनयः (मुनिगण) उरुक्रमे (उरुक्रम श्रीहरिमें) अहैतुकीं

(अहैतुकी) भक्ति (भक्ति) कुर्वन्ति (करते रहते हैं) इत्थम्भूतगुणः (ऐसे ही चित्ताकर्षक गुण विशिष्ट) हरिः (श्रीहरि) [भवति] (होते हैं)।

अनुवाद—श्रीहरिके ऐसे ही चित्ताकर्षक गुण हैं कि अविद्याग्रन्थिहीन आत्माराम मुनिगण पर्यन्त भी उन उरुक्रम श्रीहरिमें अहैतुकी भक्ति करते हैं।

आश्चर्य्य शुनिञा मोर उत्कण्ठित मन।
कृपा करि कह यदि जुड़ाय श्रवण ॥४॥

सुनकर आश्चर्य हुआ, मनमें उत्कण्ठा है उठ रही प्रबल।
यदि कहें कृपाकर पुनः आप, सुनकर श्रवणेन्द्रिय हों शीतल ॥

यह आश्चर्यजनक बात सुनकर **उत्कण्ठित मन**—यह व्याख्या सुननेके लिये मुझे अत्यन्त उत्कण्ठा उत्पन्न हुई है। यदि आप कृपा करके कहें तो मेरे कानोंको शान्ति मिले।

महाप्रभुका उत्तर

प्रभु कहे-आमि वातुल आमार वचने।
सार्व्वभौम वातुल-ताहा सत्य करि माने ॥५॥

प्रभु बोले—मैं तो हूँ पागल, जो कुछ भी मुखसे गया निकल।
सच सार्वभौमने मान उसे ही लिया, न वह भी कम पागल ॥

सनातनकी बात सुनकर प्रभुने अपना दैन्य ज्ञापन करके कहा— मैं एक वातुल (पागल) हूँ और सार्वभौम एक और पागल है। इसीलिये मैंने जो व्याख्या की उसीको सार्वभौमने सत्य मानकर ग्रहण कर लिया।

किवा प्रलापिलाम, किछु नाहिक स्मरणे।
तोमार सङ्ग-बले यदि किछु हय मने ॥६॥

क्या-क्या था मैं बक गया, नहीं कुछ भी स्मृति-पटपर है अङ्कित।
पाकरके संग तुम्हारा हो चाहे मनमें कुछ बात उदित ॥

प्रलापिलाम—अर्थहीन वाक्य कहा गया। यह प्रभुकी दैन्योक्ति है। **सङ्ग-बले**—सङ्गके प्रभावसे।

मैं क्या प्रलाप कर गया, इसका मुझे कुछ भी स्मरण नहीं है। तुम्हारे संगके प्रभावसे यदि कुछ स्मरण आ जाय तो बात दूसरी है।

सहजे आमारे किछु अर्थ नाहि भासे।
तोमा सभार सङ्गबले जे किछु प्रकाशे ॥७॥

कुछ अपने-आप नहीं मेरे मनमें होता है स्फुरित अर्थ।
तुम लोगोंका पा संग भले कुछ कहनेमें होऊँ समर्थ ॥

सहजे—साधारणतः जब एकाकी रहता हूँ। **नाहि भासे**—प्रकाशित नहीं होता।

सहजमें मुझे कोई अर्थ प्रकाशित नहीं होता। तुम लोगोंके संगके प्रभावसे कुछ प्रकाशित हो सकता है।

एकादश-पद एइ श्लोके सुनिर्म्मल।
पृथक् नाना अर्थ पदे करे झलमल ॥८॥

इस श्लोक सुनिर्मलमें देखो! एकादश पद आये हैं कुल।
इन सभी पदोंके पृथक-पृथक एकाधिक अर्थ रहे हैं खुल ॥

सुनिर्म्मल—सुस्पष्ट। **करे झलमल**—सुस्पष्ट व सुप्रसिद्ध हैं।

एकादश-पद—'आत्मारामाः···' श्लोकमें सब मिलाकर केवल ग्यारह पद हैं; इसके प्रत्येक पदका नाना प्रकार अर्थ है। प्रत्येक अर्थ ही अति सुस्पष्ट एवं सुप्रसिद्ध है (करे झलमल)। श्लोकके ग्यारह पद इस प्रकार हैं :—(१) आत्मारामाः;

(२) च ; (३) मुनयः ; (४) निर्ग्रन्थाः ; (५) अपि ; (६) उरुक्रमे ; (७) कुर्वन्ति ; (८) अहैतुकीं ; (९) भक्ति ; (१०) इत्थम्भूतगुणं ; एवं (११) हरिः ।

इसके आगेके पयार छन्दोंमें इन ग्यारह पदोंके पृथक-पृथक अर्थ प्रकाशित करते हैं एवं उन-उन अर्थों के प्रतिपादक प्रमाण भी दिखाते हैं।

'आत्मा' का अर्थ

'आत्मा'-शब्दे—ब्रह्म, देह, मन, यत्न, धृति ।
बुद्धि, स्वभाव—एइ सात अर्थ प्राप्ति ॥९॥

'आत्मा' पदसे ही ब्रह्म, देह, मन, यत्न तथा धृति या धीरज ।
इनके अतिरिक्त स्वभाव, बुद्धि—ये सात अर्थ हैं रहे उपज ॥

प्रथमतः 'आत्माराम' शब्दका अर्थ किया जाता है। आत्मामें रमण करते हैं जो, वे ही हैं आत्माराम। अतः 'आत्माराम' शब्दका अर्थ करनेके लिये पहिले 'आत्मा' शब्दका अर्थ बताना आवश्यक है।

'आत्मा'-शब्दे—'आत्मा' शब्दके सात अर्थ हैं—(१) ब्रह्म ; (२) देह ; (३) मन ; (४) यत्न ; (५) धृति ; (६) बुद्धि ; व (७) स्वभाव। इन सातों अर्थोंका तात्पर्य यथास्थान पयारोंमें आगे वर्णन किया गया है।

तथाहि विश्वप्रकाशे—

आत्मा देहमनोब्रह्मस्वभावधृतिबुद्धिषु प्रयत्ने च ॥३॥ इत्यादि

अन्वय—अन्वय सरल है।

अनुवाद—देह, मन, ब्रह्म, स्वभाव, धृति, बुद्धि, एवं प्रयत्न—'आत्मा' शब्दके ये सात अर्थ हैं। पूर्ववर्ती पयारोक्तिके प्रमाणमें यह श्लोक है।

'आत्माराम' कौन है ?

एइ साते रमे जेइ, सेइ आत्मारामगण ।
आत्मारामगणेर आगे करिब गणन ॥१०॥

हैं वे ही आत्माराम, रमण करते हैं जो सातोंमें इन।
इन आत्मारामोंकी संख्या कितनी, यह दूँगा आगे गिन॥

एइ साते रमे जेइ—'आत्मा' शब्दके सात अर्थों में जो जो वस्तु आती है, उस-उस वस्तुमें जो रमते हैं—रमण करते हैं (आनन्द अनुभव करते हैं), उनको आत्माराम कहते हैं। अर्थात् जो ब्रह्ममें आनन्द अनुभव करते हैं—वे एक आत्माराम हैं; जो देहमें (देह या देह सम्बन्धीय वस्तुमें) आनन्द अनुभव करते हैं—वे एक आत्माराम हैं; इत्यादि। आगे—बादमें। 'आत्माराम' कहनेसे कौन-कौन समझे जायँ, उसका बादमें वर्णन होगा।

'मुनि'का अर्थ

मुन्यादि-शब्देर अर्थ शुन सनातन।
पृथक-पृथक अर्थ, पाछे कराब मिलन॥११॥

'मुनि' आदि पदोंके अर्थ सुनाता तुम्हें सनातन! हूँ लो सुन।
कर अर्थ सभीका पृथक्-पृथक्, फिर लेंगे उनकी संगति बुन॥

मुन्यादि—आत्माराम शब्दका दिग्दर्शन रूपमें अर्थ करके 'मुनि' प्रभृति बाकी दस पदोंका अर्थ अब करते हैं। **पृथक-पृथक** इत्यादि—पृथक-पृथक भावसे ग्यारह पदोंका अर्थ करके, बादमें जिस अर्थके साथ जो अर्थ बैठेगा, वह मिलाकर सम्पूर्ण श्लोकका अर्थ किया जायगा।

'मुनि'-शब्दे मननशील, आर कहे मौनी।
तपस्वी व्रती यति आर ऋषि मुनि॥१२॥

'मुनि' पदके अर्थ बताता हूँ—मौनी या व्यक्ति मननकारी।
तल्लीन तपस्यामें अथवा यति या ऋषि-मुनि या व्रतधारी॥

'मुनि' शब्दका अर्थ करते हैं—**'मुनि' शब्द**—मननशील, मौनी, तपस्वी, व्रती, यति, एवं ऋषि समझना चाहिये।

मननशील—चिन्ताशील। **मौनी**—जिसने वाणीको संयत किया है। **तपस्वी**—तपस्या परायण। **व्रती**—ब्रह्मचर्यादि नियम परायण। **यति**—संन्यासी।

'निर्ग्रन्थ' का अर्थ

'निर्ग्रन्थ'-शब्दे कहे—अविद्या-ग्रन्थिहीन।
विधि-निषेध-वेदशास्त्र ज्ञानादि विहीन ॥१३॥

'निर्ग्रन्थ' शब्दसे अभिप्रेत—जो व्यक्ति अविद्या ग्रन्थि-रहित।
या विधि-निषेधमय वेद-शास्त्रकी बातें जिसको नहीं विदित॥

मूर्ख-नीच-म्लेच्छ-आदि शास्त्र रिक्तगण।
धनसञ्चयी, निर्ग्रन्थ, आर जे निर्धन ॥१४॥

या नीच-मूर्ख-मलेच्छादिकगण, जिनका न शास्त्रसे है परिचय।
वाचक "निर्ग्रन्थ" अकिञ्चनका भी, करता या जो धन-सञ्चय॥

अब 'निर्ग्रन्थ' शब्दका अर्थ दो पयारोंमें करते हैं। निर् (नहीं है) ग्रन्थ (ग्रन्थि, अविद्या-ग्रन्थि, माया-बन्धन) जिनको, वे हैं निर्ग्रन्थ; निर्ग्रन्थ शब्दका इस प्रकारका एक अर्थ हो सकता है।

अविद्याग्रन्थिहीन—अविद्या (माया)की ग्रन्थि (बन्धन) हीन; मायाबन्धन शून्य। **'निर्ग्रन्था'** शब्दसे अविद्या ग्रन्थि शून्य व विधि-निषेध-मूलक शास्त्र-ज्ञान-शून्य व्यक्ति समझा जाता है। अर्थात् जिनको मायाका बन्धन नहीं है, या शास्त्र ज्ञान न होनेसे शास्त्रीय विधि-निषेधका पालन जो नहीं करते, वे निर्ग्रन्था हैं। शास्त्र-ज्ञान शून्य होनेसे मूर्ख, नीच, म्लेच्छ आदि निर्ग्रन्थ कहे जाते हैं। **शास्त्ररिक्त**—शास्त्र-शून्य, शास्त्र-ज्ञान शून्य। **धनसञ्चयी**—

निर्ग्रन्थ पदसे धनसञ्चयीको (जो धन-सञ्चय करता है उसको) भी समझा जाता है। और निर्धन (धनहीन, दरिद्र) भी समझा जाता है।

'निर्' शब्दसे 'निश्चय' एवं 'नहीं' दोनों ही समझे जाते हैं। और 'ग्रन्थ' शब्दसे 'शास्त्र' एवं 'धन' दोनों ही समझे जाते हैं। इसीसे निर् (नहीं है) ग्रन्थ (शास्त्र या शास्त्रज्ञान) जिनको, वे निर्ग्रन्थ—मूर्ख, म्लेच्छ आदि। और निर् (नहीं है) ग्रन्थ (धन) जिनके, वे निर्धन एवं निर् शब्दके निश्चयार्थमें, निर् (निश्चित है) ग्रन्थ (धन) जिनके, वे निर्ग्रन्थ—धनसञ्चयी।

इस प्रकारके अर्थके प्रमाणमें नीचे दो श्लोक उद्धृत हुये हैं।

तथाहि विश्वप्रकाशे—

निर्निश्चये निष्क्रमार्थे निर्निर्माणनिषेधयोः ॥४॥

अन्वय—सरल है। अनुवाद—निश्चय, निष्क्रम, निर्माण एवं निषेध—इन कई अर्थोंमें **निर्** (निः) शब्दका प्रयोग होता है।

ग्रन्थो धनेऽथ सन्दर्भे वर्ण संग्रधनेऽपि च ॥५॥

अन्वय सरल है। अनुवाद—धन, सन्दर्भ (गूढार्थ-प्रकाशक, सारोक्ति-सम्पन्न वचनादि ; शास्त्र) एवं वर्ण-विन्यास—इन कई अर्थोंमें 'ग्रन्थ' शब्दका प्रयोग होता है।

'निर्' शब्दसे 'निश्चय' एवं 'नहि (प्रमाण श्लोकका 'निषेध')'अर्थ समझानेके लिये और 'ग्रन्थ' शब्दसे 'शास्त्र' एवं 'धन' अर्थ समझानेके लिये प्रमाणमें उक्त दो श्लोक हैं।

'उरुक्रम'का अर्थ

'উরুক্রম'-শব্দে কহে—বড় জার ক্রম।
'ক্রম'-শব্দে কহে—পাদ বিক্ষেপণ ॥১৫॥

जिसका होता है क्रम विशाल, है उसे कहा जाता 'उरुक्रम'।
अब 'क्रम'के अर्थ बताता हूँ, पाद-क्षेपण है अर्थ प्रथम ॥

शक्ति, कम्प, परिपाटि, युक्ति, शक्त्ये आक्रमण।
चरण - चालने काँपाइल त्रिभुवन ॥१६॥

आक्रमण शक्तिके सहित, शक्ति, परिपाटी, युक्ति तथा कम्पन ।
इन सबमें श्रेष्ठ वही 'उरुक्रम', डग भर ज्यों कँपा दिया त्रिभुवन ।।

'उरु' का अर्थ—बड़ा, वृहत्, श्रेष्ठ। और **'क्रम'**, शब्दका अर्थ—पाद-विक्षेपण, शक्ति, कम्प, परिपाटी, युक्ति एवं शक्ति द्वारा आक्रमण। तब **'उरुक्रम'** शब्दका अर्थ हुआ—उरु (वृहत् या बड़ा है) जिनका क्रम (पाद-विक्षेपणादि) अर्थात् पाद-विक्षेपमें, शक्तिमें, परिपाटीमें एवं युक्ति आदिमें जो सर्वापेक्षा वृहत्—सर्वश्रेष्ठ हैं वे हैं उरुक्रम। उरुक्रम शब्दका तात्पर्य हुआ 'व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण'। अगला श्लोक भी १७-१८ वें पयार द्वारा समझा जायगा।

'शक्ति, कम्प' इत्यादि आधे पयारकी जगह—शक्ति, कम्पयुक्त, परिपाटी आक्रमण —पाठान्तर मिलता है।

'चरण-चालने' इत्यादि आधे पयारमें पाद-विक्षेप विषयमें उरुक्रमका श्रेष्ठत्व दिखाते हैं। **चरण-चालने**—पाद-विक्षेप द्वारा। **काँपाइल त्रिभुवन**—स्वर्ग, मर्त्य, पाताल—इन त्रिभुवनोंको कम्पित कर दिया था।

श्रीविष्णुने अपने पाद-विक्षेप द्वारा त्रिभुवनको कम्पित कर दिया था, उसके प्रमाणस्वरूप निम्न श्लोक उद्धृत हुआ है।

तथाहि श्रीमद्भागवते (२।७।४०)

विष्णोर्नु वीर्यगणनां कतमोऽर्हतीह
यः पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजांसि ।
चस्कम्भ यः स्वरंहसास्खलतात्रिपृष्टं
यस्मात् त्रिसाम्यसदनादुरु कम्पयानम् ॥६॥

संस्कृतटीका—इदं मया संक्षेपेणोक्तं विस्तारेण वक्तुं न कोऽपि समर्थ इत्याह विष्णोरिति । पृथिव्याः परमाणुनपि यो विममे धिगणितवान्

तादृशोऽपि को नु विष्णोर्वीर्यगणनां कर्तुमर्हति। कथम्भूतस्य? यो विष्णुः त्रिपृष्टं सत्यलोकं चस्कम्भ धृतवान् तस्य। किमिति चस्कम्भ? यस्मात् त्रैविक्रमे अस्खलता प्रतिघातशून्येन स्वरहसा स्वपादवेगेन त्रिसाम्यरूपं सदनमधिष्ठानं प्रधानं तस्मादारभ्य उरु अधिकं कम्पयानं कम्पमानम्। कम्पेन यानं यस्येति वा। अतः कारणाच्चस्कम्भ। आत्रिपृष्टमिति वा छेदः। सत्यलोकमभिव्याप्य यः सर्वं धृतवानित्यर्थः। तथा च मन्त्रः— विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि। योऽस्कम्भय-दुत्तरं सधस्थं विचंक्रमाणस्त्रेधोरुगाय त्वा विष्णवे इति; अस्यार्थः— विष्णोर्नु वीर्याणि कं प्रवोचं, कः प्रावोचदित्यर्थः। यः पार्थिवानि रजांस्यपि विममे सोऽपि। यो विष्णुस्त्रेधा विचंक्रमाण विक्रमं त्रि कुर्वन् उत्तरं लोकम् अस्कम्भयत् अवष्टब्धवान्। कथम्भूतं? सधस्थं। सहस्य सधादेशः। निष्ठन्तीति स्थाः। तत्रस्थैर्देवैः सह वर्तमानमिति ॥स्वामी॥

अन्वय—**यः कविः** (जो निपुण व्यक्ति) **पार्थिवानि रजांसि अपि** (पृथिवीके परमाणुओंको) **विक्रमे** (विशेष रूपसे—एक-एक करके—गणना करनेमें समर्थ हुए थे), **[तादृशः]** (तादृश) **कतमः नु** (कोई भी व्यक्ति क्या) **विष्णोः** (विष्णुकी) **वीर्यगणनां अर्हति** (वीर्य-गणनामें समर्थ हो सकता है)? **यः** (जो विष्णु) **अस्खलता** (स्खलनहीन—वाधाहीन) **स्वरहसा** (अपने वेगद्वारा) **त्रिपृष्टं** (सत्यलोकको) **चस्कम्भ** (धारण किये थे)—**यस्मात्** (जिसके कारण—जिस वेगवश) **त्रिसाम्यसदनात्** (त्रिगुणकी साम्यावस्था रूप प्रकृतिसे लेकर सत्यलोक पर्यन्त) **उरुकम्पयानं** (अत्यधिक रूपसे कम्पायमान हुए थे)।

अनुवाद—नारदके प्रति ब्रह्मा कहते हैं—जिनके (पाद-विक्षेपके) वेगसे त्रिगुणके साम्यावस्थारूप प्रकृतिसे लेकर सत्यलोक पर्यन्त अत्यधिक रूपसे कम्पित हुए थे एवं स्खलनरहित अपने पाद-विक्षेप द्वारा जिन्होंने तादृश रूपसे कम्पायमान सत्यलोकको धारण (स्थिर) किया था—जिन निपुण व्यक्तिने पृथिवीके परमाणुओंकी भी विशेष रूपसे (अर्थात् एक-एक करके) गणना की थी (अर्थात् गणना करनेमें समर्थ), उनके सदृश कोई भी व्यक्ति क्या उन विष्णुकी वीर्यगणनामें समर्थ है? (अर्थात् ऐसा व्यक्ति भी विष्णुके वीर्य निर्द्धारण करनेमें समर्थ नहीं)।

यह श्लोक निम्नलिखित ऋक् मन्त्रकी ही प्रतिध्वनि मात्र है :—

**"विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः त्वा विष्णवे इति॥"**

ऋग्वेद (१।१५४।१)

इस श्लोकमें विष्णुके त्रिविक्रम रूपका उल्लेख किया गया है। दैत्यराज बलि जब कुरुक्षेत्रमें अश्वमेध यज्ञमें प्रवृत्त हुए थे, तब श्रीवामनरूपी विष्णुने यज्ञस्थलमें उपस्थित होकर अपने देह परिमाणसे त्रिपाद भूमि बलि महाराजसे दानमें चाही थी। बलि महाराजने उससे सहमत होकर भूमि दान करनेके उद्देश्यसे अपने कमण्डलुसे जल लेकर जब वामनदेवके हाथमें दिया, उसी क्षण वामन-देवने दिव्य त्रिविक्रम रूप धारण कर लिया और पद (चरण) में भूमि, जंघामें नभोमण्डल, जानुयुग्ममें (दोनों घुटनोंमें) सत्य और तपोलोक, उरुमें मेरु और मन्दर, कटि देशमें विश्वदेवगण, वस्ति व मस्तक देशमें मरुद्गण, लिङ्ग देशमें मन्मथ, वृषणमें प्रजापति, कुक्षिभागमें सप्तसागर, जठरमें सब भुवन, त्रिवल्लीमें सब नदियाँ, जठरके भीतर यज्ञ व ईष्टपूर्ति आदि सब क्रियायें व मन्त्र, पृष्ट देशमें वसुवर्ग, स्कन्धमें रुद्रगण, बाहुओंमें सब दिशाएँ, करनिकरमें अष्ट बसु, हृदयमें ब्रह्मा, हृदयकी अस्थिमें वज्र, उरुमध्यमें स्त्री सहस्र, मनमें चन्द्रमा, ग्रीवा देशमें देव-माता अदिति, वलय (कङ्कण) में विविध विद्या, मुखमण्डलमें अग्निसहित ब्राह्मणगण, अधरोष्ठमें सब संस्कार व धर्म-काम-अर्थ-मोक्षसहित सब शास्त्र, ललाटमें लक्ष्मी, श्रवण-युगलमें (दोनों कानोंमें) दोनों अश्विनी कुमार, निश्वासमें मातरिश्वा, सब सन्धियोंमें सब मरुत्, दशन पंक्तिमें सब सूक्त, जिह्वामें सरस्वती देवी, नयनोंमें चन्द्र व सूर्य, पक्ष्मश्रेणीमें (पलकोमें) कृत्तिकादि नक्षत्र समूह, भ्रूमध्यमें विशाखा नक्षत्र, रोम कूपमें तारिका समूह एवं रोम समूहमें सब महर्षि विराज करने लगे। इस प्रकार भगवान् विष्णुने एक ही पादक्रमसे चराचर समेत सब जगत्को व्याप्त कर लिया। द्वितीय पाद क्रमके समय उस बिराट देहके दक्षिण ओर चन्द्र एवं बाम भागमें सूर्य विराजने लगे। इसके उपरान्त तृतीय पादक्रमके समय आधे पादक्रममें ही स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक व तपोलोकको आक्रमण करके दूसरे आधे पादक्रम द्वारा अम्बर देशको सम्पूरित कर डाला अर्थात् उनको ढक लिया,

उनपर छा गये। अनन्तर विष्णु वर्द्धित होकर ब्रह्माण्डोदरको आहत कर निरालोक स्थानमें गये। अनन्तर अम्बरमें विश्वव्यापी अङ्घ्रिदेश (चरण) प्रसारित करनेसे उससे अण्डकटाह विदीर्ण हो गया। तो भी उनका तीसरा पादक्रम सम्पूर्ण नहीं हुआ। (वामन पुराण, ६२ अध्याय)। ऐसे त्रिविक्रम रूपसे पादविक्षेपके समय त्रिगुणकी साम्यावस्थारूपा प्रकृतिसे लेकर सत्यलोक पर्यन्त प्रकम्पित हो उठे। इस प्रकार कम्पायमान सत्यलोकको भी उन्होंने अपने पादविक्षेप द्वारा फिर स्थिर कर दिया था। सत्यलोकादिके प्रकम्पनसे उनका पादक्षेप किञ्चित मात्र भी विचलित व प्रतिहत नहीं हुआ। इसीसे कहा गया है— **अस्खलता स्वरहसा**—अप्रतिहत (पादक्षेप) के वेग द्वारा उन्होंने अत्यधिक रूपसे कम्पायमान सत्यलोकको स्थिर किया था। इस प्रकारका अचिन्त्यनीय प्रभाव है जिनका—जिन्होंने पलक-भरमें वामन रूपको उल्लिखित त्रिविक्रम रूपमें प्रकट कर लिया, जिन्होंने दो या अढ़ाई पादविक्षेप द्वारा ही समस्त ब्रह्माण्डको आच्छादित कर लिया, तृतीय पादविक्षेप सम्पूर्ण होनेके लिये समस्त ब्रह्माण्डमें कोई स्थान न बचा, उन विष्णुकी महिमा वर्णनमें कौन समर्थ हो सकता है? इसीलिये संक्षेपमें श्रीहरिकी विभूतिकी कथा वर्णन करके ब्रह्मा नारदजीसे बोले— "श्रीहरिकी महिमा विस्तृत रूपसे वर्णन करनेकी शक्ति किसीमें नहीं है—यहाँ-तक कि जो पृथिवीके परमाणु समूहकी भी संख्या निर्णय करनेमें समर्थ हैं वे भी विष्णुके वीर्य-निर्णयमें असमर्थ हैं।"

"चरणचालने काँपाइल त्रिभुवन"—इस पूर्ववर्ती पयार्द्धके प्रमाणमें यह श्लोक है।

विभुरूपे व्यापे शक्त्ये धारण पोषण।
माधुर्य्यशक्त्ये गोलोक—ऐश्वर्य्ये परव्योम॥

विभुतासे छा सर्वत्र, शक्तिसे रहे पाल, हैं रहे थाम।
ऐश्वर्य-शक्तिमय परम-व्योम, माधुर्य-भरित गोलोक धाम॥१७॥

अब 'क्रम' शब्दका अन्य रूप अर्थ करते हैं।

विभुरूपे—सर्वव्यापक रूपसे। व्यापकता-शक्ति द्वारा श्रीविष्णु अनन्त कोटि प्राकृत ब्रह्माण्ड एवं अप्राकृत धाम समूहको अकेले ही एक साथ व्याप्त करके रहते हैं; यह व्यापकता-शक्ति और किसीमें देखनेमें नहीं आती। अतः इस शक्तिमें (क्रममें) सर्वश्रेष्ठ (उरु) होनेसे वे हुए 'उरुक्रम'।

शक्त्ये—शक्ति द्वारा। शक्ति तीन प्रकारकी है—माधुर्य शक्ति, ऐश्वर्य शक्ति एवं माया शक्ति।

शक्त्ये धारण पोषण इत्यादि—माधुर्य शक्ति द्वारा गोलोक (वृन्दावन) एवं ऐश्वर्य शक्ति द्वारा परव्योमको धारण करते हैं एवं उसकी रक्षा करते हैं। इस पयारमें 'क्रम' शब्दका शक्ति-अर्थ-व्यापक उदाहरण दिया है।

गोलोक—गो समूहका लोक या धाम; यहाँ गोप-गोपी आदि भी सूचित होते हैं।

माया शक्त्ये ब्रह्माण्डादि परिपाटीते सृजन।
'उरुक्रम'-शब्देर एइ अर्थ निरूपण ॥१८॥

माया-चालित ब्रह्माण्डादिक, परिपाटी सर्जनकी अद्भुत।
इस भाँति निरूपित किया यहाँ 'उरुक्रम' कितने अर्थोंसे युत॥

इस पयारके प्रथम अर्द्धभागमें माया शक्तिका श्रेष्ठत्व और परिपाटीका दिग्दर्शन कराते हैं।

माया शक्तिके द्वारा जिन्होंने प्राकृत ब्रह्माण्डों एवं ब्रह्माण्डान्तर्गत जीवोंका अत्यन्त परिपाटीके साथ सृजन किया है एवं जिनकी इस माया शक्तिके समान शक्ति और किसीमें नहीं हैं; सृष्टि कार्यमें जिस प्रकारकी परिपाटीका प्रदर्शन हुआ है, जिनकी इस प्रकारकी परिपाटीके समान परिपाटी भी अन्यत्र देखनेको नहीं मिलती; इसीलिये इनकी माया-शक्ति एवं परिपाटी सर्वश्रेष्ठ (उरु) है अतः वे ही उरुक्रम (श्रीकृष्ण) हैं।

उरुक्रम—उरु (अत्यधिक, सर्वापेक्षा विशेष) क्रम (पादक्षेप, अथवा शक्ति अथवा परिपाटी) है जिनकी, वे उरुक्रम; श्रीविष्णु।

'क्रम' शब्दके जो उक्त रूप विभिन्न अर्थ हो सकते हैं, निम्न श्लोकमें उनका प्रमाण देते हैं।

तथाहि विश्वप्रकाशे—

क्रमः शक्तौ परिपाट्यां क्रमश्चालनकम्पयोः ॥७॥

अन्वय सरल है। **अनुवाद**—शक्ति, परिपाटी, चालन और कम्प—इन कई अर्थोंमें 'क्रम' शब्दका प्रयोग होता है।

चालन—पाद-चालन ; पादक्षेप। पूर्ववर्ती १७-१८ पयारोंके शक्ति अर्थमें, १८वें पयारमें परिपाटी (सृष्टिकार्यके परिपाटी) अर्थमें छठे श्लोकमें पादक्षेप या चालन अर्थमें एवं कम्प अर्थमें (प्रकृतिसे लेकर सत्यलोक पर्यन्त कम्पनमें) 'क्रम' शब्दका तात्पर्य प्रदर्शित हुआ है।

'कुर्वन्ति'का अर्थ

'कुर्व्वन्ति' पद एइ परस्मैपद हय।
'कृष्णसुखनिमित्त भजने तात्पर्य्य' कहय ॥१९

'कुर्वन्ति' शब्द जो आया है, है रूप परस्मैपदका यह।
हो भक्ति कृष्ण-सुखके निमित्त—यह भाव प्रयोग रहा यह कह ॥

अब श्लोकस्थ **'कुर्वन्ति'** शब्दका अर्थ करते हैं। **'कृ'** धातुके अन्तमें वर्तमान काल वाचक बहुवचनसूचक **'अन्ति'** जोड़ देनेसे **'कुर्वन्ति'** पद बनता है। **'कुर्वन्ति'** एक क्रिया पद है। इसका अर्थ 'करते हैं' होता है। **परस्मैपद**—परस्मैपद और आत्मनेपद, इन दो भावोंमें धातु रूप साधित (व्यवहृत) होता है। **'कृ'** धातुके अन्तमें परस्मैपदका **'अन्ति'** प्रत्यय जोड़ देनेसे **'कुर्वन्ति'** पद बनता है। **'कृ'** धातु उभयपदी है, इसके अन्तमें आत्मनेपदी प्रत्यय **'अन्ते'** जोड़ देनेसे **'कुर्वते'** पद बनता है। **'कुर्वन्ति'** और **'कुर्वते'** दोनों ही शब्दोंका अर्थ 'करते हैं' होता है। किंतु दोनोंके तात्पर्यमें पार्थक्य है। कार्यका फल कर्त्ता यदि स्वयं

भोग करता है तो 'कृ' धातुके अन्तमें आत्मनेपदी (प्रत्यय) प्रयुक्त होगा ; और कार्यका फल यदि दूसरा भोग करता है तो परस्मैपदी (प्रत्यय) लगता है। यहाँ पर 'कुर्वन्ति' पद परस्मैपदीसे बना है। अतः कार्यका फल कर्त्ताके अपने लिये अभिप्रेत नहीं है। कार्य है 'भक्ति'—कर्त्ता है 'आत्मारामाः'—'आत्मारामाः भक्ति कुर्वन्ति।' अतः यह भक्ति केवल मात्र कृष्ण-सुखके निमित्त अभिप्रेत है ; भक्तके अपने सुखके लिये नहीं। यही तात्पर्य है।

क्रियाका फल कर्त्ताके अपने भोगके लिये न होनेसे जो परस्मैपदी प्रत्यय प्रयोग होता है निम्न श्लोक द्वारा उसका प्रमाण देते हैं।

तथाहि पाणिनि (१।३७।२)—

सिद्धान्तकौमुद्यां भ्वादि प्रकरणे,—

स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रिया फले ॥८॥

अन्वय सरल है। अनुवाद—स्वरित (यजादि धातु एवं ञ-इत् जिसकी इस रूप (कृ-प्रभृति)-धातु, आत्मनेपद व परस्मैपद इन दोनों पदोमें व्यवहृत होती है। उस क्रियाका फल जब कर्त्ताके अपने भोगके लिये होता हैं तब वह धातु आत्मनेपदी होती हैं, और जब कर्त्तासे भिन्न और किसीके लिये अभिप्रेत होता है तब वह परस्मैपदी होती है।

स्वरित एवं ञित्—व्याकरणके ये दो पारिभाषिक शब्द हैं। यज् प्रभृति धातुओंको स्वरित धातु एवं कृ प्रभृति धातुओंको ञित् धातु कहते हैं। ये दोनों प्रकारकी धातुएँ दोनों पदोंमें व्यवहृत होती हैं। यज् धातुका अर्थ यजन ; कृ धातुका अर्थ करना। यज् धातु और कृ धातुका आत्मनेपदीमें वर्त्तमानकालमें तृतीय पुरुषका एक वचन रूप होगा, जैसे—'यजते' व 'कुरुते'। 'रामः देवं यजते पाकं च कुरुते'—इस वाक्यकी दोनों क्रियाओंका आत्मनेपदी प्रयोग हुआ है ; वाक्यका अर्थ इस प्रकार है—'राम देवताका यजन करता है और पाक करता है' ; आत्मनेपदी क्रियाका तात्पर्य यही है—देवता यजनका फल राम स्वयं पाना चाहता है और पाक भी करता है अपने खानेके निमित्त। उक्त दोनों धातुओंका परस्मैपदी रूप होगा—'यजति' एवं 'करोति'। किंतु परस्मैपदी क्रियाका

तात्पर्य यह है—यजनका फल राम स्वयं नहीं चाहता, देवताकी प्रीतिके लिये ही यजन है और पाक भी करता है—रामके अपने लिये नहीं, दूसरोंके लिये।

'हेतु' का अर्थ

'हेतु'-शब्दे कहे—भुक्ति आदि वाञ्छान्तरे।
भुक्ति, सिद्धि, मुक्ति—मुख्य ए तिन प्रकारे॥

भोगादि अपर इच्छाओंको लो 'हेतु' शब्दका अर्थ जान।
हैं भुक्ति, सिद्धि, अपवर्ग तथा ये तीन भेद इनके प्रधान॥२०॥

अब 'अहैतुकी' शब्दका अर्थ करते हैं। हेतु नहीं है जिसका (जिस भक्तिका), वह हुई अहैतुकी। अतः 'अहैतुकी' शब्दका अर्थ समझनेके लिये पहिले 'हेतु' शब्दका अर्थ जानना जरूरी है। इसीलिये इस पयारमें 'हेतु' शब्दका अर्थ कहते हैं।

हेतु—प्रवर्त्तक कारण ; जिस उद्देश्यसे कोई कार्य किया जाय वही उस कार्यका हेतु होता है। स्वर्ग प्राप्तिके उद्देश्यसे भजन किया जाय तो इस भजनका हेतु हुआ स्वर्गप्राप्ति। जो हेतुको मूलमें रखकर भजन करते हैं उनके भजनके मुख्य उद्देश्य साधारणतः तीन होते हैं—भुक्ति, सिद्धि एवं मुक्ति। इन तीन हेतुओंका तात्पर्य परवर्ती पयारमें बताया है। **भुक्ति आदि**—भुक्ति, सिद्धि, मुक्ति प्रभृति। **वाञ्छान्तरे**—अन्य वासना ; श्रीकृष्ण-प्रीतिके अतिरिक्त अन्य वासना। **मुख्य ए तिन प्रकार**—श्रीकृष्ण-प्रीतिके अतिरिक्त अन्य सब वासनाओंके वशवर्ती होकर लोग साधन करते हैं उनमें भुक्ति, सिद्धि एवं मुक्ति—ये तीन वासनाएँ मुख्य होती हैं।

सिद्धियोंका तथा मुक्तियोंका वर्णन

एक 'भुक्ति' कहे—भोग अनन्त प्रकार।
'सिद्धि अष्टादश', 'मुक्ति' पञ्च परकार॥२१॥

है 'भुक्ति' शब्दका अर्थ भोग, जो है अनेक संख्या-शाली।
अष्टादश हैं सिद्धियाँ, तथा है मुक्ति पाँच भेदों वाली॥

भुक्ति, सिद्धि और मुक्तिका तात्पर्य बताते हैं। भुक्ति—भोग ; अपने लिये भोग ; अपना स्वार्थ भोग, विषय-सम्पत्ति-सुख-स्वच्छन्दतादि इह कालके भोग एवं स्वर्ग सुखादि परकालके भोग।

सिद्धि अष्टादश—सिद्धि अठारह प्रकारकी होती है ; (१) अणिमा, (२) महिमा ; (३) लघिमा ; (४) प्राप्ति ; (५) प्रकाम्य ; (६) ईशिता ; (७) वशिता ; (८) कामावशायिता ; (९) क्षुत्-पिपासादि-राहित्य ; (१०) दूरश्रवण ; (११) दूरदर्शन ; (१२) मनोजव ; (१३) कामरूपता ; (१४) परकाय-प्रवेश ; (१५) इच्छामृत्यु ; (१६) देव-क्रीड़ा-प्राप्ति ; (१७) सङ्कल्पानुरूप-सिद्धि ; एवं (१८) अप्रतिहताज्ञा। पहिली आठ भगवत्-आश्रित हैं और बादकी दस सत्त्वगुणका कार्य है। अणिमा, लघिमा व महिमा—ये तीन देहकी सिद्धियाँ हैं।

(१) 'अणिमा'से देहको अणुके समान इतना क्षुद्र (छोटा) किया जा सकता है जिससे शिलाके मध्य भी प्रवेश किया जा सकता है।

(२) 'महिमा'से देहको पर्वतके तुल्य वृहत्-काय (बड़ा) बनाया जा सकता है।

(३) 'लघिमा'से देह इतना हलका हो जाता है कि सूर्यकी रस्मि पकड़कर ऊपर उठा जा सकता है।

(४) 'प्राप्ति'से सब प्राणियोंकी इन्द्रियवर्गके साथ इन्द्रियाधिष्ठात्री देवता रूपसे सम्बन्ध उत्पन्न हो जाता है, जिसके फलस्वरूप इन्द्रियोंका जब जैसी इच्छा हो चालन किया जा सकता है ; प्राप्ति-सिद्धिसे अंगुली द्वारा चन्द्रका स्पर्श किया जा सकता है।

(५) 'प्रकाम्य' द्वारा श्रुत, दृष्ट एवं दर्शन योग्य विषयोंके भोग और दर्शनकी सामर्थ्य उत्पन्न होती है।

(६) 'ईशिता'से अन्य जीवमें अपनी शक्तिका सञ्चार किया जा सकता है।

(७) 'वशिता'से भोगोंमें सङ्ग-हीनता पैदा होती है।

(८) 'कामावशायिता'से जो-जो इच्छा की जाय वही सब कुछ चरम सीमा-तक किया जा सकता है, जैसे दग्ध बीजसे अङ्कुरोत्पादन।

(१२) 'मनोजव'से मनके समान द्रुत गतिसे देहका चालन किया जा सकता है।

(१३) 'कामरूपता'से इच्छानुसार रूप धारण किया जा सकता है।

(१४) 'परकाय-प्रवेश' द्वारा दूसरेके शरीरमें अपने सूक्ष्म देहको प्रवेश कराया जा सकता है।

(१६) 'देवक्रीड़ा प्राप्ति'से देवताओंकी तरह अप्सरादिकके साथ क्रीड़ा की जा सकती है।

(१७) 'सङ्कल्पानुरूप सिद्धि'द्वारा सङ्कल्पित विषय प्राप्त हो जाता है।

(१८) 'अप्रतिहताज्ञा' द्वारा आज्ञा व गति सब समय अप्रतिहत रहती है। विशेष विवरण श्रीमद्भागत ११ स्कन्ध, १५ अध्यायमें देखिये।

मुक्ति—सार्ष्टि, सारूप्य, सालोक्य, सामीप्य और सायुज्य। **सार्ष्टि**—उपास्यके समान ऐश्वर्य लाभ करना। **सारूप्य**—उपास्यदेवके समान रूप प्राप्त करना; जैसे नारायणके उपासकके लिये चतुर्भुजत्व प्राप्त करना। **सालोक्य**—उपास्यदेवके साथ एक ही लोक या धाममें वास करना; जैसे शिवके उपासक शिवलोकमें, विष्णुके उपासक विष्णुलोकमें, इत्यादि। **सामीप्य**—उपास्यदेवके निकट पार्षदरूपमें रहना। **सायुज्य**—उपास्यके साथ मिश्रित हो जाना। सायुज्य मुक्ति दो प्रकारकी है—निर्विशेष ब्रह्मके साथ सायुज्य, एवं सविशेष—साकार स्वरूपके साथ सायुज्य। निर्विशेष ब्रह्मके साथ सायुज्य प्राप्त जीव, पूर्वकी भक्ति वासना रहनेसे भक्तिकी कृपासे स्वतन्त्र देह धारण करके श्रीकृष्णका भजन कर सकता है। **"मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते॥"** साकार-स्वरूपमें सायुज्य-प्राप्त जीवके लिये स्वतन्त्र देह धारण करके श्रीकृष्ण-भजन सम्भव नहीं। इसीलिये 'ब्रह्म सायुज्यसे ईश्वर सायुज्यको धिक्कारा गया है। चै० च० म० ६।२४२॥'

प्रथम चार प्रकारकी मुक्ति साधकके अभिप्राय अनुसार दो श्रेणीमें विभक्त हैं—सेवा-शून्या और सेवा-युक्ता। जो केवल सारूप्यादि पाकर सन्तुष्ट होते हैं,

सारूप्यादिके साथ उपास्यकी सेवा नहीं चाहते, उनकी मुक्ति सेवा-शून्या—स्वसुख-वासनामूला होती है। और जो सारूप्यादि मुक्ति भी चाहते हैं और साथ-साथ उपास्यकी सेवा भी चाहते हैं, उनकी मुक्ति सेवा-युक्ता, प्रेम-युक्ता होती है। सेवा-शून्या मुक्तिकी भक्त कामना नहीं करता। **"दीयमानं न गृह्णन्ति बिना मत्सेवनं जनाः॥"** भक्त सायुज्य मुक्तिको नरककी अपेक्षा भी हेय मानते हैं; क्योंकि उससे सेव्य-सेवक भाव नष्ट हो जाता है।

'अहैतुकी-भक्ति' का अर्थ

एइ जाहाँ नाहि, ताहाँ भक्ति अहैतुकी।
जाहा हैते वश हय श्रीकृष्ण कौतुकी॥२२॥

ये नहीं वाञ्छाएँ जिसमें, होती अहैतुकी भक्ति वही।
श्रीकृष्ण कौतुकी होते हैं वशमें, जब जगती भक्ति यही॥

एइ जाहाँ नाइ—भुक्ति, सिद्धि व मुक्ति आदिकी कामना जिस भक्तिकी प्रवर्त्तक नहीं है, वही अहैतुकी भक्ति है। जिस भक्तिकी प्रवर्त्तक भुक्ति-मुक्ति आदि निजकी भोग्य वस्तु नहीं है, परन्तु जिस भक्तिकी प्रवर्त्तक केवल श्रीकृष्ण-सुख-कामना है, वही अहैतुकी भक्ति होती है।

प्रश्न हो सकता है कि भक्तिकी प्रवर्त्तक जो श्रीकृष्ण-सुख-कामना है, वही तो भक्तिका हेतु बन गया, अतः वह अहैतुकी कैसे हुई? उत्तर—अहैतुकी भक्तिमें श्रीकृष्ण-सुख-कामना है यह सत्य है; किंतु यह हेतु-रूप कृष्ण-सुखकामना भी भक्ति ही है—यह भक्तिसे कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है; अतः इस भक्तिका हेतु भी भक्ति ही होनेसे उसको अहैतुकी भक्ति ही कहा गया है। साध्य या प्रवर्त्तक-हेतु जहाँ साधन और भजनसे पृथक होता है वहीं साधन-भक्तिको सहैतुकी कहा जाता है। अहैतुकी भक्तिमें साध्य और साधन एक जातीय हैं। अहैतुकीमें अपने लिये कोई चाहना नहीं होती। इसीलिये कृष्ण-सुख-कामनामूला भक्तिको अहैतुकी कहा जाता है, इसमें अपने सुखके लिये कोई कामना नहीं होती।

जाहा हैते इत्यादि—अहैतुकी भक्तिसे ही स्वयं स्वतन्त्र भगवान् श्रीकृष्ण भक्तके वशीभूत हो जाते हैं। जहाँ कोई भी प्रतिदान नहीं चलता वहीं वश्यता होती है। और जहाँ प्रतिदान चल सकता है वहाँ प्रतिदान दिये जानेपर वश्यता दूर हो जाती है। गीतामें 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इत्यादि श्लोकमें श्रीकृष्णने बताया है—

"आमाके त जे-जे भक्त भजे जेइ भावे।
ताके सेइ भावे भजि ए मोर स्वभावे (चै० च० आ० ४।१८)।।"

अतः जो भुक्ति-मुक्तिकी कामना करके कृष्ण-भजन करते हैं, श्रीकृष्ण भी उनका भजन पूर्ण होनेपर उनको भुक्ति-मुक्ति आदि दिया करते हैं और इस प्रकार भुक्ति-मुक्ति आदि दिये जानेपर श्रीकृष्णके साथ उनका देना-पावना सलट जाता है तभी श्रीकृष्ण उनसे ऋण-मुक्त हो जाते हैं। किंतु जो केवल कृष्णके सुखको चाहते हैं उनके भजनके प्रतिदानमें कृष्ण उनको कुछ भी नहीं दे सकते। वे जो चाहते हैं, उसके अतिरिक्त भोग-सुखादि अन्य कुछ देनेपर भी वे स्वीकार नहीं करते और वे जो चाहते हैं वह दिये जानेपर उसको भी श्रीकृष्ण स्वयं ही पाते हैं, स्वतन्त्र रूपसे वे कुछ नहीं पाते। कारण, वे चाहते हैं कृष्ण-सेवा; इसको कृष्ण यदि देवें तो वह सेवा भी कृष्ण स्वयं ही पायेंगे। इससे उनके भजनका प्रतिदान तो बनता ही नहीं, वरन् उनकी सेवा ग्रहण करके उनके निकट कृष्णकी वश्यताके हेतुमें वृद्धि ही होती है। इसीलिये कहा गया है कि श्रीकृष्ण सदा ही भक्तके वशीभूत होकर रहते हैं।

कौतुकी—श्रीकृष्णको कौतुकी कहनेका तात्पर्य क्या? उत्तर—श्रीकृष्ण हैं असमोर्द्ध-शक्ति-सम्पन्न, स्वतन्त्र, भगवान्; वे स्वयं वश्यता स्वीकार न करें तो कोई भी उनको वशीभूत नहीं कर सकता। तत्त्वतः भक्तकी शक्ति कृष्णकी शक्तिकी अपेक्षा बड़ी नहीं है। फिर वे इच्छा करके भक्तके निकट वश्यता क्यों स्वीकार कर लेते हैं? इसके उत्तरमें ही कहा गया है—श्रीकृष्ण कौतुकी; कौतुक करके वे भक्तके निकट वश्यता स्वीकार करते हैं। वे सच्चिदानन्द विग्रह हैं; वे आनन्द-स्वरूप हैं, आनन्दं ब्रह्म। उनके आनन्दकी अधिष्ठात्री शक्ति ही ह्लादिनी है। यह ह्लादिनी शक्ति भी उन्हींकी है। इस शक्ति द्वारा वे सबको

आनन्दित करते हैं एवं स्वयं भी आनन्दास्वादन करते हैं। 'सुखरूप कृष्ण करे सुख आस्वादन' ; स्वयं आनन्द-रूप होते हुए भी आनन्द आस्वादनके लिये उनकी स्पृहा है, यही उनका कौतुक है--यह उनकी लीला है। भगवान्का आनन्द दो प्रकारका है—स्वरूपानन्द एवं स्वरूप-शक्त्यानन्द। स्वरूप-शक्त्यानन्द भी दो प्रकारका है--मानसानन्द एवं ऐश्वर्यानन्द। ऐश्वर्यानन्द एवं मानसानन्दमें मानसानन्द ही श्रेष्ठ है।

भगवान्के आनन्दस्वरूप होनेके कारण शक्तिकी विशेष क्रियाके बिना भी उनका एक आनन्द होता है—जैसे निर्विशेष-ब्रह्म-स्वरूप ; इसमें शक्तिकी विशेष क्रिया नहीं है, शक्तिकी विशेष अभिव्यक्ति भी नहीं है। अतः शक्तिकी विशेष अभिव्यक्तिजनित जो आनन्द है, वह निर्विशेष ब्रह्मस्वरूपको नहीं है ; तो भी यह ब्रह्मस्वरूपतः आनन्द होनेके कारण उसमें एक आनन्द है, यही ब्रह्मका स्वरूपानन्द है। ह्लादिनी-शक्ति ही आनन्दकी अधिष्ठात्री शक्ति है। इसलिये जिस जगह ह्लादिनीको जितना अधिक वैचित्री धारण करनेका सुयोग या अवकाश मिलता है उस जगह आनन्दमें भी उतनी ही अधिक वैचित्री दिखाई देती है। ह्लादिनी भगवान्की स्वरूप-शक्ति होनेसे, उसके वैचित्रीजनित आनन्दको स्वरूप-शक्त्यानन्द कहा जाता है। परव्योमादि भगवद्धामके ऐश्वर्यादि भी स्वरूप-शक्तिके वृत्तिविशेष हैं। आदि लीलाके चतुर्थ परिच्छेदके ५५वें पयारकी टीकामें बताया गया है कि ह्लादिनी, सन्धिनी व सम्वित—स्वरूप-शक्ति या चिच्छक्तिकी इन तीन वृत्तियोंमें-से किसी एकको दूसरी दो-से विच्छिन्न (अलग) नहीं किया जा सकता--तीनों ही न्यूनाधिक रूपमें एकत्र वर्तमान रहती हैं। अतः स्वरूप-शक्ति जब ऐश्वर्यरूपमें वैचित्री धारण करती है, तब ह्लादिनी भी उस बीच कुछ-कुछ वैचित्री धारण करके रहती है ; ऐश्वर्यके साथ मिश्रित ह्लादिनी-शक्तिकी जो यह वैचित्री है वही ऐश्वर्यानन्द है। किंतु वैकुण्ठादिमें ऐश्वर्यकी ही प्रधानता होती है इसलिये ह्लादिनी ऐश्वर्य-शक्ति द्वारा प्रतिहत-सी होकर रहती है—ऐसा लगता है एवं प्रतिहत होनेके कारण ही ह्लादिनी तत्तत् धाममें यथासम्भव वैचित्रीका आतिशय्य धारण नहीं कर सकती।

तत्त्वकी बात इस प्रकार है। स्वरूपतः सर्वत्र ही ऐश्वर्य-शक्तिसे ह्लादिनी-

शक्तिका और ऐश्वर्यसे ह्लादिनी-जात-माधुर्यका प्राधान्य है, वैकुण्ठादि ऐश्वर्य-प्रधान धामोंमें भी ऐश्वर्यका जो समधिक विकास है और माधुर्य (या ह्लादिनी) का विकास कम है, उससे लगता है मानो ऐश्वर्य द्वारा माधुर्यका विकास प्रतिहत हुआ है। लीलारस-वैचित्री सम्पादनके लिये ही माधुर्य (या ह्लादिनी) का विकास कम है ; ऐश्वर्यके प्रभावसे माधुर्य विकसित नहीं हो सकता हो— ऐसी बात नहीं है ; यदि ऐसा ही होता, तो व्रजमें ऐश्वर्यका पूर्णतम विकास रहनेपर भी माधुर्यका पूर्णतम विकास सम्भव नहीं होता। द्वारकादि धाममें ऐश्वर्यके विकाससे माधुर्यका जो संकोच दीखता है—उसका तात्पर्य यह है कि माधुर्य स्वयं ही मानो कुछ दूर हटकर ऐश्वर्यात्मिक लीलाकी अभिव्यक्तिके उद्देश्यसे ऐश्वर्यको अपना प्रभाव विस्तार करनेका सुयोग देता है। ऐश्वर्यके प्रभावको सम्वरण करनेमें असमर्थ होकर माधुर्य दूर भाग जाता हो—ऐसी बात नहीं है। कंस-वधके उपरान्त श्रीकृष्णद्वारा देवकी-वसुदेवकी चरण-वन्दना करने पर श्रीकृष्णके प्रति ईश्वर बुद्धिसे उनको भय हुआ था। कंस-कारागारमें जो चतुर्भुज रूपसे आविर्भूत हुए थे—ये कृष्ण वे ही हैं, और दूसरे कोई नहीं एवं कंस-कारागारमें जन्म-लीला प्रकट करनेके बाद देवकी-वसुदेवने और देवकीके गर्भस्थित अवस्थामें ब्रह्मादि देवतागणने कंसके भयसे सबका उद्धार करनेकी प्रार्थना की थी और कंसको मारकर जिन्होंने उस प्रार्थनाको पूर्ण किया है—यह जतानेके लिये देवकी-वसुदेवके माधुर्यात्मक वात्सल्य भावने स्वयं ही कुछ अन्तरालमें जाकर श्रीकृष्णके ऐश्वर्य-ज्ञानको उनके चित्तमें उदित होनेके लिये सुयोग दिया। वात्सल्य भाव स्वयं ही अपने आपको प्रच्छन्न नहीं करता तो उसको अपसारित करके ऐश्वर्य स्वयं अपने आपको प्रकट नहीं कर सकता था ; क्योंकि ऐश्वर्यकी अपेक्षा माधुर्यका प्रभाव अधिक है। यहाँ भी इसका प्रमाण यही है कि बादमें वात्सल्यने ही श्रीकृष्णके प्रति देवकी-वसुदेवकी ईश्वर-बुद्धिको अपसारित करके स्वयं उनके चित्तपर अधिकार कर लिया था। इस प्रकार सिद्धान्त न करनेसे 'माधुर्य्य भगवत्तासार' वाक्यकी सार्थकता नहीं रहती।

जो हो, ह्लादिनी विविध वैचित्री धारण करके विविध आनन्द रूपमें परिणत होती है और फिर ह्लादिनी वह सब आनन्द भगवान्‌को एवं भक्तको आस्वादन

कराती है। यहाँपर हमारा आलोच्य है---भगवान्‌का आनन्द ; भगवान् जो आनन्द अनुभव करते हैं वह आनन्द। यहाँ जिज्ञासा हो सकती है कि भगवान्‌के अनुभव योग्य आनन्द-स्वरूपमें ह्लादिनी जिस वैचित्रीको धारण करके रहती है, वह भगवान्‌में है या उनके बाहर भक्तमें ? यदि भक्तमें है, तो भगवान्‌में नित्य अवस्थित स्वरूप-शक्ति ह्लादिनी भक्तमें किस प्रकार जाती है ? इसका उत्तर यही है कि शक्तिकी क्रियासे ह्लादिनी भगवान्‌में भी वैचित्री धारण करती है एवं भगवान्‌द्वारा निक्षिप्त होकर भक्तके हृदयमें भी वैचित्री धारण करती रहती है। आनन्द आस्वादनके निमित्त परम कौतुकी श्रीकृष्ण नित्य ही ह्लादिनी शक्तिकी सर्वानन्दातिशायिनी किसी वृत्तिको भक्तगणके हृदयमें सञ्चारित करते रहते हैं। इस प्रकारकी सञ्चारित ह्लादिनी शक्तिकी वृत्ति ही भक्तके हृदयमें कृष्ण-प्रीति रूपमें वैचित्री धारण करके परम आस्वाद्यता प्राप्त करती रहती है। **"तस्या ह्लादिन्या एव कापि सर्वानन्दातिशायिनी वृत्ति नित्यं भक्तवृन्देष्वेव निक्षिप्यमाना भगवत्प्रीत्याख्यया वर्त्तते। अतस्तदनुभवेन श्रीभगवानपि श्रीमद्भक्तेषु प्रीत्यतिशयं भजत इति। प्रीतिसन्दर्भ ॥६५॥"**

भगवान्‌के स्वरूपमें ह्लादिनी जिस वैचित्रीको धारण करके रहती है, उसकी अपेक्षा भक्त हृदयमें स्थित वैचित्री बहुत अधिक आस्वाद्य है। एक दृष्टान्तद्वारा इसको समझनेकी चेष्टा की जाय। वायुका गुण शब्द है। मुख गह्वरस्थ वायुके नाना प्रकारकी भङ्गिसे मुखसे बाहर निकलनेपर नाना प्रकारके शब्दोंकी अभिव्यक्ति हो सकती है। इन सब शब्दोंका भी एक माधुर्य है ; किंतु वही वायु यदि मुखसे निकलकर वंशी-रन्ध्रमें प्रवेश करे, तो उससे एक इस प्रकारका अनिर्वचनीय माधुर्यमय शब्दोंका उद्भव होता है जिसके द्वारा श्रोता एवं वंशी-वादक स्वयं भी मुग्ध हो जाते हैं। उसी प्रकार, भगवान्‌के स्वरूपमें ह्लादिनी जिस वैचित्रीको धारण करके रहती है, उसकी अपेक्षा भक्तके हृदयमें निक्षिप्ता ह्लादिनीकी वैचित्री बहुत अधिक आस्वाद्य है। अर्थात् भगवान्‌के स्वरूपकी अपेक्षा भक्त-हृदयमें ह्लादिनीके वैचित्री धारणका सुयोग एवं अवकाश अधिक होता है। भक्त-हृदयमें ही ह्लादिनी सब प्रकारकी वैचित्री धारण कर सकती है, एवं भक्त-हृदयमें ह्लादिनी जिस वैचित्रीको धारण करके रहती है, उसके

आस्वादनमें ही भगवान्‌को समधिक कौतुहल होता है। निर्विशेष ब्रह्ममें शक्तिका विकास न होनेसे करुणा, भक्तवात्सल्यादि नहीं है, इसीलिये निर्विशेष-ब्रह्मके भक्त नहीं होते। अतएव उसके पक्षमें ह्लादिनीके वैचित्रीमय-आनन्दका अभाव रहता है। वैकुण्ठादि ऐश्वर्य प्रधान धामोंमें शक्तिका विकास है ; और उन-उन धामोंके अधिपतिमें करुणादिका विकास भी है, और उनके पार्षद भक्त भी हैं ; इन्हीं पार्षद भक्तोंके हृदयमें ह्लादिनी वैचित्री धारण कर सकती है ; किंतु उनकी भक्ति ऐश्वर्यज्ञानमिश्रा होनेसे और ऐश्वर्यज्ञानमें प्रीति सङ्कुचित होनेसे, उनके हृदयमें स्थित ह्लादिनी ऐश्वर्य द्वारा प्रतिहत होती है, इसीसे उनमें ह्लादिनीकी वैचित्री पराकाष्ठा प्राप्त नहीं कर सकती। ऐश्वर्य द्वारा इस प्रकार प्रतिहत ह्लादिनीकी वैचित्रीजनित जो आनन्द है, वही ऐश्वर्यानन्द है। स्वरूपानन्दकी अपेक्षा इसमें आस्वादन चमत्कार बहुत अधिक होनेपर भी आस्वादन चमत्कारिताकी पराकाष्ठा नहीं होती। वृन्दावनादि शुद्ध माधुर्यमय धामोंमें माधुर्यकी ही सबसे अधिक प्रधानता है और ऐश्वर्यादि माधुर्यके अनुगत हैं। यहाँपर माधुर्यको ह्लादिनीको प्रतिहत करनेकी चेष्टा भी ऐश्वर्य-शक्ति नहीं कर सकती, वरं स्वयं ही माधुर्य द्वारा कवलित होकर माधुर्यके सहित तादात्म्यको प्राप्त हो जाती हैं। इसीलिये यहाँ ह्लादिनीकी अप्रतिहत क्षमता है और वृन्दावनके पार्षद भक्तोंके चित्तमें वही ह्लादिनी सर्वविध वैचित्रीकी पराकाष्ठा प्राप्त करके श्रीकृष्णको आस्वादन चमत्कारिताकी पराकाष्ठा अनुभव कराती रहती है। श्रीकृष्ण इस प्रकार जिस आनन्दका अनुभव करते हैं वही उनका मानसानन्द है। मनमें अनुभव होनेके कारण ऐश्वर्यानन्द ही क्या, स्वरूपानन्द भी मानसानन्द ही है, किंतु ऐश्वर्यानन्दादिमें आनन्द अनुभवजनित मनःप्रसाद चरम पराकाष्ठा प्राप्त नहीं कर सकनेके कारण उन सबको मानसानन्द नहीं कहा जा सकता। व्रजधाममें जो आनन्द है, वह भी स्वरूप-शक्ति ह्लादिनीकी वैचित्री होनेसे स्वरूप-शक्त्यानन्द ही है एवं उसके आस्वादनसे मनःप्रसाद (मनकी प्रसन्नता) चरम पराकाष्ठाको प्राप्त होनेके कारण उसको मानसानन्द कहा जाता है। श्रीभगवान् भक्तिके वशीभूत तो हैं किंतु जहाँ भक्तिकी अथवा प्रीतिकी जितनी अधिक अभिव्यक्ति होती है, वहाँ उनके आस्वादन योग्य आनन्दकी भी उतनी

ही अधिक अभिव्यक्ति होती है और वैसे ही उनकी भक्तवश्यताकी अभिव्यक्ति भी उतनी ही अधिक होती है। श्रीकृष्ण मानसानन्दके सम्यक् रूपसे वशीभूत हैं यह बात इससे सहज ही समझमें आ जाती है। इस प्रकार आनन्द-आस्वादनके लिये कौतुक होनेसे ही श्रीकृष्णको कौतुकी कहा गया है।

कौतुकी शब्दका अन्य तात्पर्य भी हो सकता है। कौतुकीका अर्थ आनन्दमय भी हो सकता है। अहैतुकी भक्तिकी महिमा-ख्यापन ही इस कौतुकी शब्दके प्रयोगका उद्देश्य है। इस भक्तिकी इतनी महिमा है कि स्वयं आनन्दरूप श्रीकृष्ण भी इस भक्तिके वशीभूत होकर रहते हैं।

अथवा, कौतुकका अर्थ है परस्परायात मङ्गल (शब्दकल्पद्रुम)। सेवा द्वारा भक्त कृष्णको सुखी करता है ; श्रीकृष्ण भी भक्तको सुखी करनेको उत्कण्ठित रहते हैं, इसीसे वे अपनी चरण-सेवा देकर भक्तको सुखी करके अनुगृहीत करनेका प्रयास करते हैं। इस प्रकार अपने सेवक भक्तको सुखी व अनुगृहीत करनेके निमित्त जो उत्कण्ठित हों, वे ही कौतुकी हैं। इससे भी अहैतुकी भक्तिका माहात्म्य ही सूचित होता है। इस भक्तिका ऐसा माहात्म्य है कि पूर्णतम् भगवान् श्रीकृष्ण पर्यन्त अहैतुकी भक्तिके अनुष्ठानकारी भक्तको कृपापूर्वक चरण-सेवा देकर उनका परम मङ्गल विधान करनेके निमित्त उत्कण्ठित रहते हैं।

'भक्ति'का वर्णन

'भक्ति' शब्देर अर्थ हय दशविधाकार।
एक साधन, प्रेमभक्ति नवप्रकार ॥२३॥

अब 'भक्ति' शब्दके अर्थ सुनो, उसके प्रकार होते हैं दस।
है प्रेम-भक्ति होती नव विधि, पर साधन-भक्ति एक ही, बस ॥

अब 'भक्ति' शब्दका अर्थ करते हैं। भक्ति—शब्द 'भज्' धातुसे बनता है ; भज्-धातुका अर्थ है सेवा। अतः 'भक्ति'-शब्दका अर्थ हुआ सेवा। **'भक्तिरस्य भजनम्'**। (गोपाल तापनी श्रुति, पूर्व १५)।

दशविधाकार—भक्ति दस प्रकारकी है; साधन भक्ति एक, और साध्य प्रेम-भक्ति नौ प्रकारकी। परवर्ती पयारकी टीका देखिये।

साधन-भक्ति—रति या प्रेमाङ्कुर उत्पन्न होनेके पूर्व पर्यन्त जो भजन है उसका नाम है साधन-भक्ति। हृदयमें रतिका उन्मेष ही साधन भक्तिका उद्देश्य है।

प्रेम-भक्ति—प्रेम लक्षणाभक्ति।

इस पयारकी जगह किसी-किसी ग्रन्थमें इस प्रकारका पाठान्तर मिलता है। 'भक्ति शब्देर अर्थ हय नवविधाकार। एक साधन, प्रेमभक्ति अष्ट प्रकार॥' इस प्रकारके पाठमें 'प्रेम'से आरम्भ करके 'महाभाव' पर्यन्त आठ स्तरोंको ही सम्भवतः आठ प्रकारकी प्रेमभक्ति कहा गया है।

रतिलक्षणा-प्रेमलक्षणा इत्यादि प्रचार।
भावरूपा, महाभावलक्षणारूपा आर ॥२४॥

रति तथा प्रेम-लक्षणा आदि हैं प्रेम-भक्तिके विविध स्तर।
जो भाव तथा फिर महाभावपर्यन्त पहुँच जाती बढ़कर॥

इस पयारमें नौ प्रकारकी प्रेमभक्तिकी बात कही गई है। रति, प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव—प्रेम विकासकी नौ अवस्थाओंमें स्थित भक्तोंकी नौ प्रकारकी सेवा ही नौ प्रकारकी प्रेमभक्ति है। रति-प्रेमादिके लक्षण मध्यलीलामें 'श्रीरूप-शिक्षा'के अन्तर्गत १९वें परिच्छेदके १५१-१५२ पयारकी टीकामें देखिये।*

रतिका दूसरा नाम भाव या प्रेमाङ्कुर है। यह प्रेम-रूप सूर्यकी किरण सदृश है; **प्रेमसूर्यांशुसाम्यभाक्।** इसीसे प्रतीत होता है कि इस पाठान्तरके पयारमें भाव-भक्तिको भी प्रेम-भक्तिके अन्तर्भुक्त करके उल्लेख किया है।

---

*श्रीरूप-शिक्षा ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है।

शान्तभक्तेर रति बाढ़े प्रेमपर्य्यन्त ।
दासभक्तेर रति हय रागदशा अन्त ॥२५॥

है शान्त भक्तकी रति केवल प्रेमावस्थातक बढ़ पाती ।
रागावस्थातक दास्य-भक्तकी रति है किंतु पहुँच जाती ॥

सखागणेर रति अनुरागपर्य्यन्त ।
पितृ-मातृ-स्नेह-आदि अनुराग अन्त ॥२६॥

अनुराग-दशाकी इसी ओरतक सखागणोंकी रतिकी गति ।
है किंतु पिता-मातादिककी उसके उस पार पहुँचती रति ॥

कान्तागणेर रति पाय महाभावसीमा ।
'भक्ति' शब्देर एइ सब अर्थेर महिमा ॥२७॥

है महाभावकी सीमामें कान्तागणकी रतिका प्रवेश ।
है 'भक्ति' शब्दके अर्थ-राज्यके महिमामय ये सब प्रदेश ॥

शान्त-दास्यादि पाँच प्रकारके भक्तोंमें कौन भक्त उक्त नौ प्रकारकी प्रेम-भक्तिके किस स्तरके अधिकारी हैं अर्थात् किसकी रति कहाँतक वृद्धि प्राप्त करती है, वही बात इन तीन पयारोंमें बताई गई है। मध्यलीलामें 'श्रीसनातन-शिक्षा'के अन्तर्गत २३वें परिच्छेदके ३४से ३७तकके पयारोंकी एवं 'श्रीरूप-शिक्षा'के अन्तर्गत १९वें परिच्छेदके १५७ पयारकी टीकामें देखिये ।*

पितृ-मातृ-स्नेह—वात्सल्य रति ।

---

*श्रीसनातन-शिक्षा ग्रन्थ शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है।

'इत्थम्भूत' का अर्थ

'इत्थम्भूतगुण' शब्देर शुनह व्याख्यान ।
'इत्थं'-शब्देर भिन्न अर्थ 'गुण'-शब्देर आन ॥

अब 'इत्थम्भूतगुणः' पदकी मैं व्याख्या करता हूँ सम्यक् ।
है 'इत्थम्' पदका पृथक् अर्थ 'गुण' का भी होता अर्थ पृथक् ॥२८॥

अब 'इत्थम्भूतगुण'-शब्दका अर्थ करते हैं। इत्थम्भूत—इस प्रकारके गुण हैं जिनके वे इत्थम्भूतगुण (एतादृश-गुण-सम्पन्न)। इत्थम्भूत और गुण—इन दोनों शब्दोंका भिन्न-भिन्न अर्थ करके दिखा रहे हैं।

'इत्थम्भूत'-शब्देर अर्थ पूर्णानन्दमय ।
जार आगे ब्रह्मानन्द तृणप्राय हय ॥२९॥

है आशय 'इत्थम्भूत' शब्दका पूर्णानन्दमयी सत्ता ।
तृण-सम है ब्रह्मानन्द जहाँ, सुरतरु सम्मुख सूखा पत्ता ॥

इस पयारमें और नीचेके तीन पयारोंमें 'इत्थम्भूत' शब्दका तात्पर्य बताते हैं। श्लोकमें बताया है कि हरिके ऐसे ही (अद्भुत) गुण हैं कि आत्माराम मुनि-गण पर्यन्त उनसे आकृष्ट होकर उनका भजन करते रहते हैं। उन गुणोंमें ऐसी क्या आश्चर्यमयी आकर्षिणी शक्ति है, जिससे आत्मारामगणतक भी आकृष्ट हो जाते हैं, वही इन कई पयारोंमें बताते हैं। श्रीकृष्ण-गुणोंकी आश्चर्यमयी शक्तिमें कुछ तो ये हैं : यथा—श्रीकृष्णगुण पूर्णानन्दमय, ब्रह्मानन्द-तुच्छकारी, सर्वाकर्षक, सर्वाह्लादक, महारसायन, सर्वविस्मारक, भुक्ति-सिद्धि-मुक्ति आदिका वासना-अपसारक। परवर्ती ३१वें पयारकी टीका देखिये।

पूर्णानन्दमय—श्रीकृष्णगुण हैं पूर्णानन्दमय ; और ब्रह्मानन्द है खण्डानन्द—स्वरूपानन्द मात्र ; इसीलिये कृष्णगुणके साथ तुलनामें ब्रह्मानन्द तृण-तुल्य तुच्छ

है। इसीसे ब्रह्मानन्दमें निमग्न आत्मारामगण भी यदि एक बार कृष्णगुणकी कथा सुन लें, तो उसी क्षण ब्रह्मानन्द परित्याग कर श्रीकृष्णगुण-आस्वादनके अभिप्रायसे श्रीकृष्णभजनमें प्रवृत्त होते हैं।

निम्न श्लोकमें बताया गया है कि श्रीकृष्ण-साक्षात्कारमें जो आनन्द है वह महासमुद्र सदृश असीम है और निर्विशेष-ब्रह्म-साक्षात्कारमें जो आनन्द है वह गोपदके तुल्य है।

पूर्ववर्ती २२वें पयारकी टीकामें स्वरूपानन्द, ऐश्वर्यानन्द व मानसानन्दका पार्थक्य देखिये।

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ (१।१।२६)—
हरि भक्तिसुधोदयवचनम् (१४।३६)—

त्वत्साक्षात्करणाह्लाद-विशुद्धाब्धिस्थितस्य मे।
सुखानि गोष्पदायन्ते ब्राह्माण्यपि जगद्गुरो ॥६॥

संस्कृतटीका—ब्राह्माणीत्यत्र पारमेष्ठ्यानीति तु न वाख्येयं परब्रह्मानन्देनैव तस्य तारतम्यं श्रीभागवतादिषु प्रसिद्धमिति तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्देत्यादिभिः ॥श्रीजीव॥

अन्वय—**जगद्गुरो** (हे जगद्गुरो भगवन्)! **त्वत्साक्षात्करणाह्लाद-विशुद्धाब्धिस्थितस्य** (आपके साक्षात्कारजनित विशुद्ध आनन्दरूप समुद्रमें अवस्थित) **मे** (मेरे निकट) **ब्राह्माणि** (ब्रह्म-सम्बन्धी-आनन्दसमूह) **अपि** (भी) **गोष्पदायन्ते** (गोष्पद तुल्य लगता है)।

अनुवाद—ध्रुवने श्रीभगवान्को कहा है—हे जगद्गुरो! आपके साक्षात्कारके फलसे जिस अप्राकृत विशुद्ध आनन्द-समुद्रमें मैं अवस्थित हुआ हूँ, उसकी तुलनामें निर्विशेष-ब्रह्म-अनुभवजनित आनन्द भी मेरे निकट गोष्पदके समान अति अल्प-सा लगता है।

भगवत्-साक्षात्कारजनित आनन्द-समुद्रको **विशुद्धाब्धि**—विशुद्ध समुद्र कहा गया है। विशुद्ध-शब्दका तात्पर्य यह है कि भगवत्-साक्षात्कारजनित आनन्द जड़ जगतका प्राकृत आनन्द नहीं है—यह अप्राकृत, चिन्मय है—

ह्लादिनीका परिणति-विशेष है। प्राकृत आनन्द प्राकृत सत्त्वका क्रिया मात्र है। ब्राह्माणि—ब्रह्मानन्द समुद्र ; निर्विशेष-ब्रह्मके अनुभवजनित आनन्दको ब्रह्मानन्द कहते हैं और भगवत् साक्षात्कारजनित आनन्दको परब्रह्मानन्द कहते हैं।

कृष्ण-प्रेमानन्दकी तुलनामें ब्रह्मानन्द अति क्षुद्र है, उसके प्रमाणमें ही यह श्लोक दिया गया है। 'हरिभक्तिसुधोदय'का यह श्लोक 'भक्तिरसामृतसिन्धु'के पूर्व विभागमें प्रथम लहरीमें उद्धृत हुआ है।

सर्व्वाकर्षक सर्व्वाह्लादक महा रसायन।
आपनार बले करे सर्व्व-विस्मारण ॥३०॥

सर्वाकर्षक, सर्वाह्लादक, अभिनव जीवन देने वाली।
निज बलसे कृष्ण-गुणावलि है सबकी स्मृति हर लेने वाली॥

श्रीकृष्णके गुणोंकी महिमा वर्णन करते हैं।

श्रीकृष्ण-गुण अपनी शक्तिसे सबके आकर्षक, सबके आह्लादक, महारसायन एवं सर्व-विस्मारक हैं, **'आपनार बले'** इस पदके साथ **'सर्व्वाकर्षक'** आदि सभी पदोंका संयोग है। अपनी शक्तिसे सर्वाकर्षक हैं, अपनी शक्तिसे सर्वाह्लादक हैं—इत्यादि।

सर्व्वाकर्षक— श्रीकृष्ण-गुण अपनी शक्तिसे सबका आकर्षण करते हैं, यहाँ तक कि श्रीकृष्णपर्यन्त अपने माधुर्य गुणसे स्वयं आकृष्ट होते हैं।

"श्रृङ्गार-रस-राजमय-मूर्त्तिधर। अतएव आत्मपर्य्यन्त सर्व्वचित्तहर॥
(चै० च० म० ८।११२)"

"आपन माधुर्य्ये हरे आपनार मन। (चै० च० म० ८।११४)"

सर्व्वाह्लादक—श्रीकृष्णके गुण अपनी शक्तिसे सबके चित्तको आह्लादित करते हैं, यह उनकी ह्लादिनी शक्तिकी क्रिया है।

"ह्लादिनी कराय कृष्णे सुख आस्वादन। ह्लादिनीद्वाराय करे भक्तेर पोषण॥
(चै० च० आ० ४।५३)"

"भक्तजने सुख दिते ह्लादिनी कारण॥ (चै० च० म० ८।१२१)"

"आनन्दमयोऽभ्यासात्"—वेदान्तसूत्र १।१।१२—"एतत् स्वयमानन्दः परानप्यानन्दयति, यथा प्रचुरधनः परेभ्यो धनं ददातीति प्राचुयार्थे मयड़िति।" प्रचुर धनशाली व्यक्ति जिस प्रकार स्वयं धन भोग करता है, दूसरोंको भी उसका दान करता है, उसी प्रकार आनन्द-वारिधि श्रीकृष्ण स्वयं भी आनन्द अनुभव करते हैं और दूसरे सबको भी आनन्द दान करते हैं।

महारसायन—अत्यधिक रूपसे तृप्तिजनक ; जिससे बढ़कर तृप्तिजनक और कुछ भी न हो।

करे सर्व्वविस्मारण—श्रीकृष्ण-गुण अपनी शक्तिसे श्रीकृष्णके अतिरिक्त और सबको—'मैं और मेरे' आदिको—भुला देते हैं।

भुक्ति-सिद्धि-मुक्तिसुख छाड़ाय जार गन्धे।
अलौकिक शक्तिगुणे कृष्णकृपा बान्धे ॥३१॥

रुचि भुक्ति, मुक्ति या सिद्धि-सुखोंकी इसकी गंध मिटा देती।
अप्राकृत-शक्तिगुणोंसे कर बन्धन-गत कृष्ण-कृपा लेती॥

श्रीकृष्ण-गुणकी और भी महिमा वर्णन करते हैं।

भुक्ति-सिद्धि इत्यादि—श्रीकृष्णके गुणोंकी गन्ध या आभास मिलते ही भुक्ति-सिद्धि-मुक्ति आदिकी सुख-वासना दूर भाग जाती है ; कारण, श्रीकृष्ण-गुणमें जो आनन्द है, उसके सामने भुक्ति-सिद्धि आदिका आनन्द नितान्त अकिञ्चित्कर अर्थात् तुच्छ है।

अलौकिक शक्ति इत्यादि—श्रीकृष्ण-गुणमें ऐसी अलौकिक शक्ति है कि इसके द्वारा जीव कृष्णके चरणोंमें बँध जाता है। इन गुणोंकी कथा जो लोग सुनते हैं, उनका चित्त इतना आकृष्ट हो जाता है एवं इतना आनन्दित होता है कि वे लोग फिर एक क्षणके लिये भी किसी भी समय श्रीकृष्णको छोड़ नहीं सकते—वे कृष्णके चरणोंमें दृढ़ बन्धनमें आबद्ध होकर रहते हैं।

शक्ति-गुणे—शक्तिके माहात्म्यसे ; अथवा शक्तिरूप गुण या रज्जु द्वारा। **कृष्णकृपा बान्धे**—कृष्ण-कृपा भाग्यवान् भक्तको बाँधती है। **कृष्ण-कृपा-बान्धे**—श्रीकृष्णके चरणोंमें यह जो जीवका बन्धन है, वह कृष्णका कृपामूलक है ; यह कृष्णका अनुग्रह ही है, निग्रह नहीं। श्रीकृष्ण अपने चरण-कमलोंका मधुपान करानेके लिये ही अपने गुणके द्वारा आकर्षण करके जीवको अपने चरणोंमें आबद्ध करके रखते हैं—किसी भी प्रकारका दण्ड देनेके लिये नहीं ; 'कृपा' शब्दसे यह ध्वनि है।

शास्त्रयुक्ति नाहि इहाँ सिद्धान्तविचार।
एइ स्वभावगुणे जाते माधुर्य्यॆर सार ॥३२॥

आवश्यक यहाँ न शास्त्र-युक्ति, सिद्धान्तोंका अथवा विचार।
स्वाभाविक उनके ये गुणगण, अतएव कृष्ण माधुर्य-सार ॥

अन्वय— इहाँ (श्रीकृष्णके अलौकिक शक्तिगुण विषयमें) **शास्त्रयुक्ति** (शास्त्र-युक्तिकी अपेक्षा) **नाहि** (नहीं है), **सिद्धान्तविचार** (सिद्धान्त विचारकी अपेक्षा) **नाहि** (नहीं है) ; (यह) **स्वभावगुणे एइ** (इस रूप— सर्वाकर्षकादि है) ; (क्योंकि श्रीकृष्ण गुण) **माधुर्य्यॆर सार** (माधुर्यका सार है)।

श्रीकृष्णगुण माधुर्यका सार होनेके कारण (मध्यलीला, २१वाँ परिच्छेद, ९२ त्रिपदीकी टीका सनातन-शिक्षाके अन्तर्गत देखिये) अपनी मधुरताके प्रभावसे सबका आकर्षण करना ही उनका स्वभाव—स्वरूप धर्म है ; बहुत बड़े चुम्बकके आकर्षणसे अति क्षुद्र लोह-कण जिस प्रकार अति द्रुतवेगसे चुम्बककी ओर धावित होता है, उसी प्रकार श्रीकृष्णगुणके प्रबल आकर्षणसे भाग्यवान् जीव श्रीकृष्णकी ओर इतने प्रबल वेगसे आकृष्ट होता है कि उस समय उसके पक्षमें शास्त्रयुक्ति या सिद्धान्त-विचार आदि असम्भव हो जाते हैं ; अर्थात् श्रीकृष्णगुणसे आकृष्ट होना उचित है या नहीं, इसका शास्त्र या उक्तिकी सहायतासे विचार करनेकी बात भी उसके मनमें स्थान नहीं पाती। श्रीकृष्णगुणकी बात सुनकर भाग्यवान् जीव इतना प्रलुब्ध हो जाता है कि वह और स्थिर नहीं रह सकता, कृष्णगुणसे

आकृष्ट होकर कृष्ण-भजन किये बिना नहीं रह सकता। शास्त्रयुक्ति या सिद्धान्त-विचार आदिकी बात उस समय उसके मनमें रहती ही नहीं।

अथवा, शास्त्रयुक्ति या सिद्धान्त-विचारके द्वारा श्रीकृष्ण-गुणोंकी बात जानते ही जीव उन गुणोंद्वारा आकृष्ट हो जाता हो सो बात नहीं। किसी भी भाग्यसे श्रीकृष्णगुणका थोड़ा-सा अनुभव प्राप्त होते ही जीव उससे आकृष्ट हो पड़ता है। गुणका स्वाभाविक धर्म ही सबको आकृष्ट करना होता है—मिश्रीके मिठासका अनुभव होते ही जैसे उसके आस्वादनकी वासना जाग्रत हो उठती है ठीक वैसे ही। श्रीकृष्णगुणका स्वभाव ही ऐसा है कि वह आत्माराम मुनिगणके चित्तको आकर्षण करके रखता है— यही 'इत्थम्भूतगुण'-शब्दका तात्पर्य है। क्यों आकर्षण करता है?—क्योंकि इस प्रकारका ही उसका गुण है, आकर्षण करना ही कृष्णगुणका स्वभाव है। गुणके स्वभावके अतिरिक्त आकर्षणके लिये और कोई हेतु नहीं है।

जाते माधुर्य्येर सार—कृष्णगुणसे भक्त इस प्रकार क्यों आकृष्ट होता है सो बताते हैं। जीव चाहता है आनन्द, माधुर्य। जहाँ जितना अधिक माधुर्य होता है, जीव वहाँ उतना ही अधिक आकृष्ट होता है। श्रीकृष्ण हैं माधुर्यकी घनमूर्ति, माधुर्यकी सार वस्तु; इसीलिये श्रीकृष्णगुणसे भाग्यवान् जीव सबकी अपेक्षा अधिक आकृष्ट होता है।

'गुण'का अर्थ

'गुण'-शब्देर अर्थ – कृष्णेर गुण अनन्त।
सत्-चित्-रूप गुण – सर्व्व पूर्णानन्द ॥३३॥

'गुण' पदका अर्थ सुनो—अगणित श्रीकृष्णचन्द्रके गुण अनूप।
गुण सारे उनके सच्चिन्मय, सबके-सब पूर्णानन्दरूप ॥

अब 'इत्थम्भूतगुण'-शब्दके अन्तर्गत 'गुण'-शब्दका अर्थ करते हैं। कृष्णके गुण अनन्त-असंख्य हैं। यहाँ केवल कुछ गुणोंकी बात बताते हैं।

सत्-चित्-रूप गुण—श्रीकृष्णके रूप और गुण सच्चिदानन्द हैं। सत्-शब्दसे विकारहीन अविनाशी सत्ताका बोध होता है एवं चित्-शब्दसे अजड़ या अप्राकृत वस्तु या ज्ञानवस्तुका बोध होता है। सत्-चित्-रूप-गुण-शब्दसे यही बोध होता है कि श्रीकृष्णके रूप एवं गुण नित्य एवं अप्राकृत हैं। श्रीकृष्णका विग्रह सच्चिदानन्दमूर्त्ति अर्थात् सत्, चित् एवं आनन्द द्वारा ही गठित है; मायाबद्ध जीवके देहके समान मायिक रक्त-मांसके द्वारा गठित नहीं है। उनकी देहमें रक्त-मांसके अनुरूप जो दीखता है वह भी सत्, चित् एवं आनन्दस्वरूप है। श्रीकृष्णमें और उनकी देहमें कोई भेद नहीं है—देह और देही श्रीकृष्णमें एक ही है, सभी सच्चिदानन्द है। किंतु प्राकृत जीवके देह और देहीमें भेद है; देही चिन्मय वस्तु है और देह जड़ वस्तु है। श्रीकृष्ण स्वगत भेद-शून्य हैं (चै०च०म० 'श्रीसनातन-शिक्षा'के अन्तर्गत २० वाँ परिच्छेद, १३१ पयारकी टीका देखिये)। वे ही विग्रह हैं और विग्रह ही वे हैं (भूमिकामें श्रीकृष्ण तत्त्व देखिये)। श्रीकृष्णका गुण भी चिन्मय है—मायिक सत्व, रज एवं तमोगुणकी विकृति नहीं है। जिस-जिस स्थानपर परब्रह्मका (श्रीकृष्णका) श्रुति आदिमें 'निर्गुण' या 'गुण वर्जित' कहकर उल्लेख किया गया है, वहाँ वे प्राकृत गुण वर्जित हैं—यही मात्र बताया गया है।

"ह्लादिनी-सन्धिनी-संवित् त्वय्येका सर्वसंश्रिते।
ह्लाद-तापकरी-मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते॥" (वि०पु०१।१२।६९)

प्राकृत-गुण-वर्जित श्रीकृष्णमें सत्व-रज-तम (ह्लादतापकरीमिश्रा) गुण नहीं हैं। ह्लादिनी, सन्धिनी एवं संवित्—ये तीन ही गुण (एवं इन तीन गुणोंके विलासादि ही) उनमें हैं। यही उक्त श्लोकमें बताया है।

सर्व्व पूर्णानन्द—श्रीकृष्णके रूप, गुण सभी पूर्णानन्द स्वरूप हैं; सभी आनन्द चिन्मय हैं।

ऐश्वर्य्य माधुर्य्य कारुण्य स्वरूप पूर्णता।
भक्तवात्सल्य आत्मपर्य्यन्त-वदान्यता ॥३४॥

ऐश्वर्य, मधुरता, करुणामें जो पूर्ण, पूर्णतासे सानी।
वत्सलता निज भक्तार्थ, स्वयं तकको दे दे ऐसे दानी॥

ऐश्वर्य्य-माधुर्य्य इत्यादि—ऐश्वर्य, माधुर्य, कारुण्य एवं स्वरूप—सभी विषयोंमें श्रीकृष्ण पूर्णतम हैं।

भक्तवात्सल्य—भक्तके प्रति स्नेह-ममता। शिशु सन्तानके प्रति माताका जिस प्रकारका स्नेह होता है उसका नाम है वात्सल्य। भक्तके प्रति भी श्रीकृष्णका उसी जातिका उससे भी अधिक स्नेह होता है। उनमें भक्तवात्सल्य-का भी पूर्णतम विकास है।

आत्मपर्य्यन्त-वदान्यता—वदान्यता शब्दका अर्थ है दानशीलता, जो दाता हों उन्हें वदान्य कहा जाता है। श्रीकृष्णकी वदान्यता कितनी दूर पर्यन्त जा सकती है सो बताते हैं। वे प्रेमी भक्तके निकट स्वयं अपने पर्यन्तको दान कर देते हैं। जो उनके चरणोंमें भक्तिपूर्वक एक पत्र तुलसी, अथवा एक विन्दु जल अर्पण करता है, भक्तवत्सल श्रीकृष्ण उसके निकट आत्म-विक्रय कर डालते हैं—क्योंकि भुक्ति-मुक्ति-आदि जो कुछ भी श्रीकृष्णके पास हैं उनमें-से किसीके द्वारा भी ऐसे एक पत्र तुलसी या एक बिन्दु जलके उपयुक्त प्रतिदान नहीं हो सकता; इसीसे भक्तका ऋण परिशोध न कर सकनेके कारण वे भक्तके निकट आत्मदान करके रहते हैं।

"तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन वा।
विक्रिणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः॥"(भ० र० सि० २।१।७२)

द्वितीय पयारार्द्धमें श्रीकृष्णका भक्तवात्सल्य एवं वदान्यता—दोनों ही व्यक्त हुए हैं।

अलौकिक रूप-रस-सौरभादि गुण।
कारो मन कोन गुणे करे आकर्षण॥३५॥

गुण उनके सभी अलौकिक हैं रस, रूप, अङ्ग-सौरभ आदिक।
आकर्षित हो-होकर, देखो! किस गुणपर कौन गया है बिक॥

अलौकिक इत्यादि—श्रीकृष्णके रूप, रस या माधुर्य, (गात्र सौरभादि गुण) सभी अलौकिक अर्थात् लोकातीत, अपूर्व और अनिर्वचनीय हैं। **सौरभ**—सुगन्ध।

कारो मन इत्यादि—इनमेंसे किसी भी गुणसे किसीका भी मन आकृष्ट हो जाता है। श्रीकृष्णके एक भी गुणका आकर्षण भाग्यवान् जीवको अन्य सब चीजें भुला देनेमें समर्थ है। कौन-कौन किस-किस गुणसे आकृष्ट हुए हैं वह निम्न कुछ पयारोंमें बताते हैं।

सनकादिर मन हरिल सौरभादि गुणे ॥३६॥

सनकादिकका मन हरा गया सौरभ आदिक गुणके द्वारा ॥

सनकादिर—सनक, सनातन, सनन्दन और सनत्कुमार। श्रीकृष्णके सौरभसे सनकादिका मन आकृष्ट हुआ है, श्रीकृष्णके चरण-तुलसीकी सुगन्धसे आकृष्ट होकर ही वे श्रीकृष्ण भजन आरम्भ करते हैं। पूर्वमें वे ब्रह्ममय थे। निम्नोद्धृत श्लोक इस पयारका प्रमाण है।

तथाहि श्रीमद्भागवते (३।१५।४३)—

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द--
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः ।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां—
संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः ॥१०॥

संस्कृतटीका—स्वरूपानन्दादपि तेषां भजनानन्दाधिक्यमाह। तस्य पदारविन्दयोः किञ्जल्कैः केशरैः मिश्रा या तुलसी तस्या मकरन्देन युक्तो वायुः स्वविवरेण नासाच्छिद्रेण अक्षरजुषां ब्रह्मानन्दसेविनामपि संक्षोभं चित्तेऽतिहर्षं तनौ रोमाञ्चकम्। स्वामी।

अन्वय—**अरविन्दनयनस्य** (कमल-लोचन) **तस्य** (उनके—भगवान्के) **पदारविन्द-किञ्जल्कमिश्र-तुलसी-मकरन्दवायुः** (पदकमलकी केसरमिश्रित तुलसीकी गन्ध वहनकारी वायु) **स्वविवरेण** (नासिका रन्ध्र द्वारा) **अन्तर्गतः**

(भीतर प्रवेश करके) **अक्षर जुषां** (ब्रह्मानन्द सेवी) **तेषां** (उनके—उन सनकादिकोंके) **अपि** (भी) **चित्ततन्वोः** (चित्तमें और देहमें) **संक्षोभं** (सम्यक् क्षोभ) **चकार** (उत्पन्न कर दिया था) ।

अनुवाद—उन कमल-लोचन भगवान्‌के चरण-कमलोंकी केसरमिश्रित तुलसीकी मकरन्द युक्त वायुने नासिका रन्ध्र द्वारा अन्तरमें प्रवेश करके उन ब्रह्मानन्दसेवी सनकादिकोंके भी चित्तमें और देहमें सम्यक् क्षोभ उत्पन्न कर दिया था, अर्थात् चित्तमें अतिशय हर्षका एवं देहमें रोमाञ्च आदिका प्रकाश कर दिया था ।

अरविन्दनयनस्य—अरविन्द (कमल-पद्म) सदृश नयन हैं जिनके, पद्मके पत्रावली सदृश दीर्घ एवं सुन्दर नयन हैं जिनके, उन भगवान्‌के **पदारविन्द-किञ्जल्कमिश्रतुलसी-मकरन्दवायुः**— पद(चरण)-रूप अरविन्द (कमल) पदारविन्द ; उनके किञ्जल (केसर-श्वेत-अरुण कान्ति युक्त नख-रूप केसर) सहित मिश्र (मिश्रित) जो तुलसी है, उसकी मकरन्द (सुगन्ध)-युक्त वायु ; [पद्म सदृश सुन्दर और सुगन्धि युक्त होनेसे भगवान्‌के चरणोंकी पद्मके साथ उपमा देकर पदारविन्द—चरण-कमल कहा गया है ; कमलमें केसर होती है ; कमल-केसरका वर्ण भी श्वेत-अरुण होता है ;—चरण-कमलकी केसर कौन-सी है ? पद-नख ही चरण-कमलकी केसर है ; नखका वर्ण भी स्वेत-अरुण है ; पद्मकी केसर तुल्य ये जो भगवान्‌के नख-समूह हैं, पद्म-केसरकी तरह उनमें भी स्निग्ध मृदु सुगन्ध है ; पद-नख रूप केसरके सहित मिश्रित जो तुलसी है—भक्त पूजाके समय श्रीभगवान्‌के चरणोंमें जो तुलसी अर्पण करता है, श्रीभगवान्‌के पद-नखकी गन्ध-युक्त जो तुलसीकी मकरन्द अर्थात् सुगन्ध है उसको वहन करनेवाली जो वायु है, श्रीकृष्ण-चरण-तुलसीकी सुगन्धसे सुगन्धित वह वायु] ; **अक्षर जुषां**—अक्षर (ब्रह्म-ब्रह्मानन्द, ब्रह्मके अनुभवजनित आनन्द) सेवीगणके, ब्रह्मानन्दमें निमग्न सनकादिके **स्वविवरेण**— नासिका रन्ध्रद्वारा **अन्तर्गत**—भीतर प्रवेश करके, अन्तःकरणमें प्रवेश करके उनके **चित्ततन्वोः**—चित्तमें और तनु (देह) में **संक्षोभं**—सम्यक् क्षोभ, हर्ष आदि द्वारा चित्तमें क्षोभ और रोमाञ्चादि द्वारा देहमें क्षोभ उत्पन्न कर दिया था । चरण-तुलसीकी सुगन्धसे ही ब्रह्मानन्दसे उनका चित्त

विचलित हुआ था और चरण-तुलसीकी सुगन्धसे ही उन्होंने अपूर्व आनन्दका उपभोग किया था और उनके देहमें रोमाञ्चादि सात्विक भावोंका और हर्ष आदि सञ्चारी भावोंका उदय हुआ था।

शुकदेवेर मन हरिल लीलाश्रवणे ॥३७॥

ले गयी बहा श्रीशुकका मन श्रुतिगत हो लीलामृत-धारा ॥

श्रीशुकदेवजी पहिले निर्विशेष-ब्रह्मध्यान-परायण थे; श्रीकृष्णकी मधुरलीला-कथा सुनकर लीला-माधुर्यसे आकृष्ट हो श्रीकृष्ण भजन करने लगे। निम्न श्लोक इसके प्रमाणमें है।

तथाहि श्रीमद्भागवते (२।१।६)—

परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलया।
गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान् ॥११॥

संस्कृतटीका—सिद्धस्य तव कुतोऽध्ययने प्रवृत्तिः? तत्राह परिनिष्ठितोऽपीति गृहीतचेता आकृष्टचित्तः ॥स्वामी॥

अन्वय—राजर्षे (हे राजर्षे!) नैर्गुण्ये (निर्गुण या निर्विशेष ब्रह्ममें) **परिनिष्ठितः** (प्राप्तनिष्ठ) अपि (होकर भी) **उत्तमश्लोकलीलया** (उत्तमश्लोक श्रीकृष्णकी लीला कथासे) **गृहीतचेताः** (आकृष्ट चित्त होकर) [अहं] (मैंने) **यत्** (यह) **आख्यानं** (आख्यान—श्रीमद्भागवत) **अधीतवान्** (अध्ययन किया है)।

अनुवाद—श्रीशुकदेवजी बोले—हे महाराज परीक्षित्! निर्गुण ब्रह्म प्राप्तनिष्ठ होकर भी उत्तमश्लोक श्रीकृष्णकी लीला-कथा श्रवणसे आकृष्टचित्त होकर मैंने यह श्रीमद्भागवत नामक आख्यानका अध्ययन किया है।

उत्तमश्लोकलीलया—उत् अर्थात् उद्गत या दूरीभूत होता है तमः (तमोगुण, तमोगुणके उपलक्षणसे अविद्या) जिनके श्लोक (कीर्त्तन)-द्वारा, वे उत्तमः श्लोक—भगवान्; उनकी लीला उत्तमश्लोकलीला; तद्द्वारा—उत्तमःश्लोकलीलया।

श्रीशुकदेवजी जन्मसे ही ब्रह्मानुभव सम्पन्न थे; निर्जन वनमें रहकर वे ब्रह्म समाधिमें निमग्न रहा करते। उनके पिता व्यासदेवने अन्य लोगों द्वारा

श्रीशुकदेवजीके निकटवर्ती स्थानमें श्रीमद्भागवतसे भगवान्के गुणव्यञ्जक कोई-कोई श्लोक कीर्त्तन कराये थे। भगवद्गुण कथाके माहात्म्यसे उस कथामें श्रीशुकदेवजीका चित्त समाधिसे आकृष्ट हुआ था। तब वे व्यासदेवके निकट गये और उन्होंने श्रीमद्भागवत अध्ययन करनेकी वासना प्रकट की। व्यासदेवने भी परम आनन्दके साथ उनको श्रीमद्भागवतका अध्ययन कराया।

श्रीकृष्णलीला-कथाके श्रवणमें श्रीशुकदेवजीका चित्त श्रीकृष्णके प्रति आकृष्ट हुआ उसके प्रमाणमें यह अगला श्लोक है।

तथाहि श्रीमद्भागवते (१२।१२।६९)—

स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावो-
ऽप्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम् ।
व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं
तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि ॥१२॥

संस्कृतटीका—श्रीगुरुं नमस्करोति। स्वसुखेनैव निभृतं पूर्णं चेतो यस्य सः तेनैव व्युदस्तोऽन्यस्मिन् भावो यस्य तथाभूतोऽपि अजितस्य रुचिराभिर्लीलाभिराकृष्टः सारः स्वसुखगतं स्थैर्यं यस्य सः तत्त्वदीपं परमार्थप्रकाशकं श्रीभागवतं यो व्यतनुत तं नतोऽस्मीति। स्वामी॥

अन्वय—यः (जो) **स्वसुखनिभृतचेताः** (ब्रह्मानन्दमें निमग्न होनेसे परिपूर्ण-चित्त हैं) **तद्व्युदस्तान्यभावः अपि** (एवं उस कारणसे अन्य विषयोंमें जिनकी मनोवृत्ति सम्यकरूपसे दूरीभूत होनेपर भी) **अजितरुचिरलीलाकृष्टसारः** (अजित-श्रीकृष्णकी सुमधुर लीला द्वारा ब्रह्मसुखसे धैर्य आकृष्ट होनेसे जिन्होंने) **तदीयं** (उनके—वही अजित सम्बन्धीय) **तत्त्वदीपं** (तत्त्व कथाके लिये प्रदीप सदृश) **पुराणं** (पुराण—श्रीमद्भागवतको) **कृपया** (कृपा करके) **व्यतनुत** (व्यक्त किया है), **अखिलवृजिनघ्नं** (सर्व अमङ्गल विनाशक) **तं** (उन्हीं) **व्याससूनुं** (व्यास-नन्दन श्रीशुकदेवजीको) **नतः अस्मि** (मैं नमस्कार करता हूँ)।

अनुवाद—श्रीसूतजी बोले—"ब्रह्मानन्दमें निमग्न रहनेसे जिनका चित्त सर्वदा परिपूर्ण रहता है एवं उस कारणसे अन्य विषयोंसे मनोवृत्ति सम्यकरूपसे दूर रहने

पर भी जिन्होंने अजित-श्रीकृष्णके सुमधुर लीला-कथा द्वारा ब्रह्मानन्दसे आकृष्ट-चित्त होकर उन्हीं अजित-श्रीकृष्णके तत्त्व-प्रकाश-सम्बन्धमें प्रदीप तुल्य श्रीमद्भागवत पुराणको व्यक्त किया था, सर्व अमङ्गल विनाशक उन्हीं व्यास-नन्दन श्रीशुकदेवजीको मैं प्रणाम करता हूँ।"

स्वसुखनिभृतचेताः—स्वसुख द्वारा (ब्रह्मानन्दके अनुभवजनित सुख द्वारा) निभृत (परिपूर्ण) हो गया है चित्त जिनका ; ब्रह्मानन्दका अनुभव प्राप्त होनेसे जिनको चित्तमें अन्य कोई भी कामना नहीं रही—अतः किसी भी प्रकारके अभावका बोध जिन्हें नहीं है, **तद्व्युदस्तान्यभावः**—तज्जन्य ही (ब्रह्मानन्दका अनुभव उत्पन्न होनेसे) अन्य विषयोंसे (ब्रह्मके अतिरिक्त अपर वस्तुसे) व्युदस्त (दूरीभूत या अपसृत) हुआ है भाव (मनोवृत्ति) जिनका ; अन्य किसी भी विषयमें जिनकी किसी भी प्रकारकी कामना नहीं है ; अन्य किसी भी विषयमें जिनका चित्त किसी भी समय धावित नहीं होता—नहीं जाता ; **अपि**— तथापि, तो भी **अजित-रुचिर-लीलाकृष्टसारः**—अजित (श्रीकृष्ण) की रुचिर (सुमधुर) लीला द्वारा (लीला-कथा द्वारा) आकृष्ट हुआ है सार (ब्रह्मानन्दमें धैर्य वा रसास्वादन सामर्थ्य) जिनका ; ब्रह्मानन्द अनुभवके लोभमें धैर्यसहित जो समाधिमग्न रहते हैं, किंतु श्रीकृष्णकी मधुर लीला-कथा सुनकर उस लीला-कथाकी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे ब्रह्मानन्दानुभवार्थ समाधिके निमित्त जो और धैर्य रक्षा न कर सके, लीला-कथाके श्रवण-कीर्त्तनके निमित्त जो व्याकुल हो उठे—अथवा जिनकी रसास्वादन सामर्थ्य ब्रह्मानन्दके अनुभवमें लगी थी, किंतु श्रीकृष्णकी लीला-कथा सुनकर लीला-कथाकी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे जिनकी वह सामर्थ्य ब्रह्मानन्दसे आकृष्ट होकर लीला-कथा श्रवण-कीर्त्तनके आनन्दमें लग गयी, अतः ब्रह्मानन्दकी अपेक्षा भगवत् लीला-कथा श्रवण-कीर्त्तनका आनन्द जिनके लिये अधिकतर लोभनीय हुआ था [ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य विषयमें उनकी कामना न रहनेपर भी लीला-कथाकी वस्तु-गत शक्तिके वश होकर ब्रह्मानन्द त्याग करके भी श्रीकृष्ण-लीला-कथाके श्रवण-कीर्त्तनमें जिनका चित्त आकृष्ट हुआ था] एवं उसी कारणसे जो **तत्त्वदीपं**—श्रीकृष्णके तत्त्व-प्रकाश-सम्बन्धमें प्रदीप तुल्य, प्रदीप जिस प्रकार अपनी शक्तिसे गृहका अन्धकार दूर करके गृह स्थित वस्तु समूहको प्रकाशित करता

है, उसी प्रकार जो अपने माहात्म्यसे जीवका अज्ञानान्धकार—मायान्धता—दूरीभूत करके श्रीकृष्णके तत्त्वादि—श्रीकृष्णके नाम-रूप-गुण लीलादिका रहस्य उद्घाटित करनेमें समर्थ है, ऐसे **पुराणम्**—श्रीमद्भागवत नामक पुराणका जीवोंके प्रति कृपा करके **व्यतनुत**—प्रकाश किया है, **अखिल-वृजिनघ्नं**—अखिल (समस्त) वृजिन (अमङ्गल)का नाश करने वाले, श्रीमद्भागवतको प्रकाश करके जिन्होंने जगतके समग्र अमङ्गल विनाशका सुयोग बना दिया है उन्हीं **व्याससूनुं**—व्यास-नन्दन श्रीशुकदेवजीको मैं (श्रीसूतजी) प्रणाम करता हूँ। यह श्लोक भी पूर्ववर्ती ३७वें पयारके प्रमाणमें है।

निर्भेद-ब्रह्मकी अनुसन्धिमें ज्ञानीको ब्रह्मानन्दके अनुभवसे समाधि प्राप्त होती है। उस अवस्थामें उसकी सब इन्द्रिय-वृत्ति ही निरुद्ध हो जाती है, इन्द्रिय-आदिकी कोई भी चेष्टा नहीं रहती। इस अवस्थामें भी श्रीशुकदेवका चित्त श्रीकृष्णके रुचिर लीला-रसमें आकृष्ट हुआ था। श्रीशुकदेव जन्मसे ही ब्रह्म-सुखमें निमग्न थे। निर्जन वनमें बैठकर वे ब्रह्मसमाधिमें निमग्न रहा करते। उनके पिता व्यासदेव अन्य लोगोंके द्वारा शुकदेवजी-निकटवर्ती स्थानोंमें श्रीमद्भागवतसे भगवान्‌के गुणव्यञ्जक कोई न कोई श्लोक कीर्त्तन कराया करते। भगवद्गुणकथाके माहात्म्यसे उन श्लोकोंके कीर्त्तनसे शुकदेवजीका चित्त समाधिसे आकृष्ट हो जाता, ब्रह्मसमाधि छोड़कर भी भगवद्गुणकथा सुननेके निमित्त उनको उत्कण्ठा उत्पन्न होती। इसके पश्चात् उन्होंने अपने पिता व्यासदेवसे सम्पूर्ण श्रीमद्भागवत्‌का अध्ययन एवं आस्वादन किया था।

प्रश्न उठ सकता है कि समाधिमग्न अवस्थामें उनकी सब इन्द्रिय-वृत्ति तो निरुद्ध थी, व्यासदेव-नियोजित लोगों द्वारा उच्चारित भगवद्गुण-व्यञ्जक श्लोक उन्होंने सुने किस प्रकार?

उत्तर—श्रीशुकदेवका चित्त था शुद्धसत्त्वात्मक, नहीं तो उनको ब्रह्मानन्दका अनुभव नहीं होता। और भगवत्-कथा भी शुद्धसत्त्वात्मिका, स्वप्रकाश है। किसी भी भाग्यवान् द्वारा कीर्तित भगवद्गुण आदि सभीके कानोंमें प्रवेश कर सकते हैं। किंतु माया-मलिन चित्तके साथ उसका संयोग नहीं हो सकता। श्रीशुकदेवके कर्णकुहर उन्मुख ही थे। व्यासदेव-नियोजित लोगों द्वारा कीर्तित

भगवद्गुण-कथा उनके कर्णकुहरके भीतरसे उनके मर्ममें जाकर प्रवेश कर गयी थी और प्रवेश करके उनके शुद्धसत्त्व-उज्ज्वल चित्तके साथ संलग्न हो गयी थी। संयोगमें बाधा दे सके, ऐसा कोई भी आवरण उनके चित्तमें नहीं था। ऐसा आवरण होता है मायाबद्ध जीवके चित्तका माया-मलिनताका आवरण। शुकदेवजीके चित्तमें वह था नहीं। उनके चित्तमें एक ही आवरण था, और वह था जीव-ब्रह्मका अभेद-ज्ञान। इस आवरण द्वारा जीवका स्वरूपानुबन्धी सेव्य-सेवक-भाव प्रच्छन्न हो गया था। किंतु यह आवरण शुद्धसत्त्वके गति-पथमें बाधा उत्पन्न नहीं कर सकता। इसीलिये शुकदेवजीके शुद्धसत्त्व-उज्ज्वल चित्तके साथ शुद्धसत्त्वात्मिका भगवत्-कथाका स्पर्श हो सका था। इस भगवत्-कथाने ही अपनी अचिन्त्य-शक्तिके प्रभावसे शुकदेवजीके जीव-ब्रह्मके अभेद-ज्ञानरूप आवरणको अपसारित करके, उनके चित्तमें सेव्य-सेवक भावका स्फुरण कराकर सेवा-वासना जगाकर निस्तरङ्ग आनन्द-समुद्रको तरङ्गायित कर डाला। उसी समय वे निस्तरङ्ग-ब्रह्मानन्द-समुद्रकी जगह तरङ्गायित आनन्द-समुद्रके—अनन्त-वैचित्रीमय-रससमुद्रके अतल-तलमें निमग्न हो गये। यह उनका समाधि-भङ्ग नहीं है। वे आनन्द-समुद्रमें निमग्न थे, भगवद्गुण-कथाके साथ उनके चित्तका स्पर्श होनेके पश्चात् भी वे उसी आनन्द-समुद्रमें निमग्न रहे। अन्तर इतना ही है कि पहिले आनन्द-समुद्र निस्तरङ्ग था, पश्चात् वही हो उठा उत्ताल तरङ्गमय। पहिले वे थे निस्तरङ्ग-समुद्रमें स्थित, बादमें वे तरङ्गायित आनन्द-समुद्रमें उन्मज्जित निमज्जित होने लगे एवं उससे वे इतनी आनन्द-वैचित्रीका अनुभव करने लगे एवं उस आनन्द-वैचित्रीमें रस भावसे इतने तन्मय हो गये कि पूर्व-अनुभूत निस्तरङ्ग आनन्द-समुद्रका अनुसन्धान भी उनको नहीं रहा। यह भी उनकी समाधि है—भक्ति-समाधि। इसमें भी उनकी सब इन्द्रिय वृत्तियाँ आनन्द-समुद्रमें निमज्जित होकर, मानो आनन्द तन्मयता प्राप्त करके, अन्य अनुसन्धानकी सामर्थ्य खो बैठी थीं। इसीसे कहा गया है कि भगवद्गुणके प्रभावसे शुकदेवजीकी समाधि-भङ्ग नहीं हुई बल्कि समाधि एक अन्य पर्यायमें उपनीत हुई है। यदि उनकी समाधि भङ्ग होती, तो वे फिर उसी समाधिमें निमग्न होनेके लिये चेष्टा करते।

आलोच्य श्लोककी टीकामें श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्तीने भी लिखा है—

लीलारसोऽयं तस्य न समाधिभञ्जकः प्रत्युहः (विघ्नः)इति व्याख्येयम्। तथात्वे सति तेन पुनरपि तादृश-समाध्यर्थ-मेवायतिष्यत।

किंतु पीछे ब्रह्मानन्द-समाधिके लिये किसी भी प्रकारकी चेष्टा न करके उन्होंने भगवद्गुण आदिके रस-आस्वादनके लिये ही चेष्टा की थी, एवं इस उद्देश्यसे व्यासदेवके निकट श्रीमद्भागवतका अध्ययन भी किया था। लीलारसकी शक्ति कितनी अधिक है कि वह ब्रह्मज्ञानीको भी आकर्षण करके अपने वश करनेमें समर्थ है।

श्रीअङ्ग-रूपे हरे गोपीगणेर मन ॥३८॥

श्रीअङ्गोंकी सुन्दरताने मन लिया गोपिकाओंका हर ॥

श्रीअङ्ग-रूपे— श्रीअङ्गके रूपसे या सौन्दर्यसे। गोपीगणके लिये श्रीकृष्णके रूपका मनोहारित्व नित्य है। यहाँपर प्रकट लीलामें इस मनोहारित्वके प्राकट्यकी या उच्छ्वासकी कथा बता रहे हैं।

तथाहि श्रीमद्भागवते (१०।२९।३९)—

वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्रि-
गण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम्।
दत्ताभयं च भुजदण्डयुगं विलोक्य
वक्षः श्रियैकरमणंच भवाम दास्यः ॥१३॥

संस्कृतटीका—ननु गृहस्वामिनं विहाय मद्दास्यं किमिति प्रार्थ्यते अत आहुः वीक्ष्यति। अलकावृतमुखं केशान्तरैरावृतमुखम्। तथा कुण्डलयोः श्रीर्ययोस्ते गण्डस्थले यस्मिन् अधरे सुधा यस्मिंस्तच्च तच्च। एवं मुखं वीक्ष्य दत्ताभयं भुजदण्डयुगं वक्षश्च श्रियाः एकमेव रमणं रतिजनकं वीक्ष्य दास्य एव भवामेति ॥स्वामी॥

अन्वय—तव (तुम्हारे—श्रीकृष्णके) कुण्डलश्रिगण्डस्थलाधरसुधं (कुण्डलकी शोभा जिसके द्वारा वर्द्धित होती है ऐसे गण्डस्थलयुक्त एवं सुधायुक्त

अधर), **हसितावलोकं** (सहास्य कटाक्ष युक्त) **अलकावृतमुखं** (चूर्ण कुन्तल द्वारा आवृत वदन) **वीक्ष्य** (दर्शन करके), **च** (एवं) **दत्ताभयं** (अभयप्रद) **भुजदण्डयुगं** (दोनों भुज दण्ड), **च** (एवं) **श्रिया** (श्री याने शोभा द्वारा, शोभा सम्पदसे) **एक-रमणं** (एक अर्थात अद्वितीय रूपसे रमणीय, अपूर्व सौन्दर्ययुक्त) **वक्षः** (वक्षःस्थल) **विलोक्य** (दर्शन करके) **दास्यः भवाम** (हम लोग तुम्हारी दासी हो गई हैं)।

अनुवाद—गोपीगण श्रीकृष्णसे बोलीं—"हे सुन्दर! तुम्हारे मुखमण्डलके कुण्डलकी शोभा बढ़ाने वाले गण्डस्थल, सुधामय अधर एवं ईषत् हास्य युक्त दृष्टि जो शोभा पा रही है, तुम्हारा वही मुख कमल दर्शन करके एवं तुम्हारे अभयप्रद युगल भुजदण्ड और अपूर्व शोभा सम्पदसे परम रमणीय तुम्हारे वक्षःस्थलके दर्शन करके हमलोग तुम्हारी दासी हो गई हैं"।

श्रीकृष्णके रूपसे जो गोपीगणका चित्त अपहृत हुआ है, वही इस श्लोकमें बता रहे हैं। इस श्लोकमें श्रीकृष्णको लक्ष्य करके ही गोपीगण कह रही हैं—"हे कृष्ण! हे सर्वचित्ताकर्षक! तुम्हारा मुख, तुम्हारे बाहु युगल एवं तुम्हारा वक्षःस्थल इतने रमणीय हैं, इतने लोभनीय हैं कि दर्शन मात्रसे हम मुग्ध हो गयी हैं, और मुग्ध होकर उसी क्षण तुम्हारी दासी होनेकी अभिलाषासे तुमको हमलोग आत्म-समर्पण कर चुकी हैं। श्रीकृष्णका मुख ऐसा लोभनीय किस प्रकार है सो बताते हैं :—**अलकावृतमुखं**—अलकावली (चूर्ण कुन्तल) द्वारा आवृत (आच्छादित) मुख ; श्रीकृष्णका मुख अलकावली शोभित है (मस्तकके उपरि भागमें जो छोटे-छोटे बाल होते हैं उन्हें अलका कहते हैं)। और कैसा है? **कुण्डलश्रिगण्डस्थलाधरसुधं**—कुण्डलकी श्री (शोभा) है जिसके द्वारा, ऐसे गण्डस्थल विद्यमान हैं जिसपर एवं अधरकी सुधा है विद्यमान जिसमें, ऐसा मुख। श्रीकृष्णके मुखपर स्थित गण्डद्वय ऐसे चिक्कन हैं—दर्पणकी तरह ऐसे चमकदार है, कानोंमें स्थित दोनों कुण्डल उनमें प्रतिलक्षित होकर गण्डस्थलकी भी उज्ज्वलता बढ़ाते हैं एवं उस उज्ज्वलता द्वारा अपनी भी उज्ज्वलता और शोभा बढ़ाते है ; और श्रीकृष्णके मुख स्थित जो अधर हैं, उनपर जो सुधा विराजती है वह भी अति लोभनीय है। वह मुख और किस प्रकारका है? **हसितावलोकम्**—हसित (हास्ययुक्त) अवलोक (दृष्टि वा कटाक्ष) हैं जिसपर ;

श्रीकृष्णके नेत्र दोनों सर्वदा हँसतेसे रहते हैं, जिससे मुखकी शोभा अत्यन्त वृद्धि पाती है। और उनके भुजद्वय कैसे हैं ? **भुजदण्डयुगं**—दोनों भुजाएँ दण्डके समान दीर्घ और सुगोल हैं ; अतः देखनेमें परम रमणीय हैं। और कैसे हैं ? **दत्ताभयं**—दिया जाय अभय जिसके द्वारा ; अभयप्रद ; श्रीकृष्णके परम मनोहर बाहुद्वय नवनीतकी तरह अथवा नीलोत्पल-दलकी तरह कोमल होनेपर भी दैत्य-भय निवारणमें विशेष पटु हैं ; और गाढ़ आलिङ्गन द्वारा कामभय हरनेमें भी विशेष शक्तिशाली हैं। और श्रीकृष्णका वक्षःस्थल कैसा है ? **श्रियैकरमणं**—श्रीद्वारा (शोभा सम्पदके प्रभावसे) एक (अद्वितीय रूपसे) रमण (परम सुन्दर, परम रमणीय, परम लोभनीय) हुए हैं जो, ऐसे वक्ष अथवा श्रीद्वारा (वक्षःस्थल स्थित सुवर्ण-रेखा-रूपा लक्ष्मी द्वारा) एक (अद्वितीय रूपसे) रमण (रमणीय) हुए हैं जो, ऐसे वक्ष। श्रीकृष्णके वक्ष देशमें एक अति सुन्दर स्वर्ण रेखा है, उसको लक्ष्मी या लक्ष्मी-रेखा कहते हैं ; उसके द्वारा श्रीकृष्णके वक्षकी शोभा और रमणीयता अत्यधिक रूपसे वर्द्धित हुई है ; वही यहाँ बता रहे हैं। अथवा गोपीगण कहती हैं—"हे कृष्ण ! तुम्हारे वक्षःस्थल इतने सुन्दर हैं—इतने लोभनीय हैं कि उन्होंने नारायणकी वक्ष-विलासिनी लक्ष्मीके मनको भी बलपूर्वक आकर्षण किया है, इसीसे लक्ष्मीदेवी सर्वदा तुम्हारे वक्षसे लगे रहनेका लोभ संवरण न कर सकनेके कारण और प्रकट भावसे वक्षसे लगे रहनेकी लज्जाका रोध न कर सकनेके कारण स्वर्ण-रेखा रूप धारण करके ही तुम्हारे वक्षःस्थलपर नित्य विराजित हैं—इस प्रकार तुम्हारे वक्षःस्थलको ही लक्ष्मीदेवीने अपने एकमात्र रमण या क्रीड़ास्थल रूपमें परिणत कर लिया है ; **श्रिया** (लक्ष्मीदेवी द्वारा) **एकं** (अद्वितीय, एकमात्र) **रमणं** (क्रीड़ा) **यत्र** (जिस स्थानमें)। इसके द्वारा वक्षःस्थलका सौन्दर्यातिशय सूचित होता है।

३८वें पयारकी उक्तिके प्रमाणमें यह श्लोक है।

रूपगुण श्रवणे रुक्मिण्यादि-आकर्षण ॥३९॥

खिंच गया रुक्मिणी आदिकका मन कथा रूप-गुणकी सुनकर ॥

नारदजीके मुखसे श्रीकृष्णके रूप और गुणकी कथा सुनकर रुक्मिणी आदिका चित्त श्रीकृष्णके प्रति आकृष्ट हुआ था।

तथाहि श्रीमद्भागवते (१०।५२।३७)—

श्रुत्वा गुणान् भुवनसुन्दर शृण्वतां ते
निर्विश्य कर्णविवरैरहरतोऽङ्गतापम्।
रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थलाभं
त्वय्यच्युताविशति चित्तमपत्रपं मे ॥१४॥

संस्कृतटीका —रुक्मिण्या स्वयमेकान्ते लिखित्वा दत्तपत्रिकां मुद्रामुन्मुच्य कृष्णाय प्रेमचिह्नमदर्शयत्। ब्राह्मणः श्रीकृष्णानुज्ञया वाचयति श्रुत्वेति। अयमर्थः। हे अच्युत! हे भुवनसुन्दरेति औत्सुक्यं द्योतयति। क्व तव महिमा क्व चाहं रूपकुलशीलादियुक्तापि तथापि अपगता त्रपा यस्मात् तन्मे चित्तं त्वयि आविशति आसज्जते। तत् कुतस्तत्राह। शृण्वतां कर्णविवरैरन्तः प्रविश्य अङ्गतापं अङ्गेति पृथक् सम्बोधनं वा। हरतस्तव-गुणान् श्रुत्वा तथा दृशिमतां चक्षुष्मतां दृशामखिलार्थलाभात्मकं रूपञ्च श्रुत्वेति॥स्वामी॥

अन्वय—भुवनसुन्दर (हे भुवनसुन्दर)! अच्युत (हे अच्युत)! अङ्ग (हे अङ्ग)! शृण्वतां (श्रोतागणके) कर्णविवरैः (कर्ण विवरों द्वारा) निर्विश्य (प्रवेश करके) तापं (ताप) हरतः (हरणकारी) ते (तुम्हारे) गुणान् (गुण समूहकी कथा) दृशिमतां (नेत्रधारियोंके) दृशां (नेत्रोंके) अखिलार्थलाभं (समस्त-स्वार्थ-लाभ स्वरूप, अथवा अखिलार्थद) रूपं (रूप—रूपकी कथा) श्रुत्वा (श्रवण करके) मे (मेरा) चित्तं (चित्त) अपत्रपं (लज्जा परित्याग पूर्वक) त्वयि (तुममें) आविशति (आसक्त हो रहा है)।

अनुवाद—श्रीकृष्णको लक्ष्य करके रुक्मिणी देवी बोली—"हे अच्युत! हे अङ्ग! हे भुवन-सुन्दर! श्रोताओंके कर्णपथ द्वारा अन्तरमें प्रवेशपूर्वक चित्तस्थ सकल सन्ताप हरणमें समर्थ तुम्हारे गुण समूहकी कथा श्रवण करके, एवं

चक्षुष्मान व्यक्तिके नेत्रोंकी समस्त सार्थकता लाभस्वरूप तुम्हारे रूपकी कथा श्रवण करके मेरा निर्लज्ज चित्त तुममें प्रवेश कर चुका है।

नारदजीके मुखसे श्रीकृष्णके रूप-गुणकी कथा सुनते ही विदर्भराजकी कन्या श्रीरुक्मिणी देवीने (श्रीकृष्णको देखे बिना ही) उनके चरणोंमें आत्म-समर्पण करके मन-ही-मन उनको पति रूपमें वरण किया था; किंतु उनके भ्राता रुक्मि कृष्ण विद्वेषी होनेके कारण किसी भी प्रकार श्रीकृष्णके साथ रुक्मिणीका विवाह करनेमें सम्मत नहीं हुए और शिशुपालको ही बहिनके लिये योग्य पात्र मानकर मनोनीत किया। रुक्मिणी यह जानकर अत्यन्त दुःखित हुईं और अपना मनोभाव प्रकाश करते हुए एक पत्र लिखकर किसी एक ब्राह्मण द्वारा श्रीकृष्णके पास भेजा। उसी पत्रमें श्रीकृष्णको लक्ष्य करके रुक्मिणीने उक्त श्लोकमें कथित विवरण लिपिबद्ध किया था। रुक्मिणीने लिखा था—"हे अङ्ग! अपना अङ्ग अपने निकट जिस प्रकार प्रिय होता है, हे कृष्ण! तुम भी हमारे लिये वैसे ही प्रिय हो; तुम हमारे अङ्ग तुल्य हो (अङ्ग शब्द द्वारा श्रीकृष्णके प्रति रुक्मिणीदेवीका प्रेमातिशय सूचित होता है। हे **अच्युत**! हे कृष्ण! तुम च्युतिरहित हो, तुम्हारे जो समस्त रूप-गुणकी कथा मैंने सुनी है, वे सब रूप-गुण कभी भी तुमसे च्युत नहीं होते, वे नित्य ही तुममें विराजमान हैं। हे भुवन-सुन्दर! हे कृष्ण! आकृति और प्रकृतिमें, त्रिभुवनमें तुम्हारे समान सुन्दर और कुछ भी नहीं है; तुम्हारे प्रकृतिगत सौन्दर्यकी कथा बताती हूँ, सुनो; तुम्हारे शरणागत-वात्सल्यादि गुण समूह ही तुम्हारा प्रकृतिगत सौन्दर्य है। तुम्हारे ये समस्त गुण **शृण्वतां**—श्रोताओंके **कर्णविवरे**—कर्ण-विवर द्वारा भीतर प्रवेश करके चित्तस्थ समस्त सन्ताप—संसार-ज्वाला-निबन्धन सन्ताप वा अभीष्टकी अप्राप्तिजनित सन्ताप—हरण करनेमें समर्थ हैं। और तुम्हारा आकृतिगत सौन्दर्य है तुम्हारा रूप; विविध आश्चर्य रूप दर्शन ही चक्षुकी सार्थकता है; अथवा सुन्दर वस्तुके दर्शन ही चक्षुकी सार्थकता है। तुममें सौन्दर्य पराकाष्ठाको प्राप्त हुआ है, इसलिये तुम्हारा रूप-दर्शन ही चक्षुकी चरम सार्थकता—अखिलार्थलाभम् है। ऐसे तुम्हारे गुण समूहकी कथा और ऐसे तुम्हारे रूपकी कथा सुनकर मेरा चित्त इतना मुग्ध हो गया है कि कुमारी-कन्या-सुलभ लज्जादि समस्त परित्यागपूर्वक

तुममें ही मेरा मन आसक्त हो रहा है।" ३९वें पयारके प्रमाणमें यह श्लोक है।

वंशीगते हरे लक्ष्म्यादिकेर मन ॥४०॥

लक्ष्मी आदिकका हरा गया मन वंशीकी ध्वनिको सुनके॥

श्रीकृष्णकी वंशी ध्वनि सुनकर लक्ष्मी आदि उनके माधुर्यसे आकृष्ट हुई थीं।

लक्ष्म्यादि—लक्ष्मी और अन्यान्य देवपत्नीगण।

किसी-किसी ग्रन्थमें 'वंशीगीते रूपे' इत्यादि पाठ है।

४०वें पयारके प्रमाणमें यह श्लोक है।

तथाहि श्रीमद्भागवते (१०।१६।३६)—

कस्यानुभावोऽस्य न देव विद्महे
तवाङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः।
यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाऽऽचरत्तपो
विहाय कामान् सुचिरं धृतव्रता ॥१५॥

संस्कृतटीका—न च तप आदि निमित्त एव एष भाग्योदयः किन्त्व-चिन्त्यां तव कृपावैभवमित्याहुः श्लोकत्रयेण कस्यानुभाव इति। तप आदिना हि ब्रह्मादयोऽपि यस्याः श्रियः प्रसादमिच्छन्ति सा श्रीर्ललनापि श्रीरेव ललना उत्तमा स्त्री यस्य त्वदङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकारस्य वाञ्छया तप आचरत् अस्य सर्पस्य स किं कृतवान् इति को वेत्तीत्यर्थः॥स्वामी॥

अन्वय—देव (हे देव)! **श्रीर्ललना** (परम सुकोमला लक्ष्मी देवी) **यद्वाञ्छया** (जिसकी—जिस पद-रेणुके स्पर्शके अधिकारकी प्राप्तिकी वासनाके लिये) **कामान्** (सब कामना) **विहाय** (त्यागकर) **धृतव्रता** (नियमबद्ध होकर) **सुचिरं** (बहुत कालतक) **तपः आचरत्** (तपस्या की थी), **अस्य** (इसके—इस कालिय-नागके सम्बन्धमें) **तव** (तुम्हारी) **अङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः** (चरण-रेणुका स्पर्शाधिकार) **कस्य** (किसका) **अनुभावः** (फल है), **न विद्महे** (नहीं जानता)।

अनुवाद—कालियनागकी पत्नीगणने श्रीकृष्णके प्रति कहा था—"हे देव! जिसके (पद-रेणु) के पानेकी इच्छासे कमलाने सब कामनाओंका विसर्जन करके

बहुत कालतक व्रत धारण करके तपश्चर्या की थी, वही पद-रेणु प्राप्त करनेका अधिकार किस पुण्यसे इस कालियनागने पाया, उसको हम नहीं जानती।"

कालिय-दमन-लीलामें श्रीकृष्ण जब कालियको दण्ड दे रहे थे, तब कालिय-नागकी पत्नियोंने श्रीकृष्णके क्रोध-उपशमनके उद्देश्यसे उनकी स्तुति करते हुए जो कहा था, उसकी कुछ बातें इस श्लोकमें व्यक्त हुई हैं। उनकी उक्तिका तात्पर्य यह है—"हे देव! आप इस कालियनागके फण-फणपर नृत्य करके उसको अपने चरण-रेणुके स्पर्शका अधिकार देते हैं; किंतु किसके प्रभावसे यह कालिय ऐसे सौभाग्यका अधिकारी हुआ, यह हमलोग समझ नहीं पा रही हैं। यह निश्चय ही किसी तपस्याका फल नहीं है; कारण, हमलोग जानती हैं कि इस महापापी कालियनागकी बात तो दूर रही, जो आपके नारायण-स्वरूपकी वक्षोविलासिनी हैं, जो पतिव्रताओंकी उत्स (स्रोत—उद्गम स्थान) हैं एवं ब्रह्मा आदि देवगण भी जिनके चरणोंका ध्यान करते हैं, वह लक्ष्मीदेवी परमसुकोमला होनेपर भी कठोर व्रत धारण करके बहुत काल पर्यन्त तपस्यामें रत रही, जिससे कि वे आपके चरण-रेणुके स्पर्शका अधिकार पा सकें; किंतु उन्होंने भी वह अधिकार नहीं पाया। कौन-सा सौभाग्य है कि यह कालिय ऐसी दुर्लभ वस्तु प्राप्त कर सका, यह हमारी बुद्धिके समझके बाहरकी बात है।

योग्यभावे जगते जत युवतीर गण ॥४१॥

त्रिभुवनकी सभी युवतियोंका भावानुपातसे उन-उनके॥

४१—पूर्ववती ४०वें पयारके 'हरे' शब्दके साथ इसका अन्वय अर्थ है।

योग्यभावे इत्यादि—श्रीकृष्ण वंशी-गीतद्वारा जगत्‌के युवतीगणका मन यथायोग्य भावसे हरण करते हैं। अगला श्लोक इसका प्रमाण है। श्लोकके 'त्रिलोक्याम्' शब्दका मर्म जान पड़ता है इस पयार्द्धमें 'जगते' शब्दद्वारा प्रकाशित होता है।

किसी-किसी ग्रन्थमें 'योग्यभाव जगते' पाठ है। योग्य हुआ है भाव जिस जगतका, वही जगत योग्यभाव जगत है, अर्थात् जिस जगतके सभी अधिवासीगणको श्रीकृष्ण विषयक भाव (या रति) योग्यता (अर्थात् शुद्ध सत्त्वोज्ज्वल चित्तसे

आनन्दरूपता) लाभ करके कृष्णाकर्षण-योग्यता प्राप्त हुई है। इस अर्थमें 'योग्य भाव जगत'से चिन्मय भगवद्धामको ही समझना चाहिये; कारण, अन्यत्र सर्व-साधारणके चित्तमें श्रीकृष्णाकर्षण योग्यता सम्भव नहीं। अगले दो पयारोंमें 'गुरुतुल्य स्त्रीगणके वात्सल्य आकर्षणको, पुरुषादिगणके दास्य-सख्यादि भावके आकर्षणकी एवं पक्षी, मृग, वृक्ष, लता प्रभृति चेतन अचेतनकी प्रेम-मत्तताकी' कथा जो लिखी गई है, वह भी एकमात्र अप्राकृत भगवद्धामके सम्बन्धमें लागू होती है, प्राकृत ब्रह्माण्डके सम्बन्धमें यह सम्भव नहीं लगता। विशेषतः प्राकृत ब्रह्माण्डमें स्त्री, अथवा पुरुष—केवल देह मात्र है; इस स्त्री-पुरुष शब्द वाच्य देहके साथ जीव-स्वरूपका वास्तविक कोई भी सम्बन्ध नहीं। प्राकृत जगतमें किसी विशेष भाग्यसे यदि कोई भी साधक-जीव श्रीकृष्णगुणसे आकृष्ट होता है, तो उसके देहके साथ चित्त स्थित भावका कोई भी सम्बन्ध न रहना भी असम्भव नहीं। दण्डकारण्यवासी मुनिगणका देह था पुरुषका, तो भी कान्ताभावकी अनुगतिसे श्रीकृष्णसेवाके लिये उनको लोभ उत्पन्न हुआ था। इससे समझमें आता है कि साध्यभावके साथ प्राकृत देह सूचित पुं-स्त्रीत्वका कोई भी सम्बन्ध नहीं। किंतु अप्राकृत भगवद्धाममें ऐसी बात नहीं; भगवद्धामके अधिवासीगणमें देह-देही-भेद नहीं है; सभी चिन्मय हैं। और उनके देह भी प्राकृत जीवकी तरह अपने-अपने कर्मोंके फलसे प्राप्त नहीं है, अतः उनका पुरुषत्व या स्त्रीत्व भी उनके पूर्व-जन्मार्जित कर्मका फल नहीं है; श्रीकृष्णसेवाके उपयोगी जो देह है, उसी देहमें वे अनादिकालसे प्रकटित हैं। इस **पयार्द्धमें** जो केवल युवती स्त्रीगणकी बात कही गई, पुरुषोंकी बात नहीं कही गई—इसीसे समझा जाता है कि चिन्मय भगवद्धामकी मधुर रसाश्रय युवतीवृन्दकी ओर ही यहाँ लक्ष्य है, प्राकृत ब्रह्माण्डके युवतीगण नहीं। कारण, प्राकृत ब्रह्माण्डके स्त्री व पुरुष सभी अनादि-कालसे मायाबद्ध हैं, उनका स्त्रीत्व या पुरुषत्व मायाका कार्य होनेसे श्रीकृष्णके आकर्षणका विषय नहीं हो सकता। जीव-स्वरूप ही आकर्षणका विषय है; जीव-स्वरूप आकृष्ट होनेपर, वह स्त्री-देहमें हो चाहे पुरुष-देहमें, इससे कुछ आता जाता नहीं। पुरुष-देहस्थ जीव-स्वरूप भी स्त्री सुलभ भावमें लुब्ध होकर आकृष्ट हो सकता है। इसलिये प्राकृत जगतके लिये केवल मात्र युवती स्त्रीगणके आकृष्ट

होनेकी बात कहनेकी कोई सार्थकता नहीं दीखती। उनके लिये श्रीकृष्णकी वंशीध्वनि सुननेकी सम्भावना भी नहीं। किंतु चिन्मय भगवद्धाममें जो स्त्री-देहमें प्रकट हुए हैं उनके भाव एवं सेवा नित्य ही स्त्री-जनोचित हैं; अतः वंशी-ध्वनि सुनकर उन सबके चित्तमें स्त्री-जनोचित भावका उद्रेक होना ही स्वाभाविक है।

इस पयार्द्धमें 'युवती' शब्दका तात्पर्य यह है कि ये समस्त स्त्री-लोक कान्ताभावोचित सेवाद्वारा श्रीकृष्णको सुखी करनेके लिये ही आकृष्ट होती है।

तथाहि श्रीमद्भागवते (१०।२६।४०)--

का स्त्र्यङ्ग ते कलपदायतवेणुगीत-
सम्मोहिताऽऽर्य चरितान्न चलेत्त्रिलोक्याम्।
त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं
यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन् ॥१६॥

संस्कृतटीका --ननु जुगुप्सितमौपपत्यमित्युक्तं तत्राह कास्त्रीति। अङ्ग हे कृष्ण! कलानि पदानि यस्मिन् तत् आयतं दीर्घं मूर्च्छितं स्वरालाप-भेदस्तेन। कलपदायतवेणुगीतेति पाठे कलपदायतमयं वेणुगीतं तेन सम्मोहिता सती का वा स्त्री आर्यचरितात् निजधर्मात् न चलेत्। यन्मोहिताः पुरुषा अपि चलिताः। किञ्च त्रैलोक्यसौभगमिति। यत् यतः। अबिभ्रन् अबिभरुः। त्वद्द्योतक-शब्द-श्रवणमात्रेणापि तावन्निज-धर्मत्यागो युक्तः किं पुनस्त्वदनुभवेनेति भावः॥ स्वामी॥

अन्वय—अङ्ग (हे अङ्ग, हे कृष्ण)! त्रिलोक्यां (त्रिलोकीमें) का (कौन) स्त्री (स्त्री लोक) ते (तुम्हारे) कलपदायतवेणुगीत-सम्मोहिता (मधुर और अस्फुट पदसम्वलित एवं दीर्घ मूर्च्छित-स्वरालाप-भेदयुक्त वेणुगीतसे विमोहित होकर) च त्रैलोक्यसौभगं (एवं त्रिलोकगत-निखिल सौन्दर्य-सम्पद् जिसके अन्तर्भूत है, ऐसे) इदं (तुम्हारे इस) रूपं (रूपको) निरीक्ष्य (निरीक्षण करके, दर्शन करके) आर्यचरितात् (अपने सदाचारसे) न चलेत् (विचलित न हो)?

अनुवाद—गोपीगणने कहा—"हे श्रीकृष्ण! त्रिलोकीमें ऐसी कौन स्त्री है, जो तुम्हारे अस्फुट मधुर पद-सम्वलित एवं दीर्घ मूर्च्छित स्वरालाप भेद युक्त वेणु-गीतसे विमोहित होकर एवं त्रिलोकगत निखिल सौन्दर्य सम्पद् जिसमें अन्तर्भूत है, तुम्हारे उस रूपको निरीक्षण करके स्वधर्मसे विचलित न हो जाय? स्त्रियोंकी बात तो दूर रही, तुम्हारे इस वेणुगीतको सुनकर एवं तुम्हारे इस रूपका दर्शन करके गाय, पक्षी, वृक्ष और वन्य पशुगण पर्यन्त पुलकित हो जाते हैं।

शारदीय-महारासकी रात्रिमें श्रीकृष्णके वंशीस्वरसे आकृष्ट होकर व्रज सुन्दरीगण श्रीकृष्णके साथ मिलनेके उद्देश्यसे दिग्-विदिग् ज्ञान शून्य होकर वृन्दावनमें आ उपस्थित होनेपर, नाना प्रकारसे धर्मोपदेश देकर श्रीकृष्णने जब उनको घर जाकर पति सेवादि आर्यपथका अनुसरण करनेको कहा, तब उन्होंने श्रीकृष्णको लक्ष्य करके जो-जो कहा था उसमेंसे कुछ बातें इस श्लोकमें व्यक्त हुई हैं। वे बोलीं—"हे कृष्ण! हे अङ्ग! हे प्रियतम! तुम हमलोगोंको घर लौट जानेके लिये उपदेश देते हो, क्योंकि पति-सेवा ही पतिव्रता रमणीका कर्त्तव्य है और यदि हमलोग लौटकर घर न जायँ, तो पतिव्रता रमणीगण हमारी निन्दा करेंगी। किंतु हम जो कहती हैं, उसको सुनो :— जो तुम्हारी वेणु-ध्वनिको और तुम्हारे रूपकी अपूर्व शक्तिकी बातको जानती हैं, वे हमारी निन्दा नहीं करेंगी; अथवा तुम्हारी यह वंशीध्वनि सुनकर एवं तुम्हारे इस रूपको देखकर हमारी निन्दा करने योग्य और कोई भी पतिव्रता जगतमें नहीं रहेगी, क्योंकि सभीको हमारी ऐसी दशामें पड़ना पड़ेगा। कारण उर्ध्व, अधः और मध्य—इस **त्रिलोक्यां**—त्रिलोकीमें ऐसी कौन पतिव्रता स्त्री है जो तुम्हारे कलपदायत-वेणुगीत-सम्मोहिता—कल (मधुर एवं अस्फुट) पद है जिसमें ऐसी आयत (दीर्घ मूर्च्छित—मूर्च्छा नामक स्वरभेद युक्त) वेणुगीत द्वारा (वैसा वेणुगीत सुनकर) सम्मोहित होकर एवं **त्रैलोक्यसौभगं**—त्रिलोकगत निखिल-सौन्दर्य-सम्पद् जिसके अन्तर्भूत है, ऐसा तुम्हारा रूप दर्शन करके **आर्यचरितात्**—पति-सेवादि अपने धर्मसे विचलित न हो जाय? अर्थात् ऐसी कोई भी स्त्री नहीं जो पातिव्रत्यादिसे विचलित होकर तुममें चित्त समर्पण न कर दे। और भी कहती हैं सो सुनो :— हमलोग त्रिलोकीमें रहने वाली रमणीवृन्द तो सौन्दर्यपिपासु

ही हैं। इसलिये हम लोगोंके लिये तुम्हारे रूप-गुणसे मुग्ध होना स्वाभाविक है। किंतु ये जो गृह-पालित पशु, अथवा हरिण आदि वन्य पशु, अथवा ये जो पक्षीगण हैं—जो साधारणतया मनुष्यके सौन्दर्यादि मर्मको विशेष कुछ नहीं समझते—उनकी बात भी छोड़ दें, तो ये वृक्षगण—जो स्थावर हैं, मनुष्य या पशु-पक्षीकी भाँति दृष्टि-शक्ति या श्रवण-शक्ति जिनमें नहीं है—तुम्हारी वंशीध्वनि उठनेपर, अथवा तुम्हारे असमोर्द्ध माधुर्यमय रूपको लेकर उनके सम्मुख तुम्हारे उपस्थित होनेपर, उनके भी शरीरमें पुलकका उदय होता है— उससे वे भी जो आनन्दित होते हैं, उनके चित्त भी जो आकृष्ट होते हैं—पुलकके द्वारा वही तो सूचित होता है। पशु-पक्षीकी, यहाँतक कि स्थावर वृक्षादिकी भी जब इस प्रकारकी अवस्था हो जाती है, तब हमारी बात और क्या कही जाय? ४१वें पयारोक्तिके प्रमाणमें यह श्लोक है।

गुरुतुल्य स्त्रीगणेर वात्सल्ये आकर्षण।
दास्य-सख्यादि-भावे पुरुषादिगण ॥४२॥

वात्सल्यभावसे आकर्षित मातृस्थानीया नारीगण।
लेकर भावोंको दास्य-सख्य आदिक पुरुषोंका आकर्षण ॥

गुरुतुल्य स्त्रीगणेर— मौसी, बुआ, मामी, चाची, ताई प्रभृति गुरुतुल्य सम्बन्धके अनुरूप सम्बन्ध जिन स्त्रीगणके साथ हैं, वे ही गुरुतुल्य स्त्रीगण हैं।

श्रीकृष्णके गुणमाहात्म्यसे आकृष्ट होकर सभी अपनी सेवाद्वारा उनको प्रसन्न करनेके लिये लुब्ध होती हैं। किंतु कौन किस प्रकारकी सेवा करनेको लुब्ध होती हैं, वही बताते हैं। पूर्वमें बताया जा चुका है कि श्रीकृष्ण-गुणसे युवती स्त्रीगण आकृष्ट होती हैं—(कान्ता भावकी सेवाके लिये); इस पयारमें बताया जाता है कि गुरु-श्रेणी स्त्रियाँ वात्सल्य भावकी सेवाद्वारा एवं पुरुष—दास्य-सख्यादि भावकी सेवाद्वारा श्रीकृष्णको सुखी करनेको आकृष्ट होते हैं।

इस पयारमें भी 'गुरुतुल्य स्त्रीगण' कहनेसे चिन्मय भगवद्धामकी बात ही कही गयी प्रतीत होती है। कारण, प्राकृत ब्रह्माण्डमें श्रीकृष्णकी गुरुतुल्य स्त्रीगणके अस्तित्वकी कल्पना सङ्गत नहीं।

दास्य-सख्यादि—यहाँ 'आदि' शब्दसे वात्सल्यका बोध होता है। नन्द, उपनन्द प्रभृति पुरुष वर्गका श्रीकृष्णके प्रति वात्सल्य भाव था।

पुरुषादिगण—यहाँपर 'आदि' शब्दके साथमें 'दास्य-सख्यादि' के 'आदि' शब्दका सम्बन्ध है। 'पुरुषादि' के आदि शब्दसे यशोदा-रोहिणी आदि स्त्रियोंका बोध होता है ; श्रीकृष्णमें उनका वात्सल्य भाव था।

पक्षी मृग वृक्ष लता चेतनाचेतन।
प्रेमे मत्त करि आकर्षये कृष्णगुण ॥४३॥

खग-मृग-तरु-लता सभीको ही, चेतन अथवा चेतना-रहित।
गुण कृष्णचन्द्रके करते हैं, कर मत्त प्रेममें आकर्षित॥

श्रीकृष्ण-गुणकी ऐसी अचिन्त्य शक्ति है कि वह स्त्री-पुरुषादि एवं लक्ष्मी आदिको तो आकर्षण करती ही है, पक्षी, मृग आदिको भी, यहाँतक कि वृक्ष-लतादिको भी आकर्षण करके रखती है। यह उक्ति भी केवल चिन्मय भगवद्धामके चिन्मय पक्षी-मृग-वृक्ष-लता आदिके लिये ही सम्भव है।

तथाहि पूर्व श्लोकस्य परार्द्धम् (श्री म० भा० १०।२६।४०)

त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं
यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन् ॥१७॥

श्लोक १७का अन्वय अनुवाद पूर्ववर्ती श्लोकमें देखिये। ४३वें पयारके प्रमाणमें यह श्लोक है।

'हरि'का अर्थ

'हरि'-शब्देर नाना अर्थ, दुइ मुख्यतम—।
सर्व्व अमङ्गल हरे, प्रेम दिया हरे मन ॥४४॥

'हरि' पद नाना अर्थोंवाला, दो अर्थ किंतु सबसे प्रधान।
जो सर्व-अमङ्गलहारी, जो मन हर लेता कर प्रेम-दान ॥

अब 'हरि'-शब्दका अर्थ करते हैं। हृ-धातुसे हरि-शब्द बनता है ; हृ-धातुका अर्थ हरण करना। अतः जो हरण करें वे ही हरि—यही हरि-शब्दका मुख्य व स्वरूपगत अर्थ है।

नाना अर्थ—हरि-शब्दके अनेक अर्थ हैं। **दुइ मुख्यतम**—हरि-शब्दके बहुतसे अर्थोंमें अनेक मुख्य हैं ; किंतु उनमें भी दो ही अर्थ मुख्यतम हैं—सब अर्थोंमें श्रेष्ठ हैं।

सर्व्व अमङ्गल इत्यादि—मुख्यतम अर्थ दो कौनसे हैं सो बताते हैं ; जो हरण करें वे हरि। मुख्यतम अर्थमें हरि क्या हरण करते हैं? उत्तरः—प्रथमतः सर्व अमङ्गल हरण करते हैं ; द्वितीयतः—प्रेम देकर मन हरण करते हैं। ये दो ही हरि-शब्दके मुख्यतम अर्थ हैं। परवर्ती पयारोंमें ये दो अर्थ और भी परिस्फुट रूपसे वर्णित किये गये हैं।

जीव स्वरूपतः श्रीकृष्णका दास है। किंतु मायावद्ध जीव अनादिकालसे श्रीकृष्ण-विस्मृतिके कारण श्रीकृष्ण-सेवा-सुख उपभोग करनेके बजाय मायाका ग्रास बनकर नाना प्रकारके दुःख भोग रहा है।

श्रीकृष्णके जो दो गुण—मायावद्ध जीवको अपने स्वरूपमें लाकर अपनी चरण-सेवाका आनन्द दे सके वे ही दो गुण जीवके लिये मुख्यतम गुण हैं। इन दो गुणोंको उपलक्ष्य करके ही 'हरि' शब्दके मुख्यतम अर्थ दो किये गये हैं। प्रथम—वे सर्व अमङ्गलका हरण करते हैं ; अर्थात् जीवके समस्त अमङ्गलका हेतु जो मायाका बन्धन है उसको दूर करते हैं। दूसरे—मायासे जीवको मुक्त करके उसको प्रेम देते हैं एवं स्वचरण सेवा देकर धन्य और कृतार्थ करते हैं।

यदि माया-मुक्त करके ही वे शान्त हो जाते तो जीवके प्रति उनकी करुणाका विशेष परिचय नहीं मिलता, क्योंकि सायुज्य मुक्ति प्राप्त जीव भी मायासे मुक्त होता है, परन्तु वह श्रीकृष्ण-चरण-सेवाके अनिर्वचनीय आनन्दसे वञ्चित होता है।

बताया जा चुका है कि जो हरण करें, वे ही हरि हैं। हरण करनेका अर्थ है चोरी करना। तो फिर हरि शब्दका सीधा अर्थ हुआ 'चोर'। लेकिन साधारण चोरमें और श्रीकृष्ण-रूप चोर (हरि) में अनेक पार्थक्य है। साधारण चोर गृहस्थका सामान ले जाते हैं, गृहस्थ जिस वस्तुको मूल्यवान समझता है, उसीको ले जाते हैं और उसके बदलेमें गृहस्थके लिये और कुछ नहीं छोड़ जाते ; व्यस्तताके कारण सेंध काटनेके यन्त्रादि जो कुछ छोड़ जाते हैं, वह गृहस्थके कोई काम नहीं आते ; एवं उसकी रक्षा करनेके प्रयत्नमें कई बार गृहस्थको विपत्तिमें पड़ जाना होता है। किंतु श्रीहरिरूप चोरका स्वभाव अद्भुत है। संसारमें जीव मायिक वस्तुको ही उपादेय समझता है एवं मायिक वस्तुमें जो उसकी आसक्ति है, उसको भी उपादेय समझता है। श्रीहरि जीवकी इस उपादेय वस्तुका (मायिक वस्तुमें आसक्तिका) हरण कर लेते हैं और उसके बदलेमें उसके चित्तमें जो छोड़ जाते हैं, वह साधारण चोरकी तरह व्यस्तताके कारण नहीं, अनिच्छाकृत भी नहीं। वह जीवके प्रति विपद्जनक भी नहीं—बल्कि परम उपादेय और परम आस्वाद्य है। मायिक वस्तुमें आसक्तिके बदलेमें श्रीहरि जीवके चित्तमें जो देते हैं, वह है कृष्णप्रेम—उसके फलस्वरूप श्रीकृष्ण-चरण-सेवाका अपूर्व माधुर्य आस्वादित हो सकता है, जिसके आस्वादन-माधुर्यके निकट विषय-भोग्य वस्तु तो दूरकी बात है—स्वर्गका अमृत भी अति तुच्छ है—यहाँतक कि मोक्षानन्द भी अति हेय है।

जैछे-तैछे जोइ-कोइ करये स्मरण ।
चारिविध पाप तार करे संहरण ॥४५॥

जिस किसी भाँति जो कोई भी करता है उनका स्मरण-ध्यान ।
हैं पाप चतुर्विध हर लेते उसका अशेष वे गुण-निधान ॥

हरि किस प्रकार सब अमङ्गल दूर करते हैं उसका किञ्चित वर्णन इस पयारमें एवं बाकी अगले पयारमें करते हैं।

जैछे तैछे— जिस किसी भी प्रकारसे, येन केन रूपेण ; हेय बुद्धिसे अथवा

श्रद्धासे, स्तुतिके बहाने अथवा निन्दाके बहाने, शुचि अवस्थामें अथवा अशुचि अवस्थामें, शुभ समयमें अथवा अशुभ समयमें, जिस किसी भी प्रकारसे क्यों न हो, श्रीहरिका स्मरण करने मात्रसे चारों प्रकारके पाप नष्ट होते हैं। **जोइ-कोइ**—जो कोई भी ; वैष्णव हो चाहे अवैष्णव, हिन्दु हो चाहे अहिन्दु, स्त्री हो चाहे पुरुष, शिशु हो चाहे वयस्क, रोगी हो चाहे निरोगी, धनी हो चाहे निर्धन, जो कोई भी हरि स्मरण करेगा, वह चारों प्रकारके पापोंसे मुक्त होगा। श्रीहरि स्मरणमें देश, काल, पात्र और अवस्थाकी कोई अपेक्षा नहीं।

चारिविध पाप—पातक, उपपातक, अतिपातक और महापातक— ये चार प्रकारके पाप अथवा—अप्रारब्ध फल, फलोन्मुख, बीज और कूट, ये चार प्रकारके पाप। कूट—प्रारब्धकी ओर उन्मुख। बीज—वासनामय। फलोन्मुख—प्रारब्ध। अप्रारब्ध फल—जो अभी भी कूटादि रूप कार्य व्यवस्थाको प्राप्त नहीं हुए हैं अर्थात् प्रारब्ध रूपको प्राप्त नहीं हुए हैं, अर्थात् सञ्चित कर्म।

पापादिका नाश अवश्य ही श्रीहरि स्मरणका मुख्य फल नहीं, यह आनुषङ्गिक फल है ; मुख्य फल तो प्रेम प्राप्ति है।

तथाहि श्रीमद्भागवते (११।१४।१६)—

यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात्।
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः ॥१८॥

संस्कृतटीका—पाकाद्यर्थं प्रज्वलितोऽग्निर्यथा काष्ठानि भस्मसात् करोति तथा रागादिना कथञ्चित् मद्विषया सती भक्तिः समस्तपापानीति। भगवानपि स्वभक्तिमहिमाश्चर्येण सम्बोधयति अहो उद्धव विस्मयं शृण्विति ॥स्वामी॥

अन्वय—**उद्धव** (हे उद्धव)! **सुसमृद्धार्चिः** (जिसकी शिखा अर्थात् लपट या लौ उत्तम रूपसे याने अच्छी प्रकार वृद्धिको प्राप्त हुई है ऐसी प्रज्वलित) **अग्निः** (अग्नि) **यथा** (जिस प्रकार) **एधांसि** (काष्ट समूहको) **भस्मसात् करोति** (भस्मसात् कर देती है) **तथा** (उसी प्रकार) **मद्विषया** (मेरे विषयक)

भक्तिः (भक्ति) कृत्स्नशः (सम्पूर्ण रूपसे) एनांसि (पाप समूहको) [भस्मसात् करोति] (भस्मीभूत कर डालती है)।

अनुवाद—श्रीकृष्णने कहा—"हे उद्धव! प्रज्वलित अग्नि जिस प्रकार समस्त काष्ट राशिको भस्मीभूत करती है उसी प्रकार मेरे विषयकी भक्ति समस्त पापोंको निःशेष रूपसे दग्ध कर डालती है।

पूर्ववर्ती पयारके प्रमाणमें यह श्लोक है।

तबे करे भक्तिबाधक कर्म्माविद्या-नाश।
श्रवणाद्येर फल 'प्रेमा' करये प्रकाश ॥४६॥

करते फिर बाधक भक्ति-मार्गके कर्म-अविद्याका विनाश।
श्रवणादिकके फल प्रेमाका करते उरमें प्रकटित प्रकाश॥

तबे—चार प्रकारके पापोंका नाश करनेके बाद। **भक्तिबाधक**—जो भक्तिमें बाधा उत्पन्न करे; भक्तिके उन्मेषमें विघ्नकारक। **कर्म्माविद्या**—कर्म और अविद्या। कर्म शुभ हो अथवा अशुभ, सभी भक्तिमें बाधक हैं। "कृष्णभक्तिर बाधक जत शुभाशुभ कर्म (आदिलीला, प्रथम परिच्छेद ५२वाँ पयार)"। **अविद्या**—रजस्तमोमयी मायाका नाम अविद्या है। मायाजनित अज्ञान, श्रीकृष्णके विषयमें अज्ञानता; श्रीकृष्ण-बहिर्मुखता-साधकज्ञान। यहाँ त्रिगुणात्मिका मायाको ही अविद्या कहा गया है।

श्रवणाद्येर—श्रवण-कीर्त्तनादि नव-विधा भक्तिका। **श्रवणाद्येर फल प्रेमा**—जो श्रीकृष्ण प्रेम, श्रवण-कीर्त्तनादि नव-विधा-भक्ति-अङ्गके अनुष्ठानके फलसे हृदयमें उदय होता है (श्रवणादि शुद्ध चिते करये उदय। मध्यलीला, २२वाँ परिच्छेद, ५७वाँ पयार)— हरि स्मरणके फलसे वही प्रेम चित्तमें प्रकाशित होता है।

हरि-स्मरणके फलसे आरम्भमें आनुसङ्गिक भावसे चार प्रकारके पाप नष्ट होते हैं। इसके बाद शुभाशुभ कर्म वासना दूर होती है, श्रीकृष्ण विषयमें बहिर्मुखता-साधक ज्ञान तिरोहित अर्थात् नष्ट होता है; अन्तमें चित्त शुद्ध होकर

प्रेम प्रकट होता है। मध्यलीला, २३वाँ परिच्छेद, ५वें पयारकी टीका देखिये।

श्रवणाद्येर फल प्रेमा—इत्यादि पयारार्द्धका कोई-कोई इस प्रकार भी अर्थ करते है :—"श्रवणादि साधन भक्तिमें रुचि उत्पन्न करके उसमें लगा देते हैं और उसके उपरान्त उन्हीं श्रवणादि साधन-भक्तिके फल प्रेमको उसके हृदयमें प्रकाशित करते हैं।" किसी-किसी स्थानमें यह अर्थ भी सङ्गत हो सकता है, किंतु इसको ही उक्त पयारार्द्धका एक मात्र अर्थ मान लेनेसे यह समझा जायगा कि श्रवणादि नवधा भक्ति-अङ्ग सबकी सहायताके बिना हरि-स्मरण स्वतन्त्र भावसे कृष्ण-प्रेम नहीं दे सकता। किंतु श्रीमन्महाप्रभुने बताया है कि एक अङ्ग साधनके द्वारा भी कृष्ण-प्रेम मिल सकता है। स्मरण नवधा भक्तिका एक अङ्ग है, अतः केवल श्रीहरि स्मरण द्वारा भी प्रेम मिल सकता है (मध्यलीला, २२वाँ परिच्छेद, ७६वें पयारकी टीका देखिये)। विशेषतः **श्रीठाकुर महाशयने** (श्रीनरोत्तम ठाकुरने) इस स्मरणको ही रागानुगीय साधनका मुख्य अङ्ग बताया है—"साधन स्मरण लीला, इहाते ना कर हेला"; "मनेर स्मरण प्राण"—इत्यादि। रागवर्त्म-चन्द्रिका भी यही बात बताती है।

निजगुणे तबे हरे देहेन्द्रिय-मन।
ऐछे कृपालु कृष्ण, ऐछे ताँर गुण ॥४७॥

तब अपने गुण गणके द्वारा लेते देहेन्द्रिय-मनको हर।
ऐसे कृपालु श्रीकृष्णचन्द्र, ऐसी गुणावलीके आकर॥

तबे—हृदयमें प्रेम प्रकाशन करनेके बाद। **निजगुणे**—श्रीकृष्ण अपने गुण माधुर्यादि द्वारा। **हरे देहेन्द्रिय-मन**—देहको हरण करते हैं, इन्द्रिय (चक्षु, कर्णादि बहिरिन्द्रिय) को हरण करते हैं, एवं मनको भी (मन, बुद्धि, अहङ्कार चित्तादि अन्तरिन्द्रियको भी) हरण करते हैं। देह हरण यही है—"देहमें 'मैं' 'मेरा' इत्यादि भाव दूर कराकर श्रीकृष्णके दास्यमें नियुक्त करते हैं"। चक्षु-कर्णादि बहिरिन्द्रिय हरण यही है—"चक्षु आदि इन्द्रियगणको प्राकृत वस्तुसे हटाकर श्रीकृष्ण सम्बन्धी

व्यापारमें नियुक्त करते हैं। श्रीकृष्णके अथवा श्रीविग्रहके रूपादि दर्शनमें चक्षुको, नाम-गुणादि श्रवणमें कर्णको, चरण-तुलसी आदिके आघ्राणमें नासिकाको, महाप्रसादादि ग्रहणमें अथवा नाम-गुण-लीलादि कीर्त्तनमें जिह्वाको एवं प्रसादी चन्दन-माल्यादिके स्पर्शमें त्वक्को नियुक्त करते हैं।" और मन, बुद्धि, चित्तादिको श्रीकृष्णके नाम-गुण-लीलादिका स्मरण-मननादिमें नियुक्त करते हैं एवं 'मै पण्डित, मैं मूर्ख, मैं धनी, मैं दरिद्र, इत्यादि अहङ्कार दूर करके 'मैं कृष्णका दास' इत्यादि अभिमान (अहङ्कारात्मक वृत्तिका कार्य) उत्पन्न करते है।

चारि पुरुषार्थ छाड़ाय, गुणे हरे सभार मन।
'हरि' शब्देर एइ मुख्यार्थ करिल लक्षण ॥४८॥

चारों पुरुषार्थ छुड़ा करके गुण लेते सबके मनको हर।
'हरि' पदके प्रमुख अर्थकी दी इस भाँति सलक्षण व्याख्या कर ॥

चारि पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—यह चार प्रकारकी पुरुषार्थ वासना दूर करते हैं। **हरे सभार मन**—सबका मन, यहाँतक कि स्वयं श्रीकृष्णका मन भी अपने गुणसे मुग्ध हो जाता है। 'शृङ्गार रसराज-मूर्त्तिधर। अतएव आत्म पर्य्यन्त सर्व्व चित्त हर॥ (मध्यलीला, ८वाँ परिच्छेद, ११२वाँ पयार)।' यहाँतक 'हरि' शब्दके मुख्य अर्थका विवरण किया गया।

'च' तथा 'अपि' का अर्थ

'च' 'अपि' दुइ शब्द अव्यय हय।
जेइ अर्थे लागाइये, सेइ अर्थ कहय ॥४९॥

हैं अव्यय दोनो शब्द 'च', 'अपि', व्याकरण-शास्त्र अनुसार विदित।
कह रहा अर्थ इनके, वे ही जिनमें प्रयोग इनका प्रचलित ॥

अब 'आत्माराम'…' श्लोकके अन्तर्गत 'च' और 'अपि' शब्दोंका अर्थ बताया जाता है। 'च' और 'अपि'—ये दोनों शब्द अव्यय हैं। अव्यय—व्याकरणका एक शब्द है; किसी भी प्रकारकी विभक्तिके योगसे जिन शब्दोंका कोई भी रूपान्तर नहीं होता, उन शब्दोंको अव्यय शब्द कहते हैं। **जेइ अर्थे** इत्यादि—'च' और 'अपि'—ये दोनों शब्द किसी भी अर्थमें व्यवहृत हो सकते हैं।

तथापि च-कारेर कहे मुख्य अर्थ सात ॥५०॥

फिर भी चकारके कहे मुख्य जाते हैं केवल सात अर्थ ॥

तथापि इत्यादि—'च' और 'अपि'—ये किसी भी अर्थमें व्यवहृत होनेपर भी इनके कुछ मुख्य अर्थ हैं। वे मुख्य अर्थ यहाँ बताये जा रहे हैं। 'च' शब्दके मुख्य अर्थ सात हैं। परवर्ती श्लोकमें उन सात अर्थोंको प्रकाशित किया गया है।

तथाहि विश्वप्रकाशे—

चान्वाचये समाहारेऽन्योन्यार्थे च समुच्चये।
यत्नान्तरे तथा पादपूरणेऽप्यवधारणे ॥१६॥

संस्कृतटीका—च इति। अन्वाचये एकतरस्य प्राधान्ये। समाहारे एक रूपे आहरण-विशिष्टिका क्रिया समाहारस्तस्मिन्।चक्रवर्ती ॥

अन्वय—सरल है।

अनुवाद—किसी एककी प्रधानता बतानेमें, समाहारमें (एकत्रीकरणमें), परस्पर अर्थमें, समुच्चयमें (पूर्व वाक्यका पर-वाक्यमें अनुवर्तन), यत्नान्तरमें, श्लोकके पाद पूरणमें और निश्चयार्थमें 'च' शब्दका प्रयोग होता है।

'अपि' शब्देर मुख्य अर्थ सात विख्यात ॥५१॥

हैं इसी भाँति ''अपि'' पदके भी, बस, मात्र सात विख्यात अर्थ ॥

'अपि'-शब्देर इत्यादि—'अपि' शब्दके बहुतसे अर्थ रहनेपर भी सात मुख्य अर्थ हैं। ये सात अर्थ परवर्ती श्लोकमें दिये गये हैं।

तथाहि विश्वप्रकाशे—

अपि सम्भावना-प्रश्न-शङ्का-गर्हा-समुच्चये ।
तथा युक्तपदार्थेषु कामाचारक्रियासु च ॥ २० ॥

संस्कृतटीका—सम्भावना अत्रैवास्ति न वा । समुच्चये निश्चयार्थे । चक्रवर्ती ॥

अन्वय—सरल है ।

अनुवाद— सम्भावना, प्रश्न, शङ्का, निन्दा, समुच्चय, युक्तपदार्थ एवं कामाचार-क्रिया—इन सात अर्थों में 'अपि' शब्द प्रयुक्त होता है ।

एइ एकादश पदेर अर्थ निर्णय ।
एबे श्लोकार्थ करि, जाहाँ जे लागय ॥५२॥

अर्थोंका निर्णय किया गया ग्यारह शब्दोंका इस प्रकार ।
अब जहाँ अर्थ जो बैठेगा, श्लोकार्थ बताता तदनुसार ॥

एइ एकादश इत्यादि—'आत्माराम...' श्लोकके अन्तर्गत ये ग्यारह पद हैं । अबतक इन ग्यारह पदोंका पृथक्-पृथक् अर्थ किया गया । अब यथायथ भावसे इन सब अर्थोंको मिलाकर मूल श्लोकका अर्थ करते हैं ।

'ब्रह्म' शब्दका अर्थ

'ब्रह्म'-शब्देर अर्थ—तत्त्व सर्व्वबृहत्तम ।
स्वरूप ऐश्वर्य्य करि नाहि जार सम ॥५३॥

है 'ब्रह्म' शब्दका वाच्य वही, जो सर्वबृहतम तत्त्व परम ।
ऐश्वर्य-स्वरूप उभयमें ही कोई भी कहीं न जिसके सम ॥

पूर्वमें बताया गया है कि 'आत्मा' शब्दका एक अर्थ 'ब्रह्म' है । अब ब्रह्मसे क्या समझा जाता है सो बताते हैं । ब्रह्म—बृन्ह्+मन् कर्त्तृवाच्यमें । बृन्ह्

धातुसे कर्त्तृवाच्यमें ब्रह्म शब्द निष्पन्न हुआ है। वृह्‌न् धातु वर्द्धन अर्थमें, बड़ा होना या बड़ा करना। जिससे जो स्वयं बड़ा होता है और दूसरेको भी बड़ा करता है, वही ब्रह्म है (वृंहति वृंहयति च)। **"वृहत्त्वाद् वृंहणत्वाच्च तद् ब्रह्म परमं विदुः। वि० पु० १।१२।५७॥"** ब्रह्म शब्दका एक अर्थ हुआ बड़ा, जिसका बड़ापन अन्यकी अपेक्षा नहीं रखता, अर्थात् जो सब विषयोंमें सबकी अपेक्षा बड़ा है, वही ब्रह्म है। इसीसे इस पयारमें कहा गया है—**"ब्रह्म-शब्देर अर्थ तत्त्व सर्व्ववृहत्तम।"** जो सर्व्वापेक्षा वृहत्तम (बड़ा) तत्त्व है वह ही ब्रह्म है। **स्वरूप ऐश्वर्य्य** इत्यादि—किस किससे बड़ा सो बताते हैं। स्वरूपमें ऐश्वर्यमें जिसके समान कोई नहीं, अर्थात् स्वरूपमें और ऐश्वर्यमें जो सर्व्वापेक्षा बड़े हों वे ही ब्रह्म हैं।

तथाहि विष्णुपुराणे (१।१२।५७)--

वृहत्त्वाद् वृंहणत्वाच्च तद् ब्रह्म परमं विदुः ॥ २१

संस्कृतटीका--वृहत्वात् अतिशय-वस्तुत्वात् सर्वानुमापकत्वात्। **चक्रवर्ती ॥**

अन्वय सरल है।

अनुवाद—सर्वापेक्षा वृहत्त्व युक्त एवं वृहत्-करण शक्ति प्रयुक्त जो तत्व वस्तु है उसे परम ब्रह्म कहा जाता है। पूर्ववर्ती ५३वें पयारके प्रमाणमें यह श्लोक है।

सेइ 'ब्रह्म' शब्दे कहे—स्वयं भगवान्।
जाहा बिनु कालत्रये वस्तु नाहिं आन ॥५४॥

उस 'ब्रह्म' शब्दसे अभिप्रेत भगवान स्वयं जो सर्वेश्वर।
तीनों कालोंमें नहीं सिवा जिनके कोई भी वस्तु अपर ॥

सेइ 'ब्रह्म' इत्यादि—ब्रह्म शब्द स्वयं भगवान्‌का द्योतक है। ब्रह्म-शब्दका एक अर्थ बताया है 'वृंहयति'—जो दूसरेको बड़ा करे। जो दूसरेको बड़ा करे, उसमें अवश्य ही बड़ा बनानेकी शक्ति है, अतः ब्रह्म शक्ति सहित है, वे शक्तिहीन (निःशक्तिक) नहीं। ब्रह्म शब्दका एक और अर्थ हुआ बड़ा। ऐसी स्थितिमें

शक्ति आदिसे जो सर्वापेक्षा बड़े हैं वे ही ब्रह्म हैं। जो शक्ति आदिमें सर्व्वापेक्षा बड़े हैं उन्हें ही भगवान् कहा जाता है। अतः ब्रह्म शब्दसे स्वयं भगवान् ही सूचित होते हैं। मध्यलीला, २०वें परिच्छेद, श्रीसनातनशिक्षाके अन्तर्गत १३१वें पयारकी टीकासे स्पष्ट है कि ब्रह्म शब्दका मुख्य अर्थ—अद्वय ज्ञान तत्त्व है; वे साकार हैं और सशक्तिक हैं।

जाहा बिनु इत्यादि—कालत्रये (भूत, वर्तमान एवं भविष्यमें) जिस ब्रह्म (याने स्वयं भगवान्) के अतिरिक्त और कोई भी वस्तु नहीं है, अर्थात् ब्रह्मको छोड़कर और किसी भी वस्तुकी अन्य-निरपेक्ष-सत्ता (स्वतन्त्र सत्ता) नहीं है और हो भी नहीं सकती और वे त्रिकाल-सत्य-नित्य हैं। ब्रह्म सजातीय विजातीय भेद शून्य हैं यही बताया गया है। इस पयारार्द्धकी जगह किसी ग्रन्थमें 'तिन काले सत्य जेइ शास्त्र प्रमाण'—ऐसा पाठान्तर है और किसी अन्य ग्रन्थमें 'अद्वितीय-ज्ञान जाहा बिनु नहीं आन'—ऐसा पाठान्तर भी है। अद्वितीय-ज्ञानका अर्थ—अद्वय ज्ञान-तत्त्व।

परवर्ती 'वदन्ति...' इत्यादि श्लोक यहाँ उद्धृत करनेका तात्पर्य यह है कि अद्वय ज्ञान-तत्त्व जो ब्रह्म है, उस ब्रह्मको उपासना भेदसे कोई (निर्विशेषवादीगण) (निर्विशेष) ब्रह्म कहते हैं, कोई (योगीगण) परमात्मा कहते हैं और कोई (भक्तगण) भगवान् कहते हैं। इसका हेतु यही है कि जिनकी जैसी उपासना है, जो जिस रूपमें ब्रह्मको पानेकी इच्छा करते हैं, ब्रह्म भी उसी रूपसे उनपर कृपा करते हैं। इसीलिये उपासना भेदसे भिन्न-भिन्न साधकके निकट वे भिन्न-भिन्न भावसे प्रकट होते हैं।

"ज्ञान, योग, भक्ति तिन साधनेर वशे।
ब्रह्म, आत्मा, भगवान् त्रिविध प्रकाशे॥ चै०च०म० २०।१३४॥"

तथाहि श्रीमद्भागवते (१।२।११)—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥२२॥

संस्कृतटीका—ननु तत्त्वजिज्ञासा नाम धर्मजिज्ञासैव धर्म एव हि तत्त्वमिति केचित् तत्राह वदन्तीति। तत्त्वविदस्तु तदेव तत्त्वं वदन्ति, किं

तत् यत् ज्ञानं नाम। अद्वयमिति क्षणिकज्ञानपक्षं व्यावर्तयति। ननु तत्त्वविदोऽपि विगीतवचना एव नैव तस्यैव तत्त्वस्य नामान्तरै रभिधानात्-दित्याह ओपनिषदैर्ब्रह्मेति हैरण्यगर्भैः परमात्मेति। सात्वतैर्भगवानिति शब्द्यते अभिधीयते। श्रीधर स्वामी।

वदन्तीतितैर्वाख्यातं; तत्र विगीतवचना इत्यत्र परष्परमिति शेषः। तत्त्वस्य नामान्तरैरभिधानादिति धर्मिणि सर्वेषामभ्रमात् धर्म एव तु भ्रमादिति। यद्वा, किं तत्त्वमित्यपेक्षायामाह वदन्तीति। ज्ञानं चिदेकरूपम्। अद्वयन्तश्चास्य स्वयंसिद्धतादृशतत्त्वान्तराभावात् स्वशक्त्येक-सहायत्वात् परमाश्रयं तं विना तासामसिद्धत्वाच्च। तत्त्वमिति परमपुरुषार्थताद्योतनाय परमसुखरूपत्वं तस्य ज्ञानस्य बोध्यते। अतएव तस्य नित्यत्वञ्च दर्शितम्। अत्र श्रीमद्भागवताख्य एव शास्त्रे क्वचिदन्यत्रापि तदेकं तत्त्वं त्रिधा शब्द्यते। क्वचिद् ब्रह्मेति, क्वचित् परमात्मेति, क्वचित् भगवानिति च। किन्त्वत्र श्रीव्याससमाधिलब्धाद् भेदात् जीव इति च शब्द्यते इति नोक्तमिति ज्ञेयम्; तत्र शक्तिवर्गलक्षण-तद्धर्मातिरिक्तं केवलं ज्ञानं ब्रह्मेति शब्द्यते। अन्तर्यामित्वमयमायाशक्ति प्रचुरचिच्छक्त्यंश-विशिष्टं परमात्मेति। परिपूर्ण-सर्वशक्तिविशिष्टं भगवानिति। एवमेवोक्तं श्रीजड़-भरतेन।

ज्ञानं विशुद्धं परमात्ममेकनन्तरं त्ववहिर्ब्रह्म सत्यम्।
प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञकं यद्वासुदेवं कवयो वदन्ति ॥इति ॥

तस्मै नमो भगवते ब्रह्मणे परमात्मन इत्यत्र वरुणकृतस्तुतौ टीका च। परमात्मने सर्वजीवनियन्त्र इत्येषा। ध्रुवं प्रति श्रीमनुना च। त्वं प्रत्यगात्मनि तदा भगवत्यनन्ते आनन्दमात्र उपपन्नसमस्तशक्त्याविति। तत्रानन्दमात्रं विशेष्यम्। समस्ताः शक्तयो विशेषणानि। विशिष्टौ भगवानित्यायातम्। भगवच्छब्दार्थश्च श्रीविष्णुपुराणे प्रोक्तः।

ज्ञानशक्तिवलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः।
भगवच्छब्दवाच्यानि बिना हेयैर्गुनादिभिः ॥इति। क्रमसन्दर्भ।

अन्वय—तत्त्वविदः (तत्त्वज्ञ पण्डितगण) तत् (उन्हें) [एवं] (ही) तत्त्वं (तत्त्व—

परम पुरुषार्थ वस्तु) **वदन्ति** (बताते हैं), **यत्** (जो) **अद्वयं** (अद्वय) **ज्ञानं** (ज्ञान) है। [तच्च] (वही अद्वय ज्ञान तत्त्व) **ब्रह्म इति** (ब्रह्म—इस नामसे), **परमात्मा इति** (परमात्मा—इस नामसे) **भगवान् इति** (भगवान्—इस नामसे) **शब्द्यते** (कथित होते हैं)।

अनुवाद—जो अद्वय ज्ञान है, तत्त्वज्ञ पण्डितगण उसको ही तत्त्व कहते हैं। वह तत्त्व ही ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—इन तीन नामोंसे कथित होता है।

तत्त्व—परम सुख स्वरूप वस्तु, अतः परम-पुरुषार्थ-वस्तु। **तत्त्ववित्**—तत्त्वज्ञ ; परम पुरुषार्थ वस्तुका स्वरूप जो जानते हैं उनको तत्त्ववित् कहते हैं। ऐसे तत्त्वविद्गण कहते हैं कि अद्वय ज्ञान ही तत्त्व वस्तु अर्थात् परम-पुरुषार्थभूत-वस्तु है। **ज्ञान**—चिदेकरूप, जो केवल मात्र चित् है, जिसमें अचित या जड़ (प्राकृत) किञ्चित मात्र भी नहीं है, वह ही ज्ञान वस्तु है, सच्चिदानन्द वस्तु है। ज्ञान शब्दके चिदेक रूप अर्थ द्वारा सूचित होता है कि उनमें जो शक्ति है, वह भी चित्-शक्ति है—परन्तु जड़ शक्ति उनमें नहीं है। **अद्वय**—द्वितीय शून्य, एकमेवा-द्वितीयम् ; भेदशून्य। भेद तीन प्रकारका होता है—सजातीय भेद, विजातीय भेद एवं स्वगत भेद।

एक ही जातिकी एकसे अधिक वस्तु होनेपर सजातीय (समान जातीय) भेद सम्भव होता है ; जैसे राम और श्याम दोनों ही मनुष्य हैं ; एक ही मनुष्य जातिमें अवस्थित है ; इनकी समान जाति होनेसे, इनका परस्परका सजातीय भेद हुआ। ज्ञान वस्तुका इस प्रकारका सजातीय भेद न हो, तो वह सजातीय भेद शून्य होगा। ज्ञान है चिद्वस्तु ; एकसे अधिक चिद्वस्तु होनेसे ही सजातीय भेद रहनेकी सम्भावना हो सकती है। किंतु वास्तविक एकसे अधिक चिद्वस्तु रहनेपर भी दूसरी चिद्वस्तुएँ एक ही मूल चिद्वस्तुका अंश हो, तो ऐसी स्थितिमें सजातीय भेद नहीं होगा—पुत्र पिताका अंश है, अतः पुत्रको पितासे स्वरूपतः स्वतन्त्र वस्तु नहीं कहा जाता। यदि एकसे अधिक स्वयंसिद्ध चिद्वस्तु हो, तो ही ज्ञानका सजातीय भेद रह सकता है। सजातीय भेद शून्य ज्ञान होगा वह वस्तु—जिसके तुल्य स्वयं सिद्ध और कोई भी चिद्वस्तु न हो ; अन्य अनेक चिद्वस्तु रह सकती

हैं, किंतु उनमें-से कोई भी स्वयं सिद्ध नहीं है ; वे प्रत्येक ही अपनी सत्तादिके लिये अद्वय ज्ञानकी अपेक्षा रखती है।

भिन्न जातीय वस्तु ही विजातीय भेद है—जैसे वृक्ष मनुष्यका विजातीय भेद है। ज्ञानकी विजातीय वस्तु क्या ? ज्ञान हुआ चित्-जातीय वस्तु। जो चित् नहीं है वह प्राकृत या जड़ है, वही ज्ञानकी विजातीय वस्तु है ; यह विजातीय वस्तु यदि स्वयं सिद्ध न हो, यदि यह विजातीय वस्तु अपनी सत्ता आदिके लिये इस ज्ञानकी अपेक्षा रखती है, तो यह विजातीय वस्तु भी ज्ञानकी विजातीय भेद नहीं होगी ; किंतु यदि यह विजातीय वस्तु स्वयं सिद्ध हो, ज्ञानकी कोई अपेक्षा न रक्खे, तो ऐसी स्थितिमें वह ज्ञानका विजातीय भेद होगा। जो ज्ञानका इस प्रकार स्वयं सिद्ध सजातीय है, स्वयं सिद्ध विजातीय भेद नहीं, वह ही अद्वय ज्ञान है।

ज्ञान वस्तुमें किसी भी समय स्वगत भेद नहीं रह सकता। स्वगत शब्दका अर्थ—अपने मध्य। जिस वस्तुका एकसे अधिक उपादान है, उपादान भेदसे उसमें स्वगत भेद रह सकता है जैसे दालानके ईंट है, चूना है, लोहा है, काठ है ; ये सब उपादान परस्पर विभिन्न हैं ; ये सब दालानके स्वगत भेद हैं। उपादानकी विभिन्नता होनेसे उनपर शक्तिकी क्रिया भी विभिन्न होगी ; परस्परमें उनके मिलन परिमाणमें तारतम्यानुसारसे दालानके विभिन्न अंशमें किसी भी शक्तिकी क्रिया भी विभिन्न रूपमें अभिव्यक्त होगी ; शक्ति क्रियाकी इस प्रकारकी विभिन्न अभिव्यक्ति भी स्वगत भेद है। ज्ञान वस्तुमें इस प्रकार स्वगत भेद नहीं रह सकता ; कारण ज्ञान चिदेकरूप है, इसमें चिद्के अतिरिक्त और कोई भी वस्तु नहीं है ; उपादानगत भेद न रहनेसे इसके कोई भी अंशमें जो कोई भी शक्ति अभिव्यक्त हो सकती है ; जीवकी तरह ज्ञान वस्तुमें देह-देही भेद नहीं ; जीवकी देह जड़—अचित् है, किंतु जीव स्वरूपसे चिद्वस्तु है ; इसीसे जीवमें देह-देही भेद (स्वगत भेद) है ; किंतु ज्ञान वस्तुमें इस प्रकारका कोई भी देह-देही भेद नहीं रह सकता। जीवके जड़ देहमें भी क्षिति (पृथिवी), अप् (जल), तेज (अग्नि), मरुत् (वायु) और व्योम (आकाश) ये पाँच उपादान हैं ; चक्षु-कर्णादि इन्द्रिय इन पाँच वस्तुओंके तारतम्यानुसार इन सब इन्द्रियोंके योगसे प्रकाशित शक्तिका भी तारतम्य हो

जाता है ; इसीलिये चक्षुद्वारा केवल देखा जाता है, सुना नहीं जाता ; कर्णद्वारा केवल सुना जाता है, देखा नहीं जाता ; इत्यादि। यह सभी स्वगत भेदका फल है। चिदेक रूप ज्ञान वस्तुमें विभिन्न उपादान नहीं होनेसे इस प्रकारका पार्थक्य नहीं रह सकता ; ज्ञान वस्तुका प्रत्येक अंश ही दूसरे प्रत्येक अंशका कार्य कर सकता है ; इसीलिये ब्रह्म संहिता बताती है—"**अङ्गानि यस्य सकलेन्द्रिय-वृत्तिमस्ति**"॥ '।३२॥

जो हो, अब समझमें आया कि ज्ञान वस्तु स्वभावतः ही स्वगत भेद शून्य है ; यह ज्ञान वस्तु यदि स्वयं-सिद्ध सजातीय-भेद शून्य एवं स्वयं-सिद्ध विजातीय भेद-शून्य है, तभी उसको अद्वय-ज्ञान कहते हैं। तत्त्ववित् पण्डितगण बताते हैं कि यह अद्वय ज्ञान वस्तु ही तत्त्व या परम सुख रूप परमार्थ-भूत वस्तु है एवं अद्वय तत्त्व होनेसे यही दूसरी सब ज्ञान वस्तुओंका मूल है ; अद्वय ज्ञान वस्तु स्वयं सिद्ध, अन्य निरपेक्ष है ; दूसरी ज्ञान वस्तुएँ स्वयं सिद्ध नहीं हैं, अन्य निरपेक्ष भी नहीं हैं—वे सब विषयोंमें अद्वय ज्ञान तत्त्वकी अपेक्षा रखती हैं। यह अद्वय ज्ञान वस्तु सबकी मूल निदान होनेसे यही परमार्थभूत वस्तु है, इसलिये तत्त्व वस्तु है। यही तत्त्ववित् पण्डितगणका अभिमत है ; अतः यही मत ही परम श्रद्धेय है। श्रीकृष्ण—यही अद्वय ज्ञान वस्तु है। "अद्वय-ज्ञान-तत्त्ववस्तु कृष्णेर स्वरूप। (आदिलीला, २रा परिच्छेद, ५३वाँ पयार)॥"

यह अद्वय-ज्ञान वस्तु ही कहीं ब्रह्म, कहीं परमात्मा, कहीं भगवान् कथित होती है। अब देखना है कि ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—ये तीनों ही क्या अद्वय-ज्ञान-तत्त्वके ही नामान्तर अथवा भिन्न-भिन्न नाम हैं ? या ये तीन उनके आविर्भाव विशेषके नाम हैं ? यदि ये तीनों नाम एक ही अभिन्न वस्तुके नामान्तर मात्र हैं, तो सामान्य लक्षणसे और विशेष लक्षणसे इन तीनों शब्दोंके वाच्य तीन वस्तुओंमें कोई भी पार्थक्य नहीं रहेगा। एक दृष्टान्तद्वारा विषयको समझनेकी चेष्टा की जाय। जल, वारि, सलिल—ये तीनों शब्द एक ही अभिन्न वस्तुको बताते हैं ; जल शब्दका जो वाच्य है, वही 'वारि' शब्दका वाच्य है और वही 'सलिल' शब्दका वाच्य है—इन तीन शब्दोंके वाच्यमें सामान्य लक्षणसे और विशेष लक्षणसे कोई भी पार्थक्य नहीं है। अतः जल, वारि, सलिल—एक

ही अभिन्न वस्तुके नामान्तर मात्र हैं। किंतु बरफ, जल और जलीय वाष्पके वाच्य एक ही वस्तु नहीं हैं। शीतमें जमकर जल जब सख्त स्फटिकका आकार धारण करता है तब उसको कहते हैं बरफ ; और उत्तापके योगसे जल जब वायुकी तरह अदृश्य हो जाता है तब उसको कहते हैं वाष्प। बरफ, जल और वाष्पका उपादान या सामान्य लक्षण अभिन्न होनेपर भी उनके विशेष लक्षण स्वतन्त्र हैं– बरफ सख्त, जल तरल, एवं वाष्प वायुकी तरह अदृश्य है। इसीलिये इन तीन शब्दोंका वाच्य एक अभिन्न वस्तु नहीं है, परन्तु बरफ, जल और वाष्प एक ही वस्तुके तीन अवस्थाओंके या तीन स्वरूपोंके नाम हैं ; बरफ कहनेसे जल या वाष्प नहीं समझे जाते ; वाष्प कहनेसे बरफ नहीं समझी जाती। ब्रह्म, परमात्मा, एवं भगवान्—इन तीन शब्दोंका वाच्य भी एक ही अभिन्न वस्तु नहीं है। आदि लीला, दूसरे परिच्छेदके सातवें पयारकी टीकामें इन तीन शब्दोंकी वाच्य वस्तुके लक्षण व्यक्त हुए हैं ; इन तीन शब्दोंके वाच्य तीन वस्तुओंके सामान्य लक्षण (सच्चिदानन्द-मयत्व) अभिन्न होनेपर भी, उनके विशेष लक्षण अभिन्न नहीं हैं। वस्तुका परिचय होता है विशेष लक्षणोंद्वारा, सामान्य लक्षणोंद्वारा नहीं। अतः ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् शब्दोंसे तीन विभिन्न वस्तु समझायी जाती है, सामान्य लक्षणसे (सच्चिदानन्दमयत्व अंशसे) इन तीन वस्तुओंके सहित अद्वय ज्ञान वस्तुका ऐक्य होनेपर भी इन तीन वस्तुओंको अद्वय ज्ञान तत्त्वकी ही विभिन्न अवस्था या विभिन्न आविर्भाव कहा जाता है— जैसे बरफ एवं जलीय वाष्प, जलकी विभिन्न अवस्था या उसके विभिन्न स्वरूप हैं ; वैसे ही। इसलिये ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्––अद्वय-ज्ञान तत्त्वके नामान्तर नहीं हैं, परन्तु अद्वय-ज्ञान वस्तुके विभिन्न आविर्भावके ही नाम हैं। जिस आविर्भावमें चिदेकरूप-ज्ञानकी केवल सत्तामात्र विकसित है, किंतु जिनमें किसी भी शक्तिका विकास नहीं, उनका नाम है ब्रह्म। जिस आविर्भावमें ज्ञानकी सत्ता विकसित है, शक्ति भी विकसित है (पूर्ण रूपसे नहीं), किंतु जिसमें साक्षात् भावसे विजातीय मायाशक्तिका संस्रव है (द्रष्टा रूपसे), उनका नाम परमात्मा है। और जिस आविर्भावमें सत्ता विकसित है, शक्ति भी पूर्णरूपसे विकसित है एवं जिसके साथ साक्षात् भावसे विजातीय माया शक्तिका कोई भी संस्रव नहीं, उनका

नाम भगवान् है। इस श्लोकके 'भगवान्' शब्दसे स्वयं भगवान् एवं परव्योम स्थित श्रीनारायण-राम-नृसिंह आदि अनन्त भगवत्-स्वरूपको भी समझा जा सकता है।

मुख्य अर्थ, मुक्त प्रग्रहावृत्तिसे ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् इन तीन शब्दोंके प्रत्येक ही अद्वय ज्ञान वस्तु श्रीकृष्णको ही बताते हैं, किंतु रूढ़ि अर्थमें उनके तीन आविर्भावोंको ही सूचित करता है। "ब्रह्म-आत्मा शब्द यदि कृष्णके कहय। रूढ़िवृत्ते निर्व्विशेष अन्तर्य्यामी कय।। इसी परिच्छेदका ५९वाँ पयार।।" "ब्रह्म, आत्मा, भगवान् कृष्णेर विहार। आदिलीला, २रा परिच्छेद, २९वाँ पयार।।"

सेइ अद्वय तत्त्व—कृष्ण स्वयं भगवान्।

तिन काले सत्य सेइ शास्त्र-परमाण ।।५५।।

वह अद्वय तत्त्व न अन्य, स्वयं भगवान् कृष्ण, गोपिका-प्राण।

वे ही त्रिकालगत नित्य सत्य, शास्त्रोंकी वाणी है प्रमाण ।।

सेइ अद्वयतत्त्व इत्यादि—ब्रह्म शब्दसे अद्वय-ज्ञान-तत्त्वको ही समझा जाता है। व्रजेन्द्रनन्दन ही अद्वय-ज्ञान-तत्त्व हैं। अतः व्रजेन्द्रनन्दन ही ब्रह्म शब्दके चरम तात्पर्य हैं। मध्यलीला, २०वाँ परिच्छेद, १३१ पयारकी टीका देखिये। **तिनकाले सत्य** इत्यादि—यहाँ किसी-किसी ग्रन्थमें 'जाहा बिनु कालत्रये वस्तु नाहि आन' ऐसा पाठान्तर है। परवर्ती श्लोकमें बताते हैं—अतीत, वर्त्तमान एवं भविष्यतमें परम ब्रह्म श्रीकृष्ण ही सत्य वस्तु है।

तथाहि श्रीमद्भागवते (२।९।३२)—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्।

पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ।।२३।।

संस्कृतटीका—तदेवाभिधेयादि चतुष्टयः चतुःश्लोक्या निरुपयन् प्रथमः ज्ञानार्थं स्वलक्षणं प्रतिपादयति अहमेवासमिति। अत्राहं शब्देन तद्वक्ता मूर्त्त एव उच्यते। न तु निर्विशेषं ब्रह्म तदविषयत्वात्। आत्मज्ञान-तात्पर्यकत्वे तु तत्त्वमसीतिवत् त्वमेवासीरिति वक्तुमुपयुक्तत्वात्।

ततश्चायमर्थः संप्रति भवन्तं प्रति प्रादुर्भवन्नसौ परममनोहरश्रीविग्रहोऽहमग्रे महाप्रलयकालेऽप्यासमेव। वासुदेवो वा इदमग्रे आसीन्न ब्रह्मा न च शङ्करः। एको नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशान इत्यादि श्रुतिभ्यः। भगवानेक आसेदमग्र आत्मात्मनां विभुरित्यादि तृतीयात् अतो वैकुण्ठ-तत्पार्षदादीनामपि तदुपाङ्गत्वादहंपदेनैव ग्रहणम्। राजाऽसौ प्रयातीतिवत् ततस्तेषाञ्च तद्वदेव स्थितिर्बोध्यते। तथाच राजप्रश्नः, स चापि यत्र पुरुषो विश्वस्थित्युद्भवाप्ययः। मुक्तात्ममायां मायेशः शेते सर्वगुहाशय इति। श्रीविदुरप्रश्नश्च, तत्त्वानां भगवंस्तेषां कतिधा प्रतिसंक्रमः। तत्रेमं क उपासीरन् क उस्विदनुशेरत इति। काशीखण्डेऽप्युक्तं श्रीध्रुवचरिते। न च्यवन्तेऽपि यद्भक्ता महत्यां प्रलयापदि। अतोऽच्युतोऽखिले लोके स एकः सर्वगोऽव्ययः इति अहमेवेत्येवकारेण कत्रन्तरस्यारूपत्वादिकस्य च व्यावृत्तिः। आसमेवेति तत्रासम्भवे माया-निवृत्तिः। तदुक्तं यद्रूपगुणकर्मक इति अतएव यद्वा आसमेवेति ब्रह्मादि-बहिर्जनज्ञानगोचर-सृष्ट्यादि-लक्षण-क्रियान्तरस्यैव व्यावृत्तिः न तु स्वान्तरङ्गलीलाया अपि। यथाधुनाऽसौ राजा कार्य्यं न किञ्चित् करोती-त्युक्ते राजसम्बन्धिकार्यमेव निषिध्यते नतु शयनभोजनादिकमपि इति तद्वत्। यद्वा अस् गतिदीप्त्यादानेष्वित्यस्मात् आसं साम्प्रतं भवता दृश्यमानैर्विशेषैरेभिरग्रेपि विराजमान एवातिष्ठमिति निराकारत्वादिक-स्यैव विशेषतो व्यावृतिः। तदुक्तमनेन श्लोकेन साकार-निराकार-विष्णु-लक्षणकारिण्यां मुक्ताफलटीकायामपि नापि साकारेष्वव्याप्तिः तेषामाकारातिरोहितत्वादीति। ऐतरेयक-श्रुतिश्च आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविध इति। एतेन प्रकृतीक्षणतोऽपि प्राग्भावात् पुरुषादप्युत्तमत्वेन भगवज्ज्ञानमेव कथितम्। ननु क्वचिन्निर्विशेषमेव ब्रह्मासीदिति श्रूयते तत्राह सत्कार्यं असत् कारणं तयोःपरं यत् ब्रह्म तन्न मत्तोऽन्यत्। क्वचिदधि-कारिणि शास्त्रे वा स्वरूपभूतविशेषव्युत्पत्यसमये सोऽयमहमेव निर्विशेषतया प्रतिभामीत्यर्थः। यद्वा तदानीं प्रपञ्चे विशेषाभावात् निर्विशेषचिन्मात्राकारेण वैकुण्ठेतु सविशेषभगवद्रूपेणेति शास्त्रद्वयव्यवस्था।

एतेन ब्रह्मणोहि प्रतिष्ठाहं इत्यत्रोक्तं भगवज्ज्ञानमेव प्रतिपादितं अतएवास्य ज्ञानस्य परमगुह्यत्वमुक्तम्। ननु सृष्टेरनन्तरं जगति नोपलभ्यसे तत्राह पश्चात् सृष्टेरनन्तरमप्यहमेवास्म्येव वैकुण्ठेतु भगवदाद्याकारेण प्रपञ्चेष्वन्तर्याम्याकारेणेति शेषः। एतेन सृष्टिस्थितिप्रलयहेतुरहेतुरस्येत्यादि प्रतिपादितं भगवज्ज्ञानमेवोपदिष्टं ननु सर्वत्र घटपटाद्याकारा ये दृश्यन्ते ते तु तद्रूपाणि न भवन्तीति तवापूर्णत्व प्रसक्तिः स्यादित्याशङ्क्याह यदेतद्विश्वं तदप्यहमेव मदनन्य-त्वान्मामकमेवेत्यर्थः। अनेन योऽयं तेऽभिहितस्तात भगवान् विश्वभावनः। समासेन हरेर्नान्यदन्यस्मात् सदसच्च यदित्याद्युक्तं भगवज्ज्ञानमेवोपदिष्टम्। तथा प्रलये योऽवशिष्येत सोऽहमेवास्म्येव। एतेन भगवान् एकः शिष्यते शेषसंज्ञ इत्याद्युक्तं भगवज्ज्ञानमेवोपदिष्टम्। तथा पूर्वं सानुग्रह-प्रकाश्यत्वेन प्रतिज्ञातं यावत्त्वं सर्वकालदेशापरिच्छेद्यत्वज्ञापनयोपदिष्टम्। एवं नान्यद् यत् सदसत् परमित्यनेन ब्रह्मणोहि प्रतिष्ठाहमिति ज्ञापनया यथाभावत्वम्। सर्वाकारावयविभगवदाकार-निर्देशेन विलक्षणानन्तरूपत्वज्ञापनया यद्रूपत्वं सर्वाश्रयतानिर्देशेन विलक्षणानन्तगुणत्वज्ञापनया यद्गुणत्वं। सृष्टिस्थितिप्रलयोपलक्षित - विविध - क्रियाश्रयत्वकथनेनालौकिकानन्त-कर्मत्वज्ञापनया यत्कर्मत्वञ्च। क्रमसन्दर्भ।

एतदेव सम्यगुपदिशन् यावानित्यस्यार्थं स्फटयति अहमेवाग्रे सृष्टेः पूर्वं आसं स्थितः नान्यत् किञ्चित् यत् यत् स्थलं असत् सूक्ष्मं परं तयोः कारणं प्रधानं तस्याप्यन्तर्मुखतया तदा मय्येव लीनत्वात्। अहञ्च तदा आससेव। केवलं नचान्यदकरवम्। पश्चात् सृष्टेरनन्तरमप्यहमेवास्मि। यदेतद्विश्वं तदप्यहमेवास्मि। प्रलये योऽवशिष्येत योऽप्यहमेव। अनेन चानाद्यन्तत्वादद्वितीयत्वाच्च परिपूर्णोहमित्युक्तं भवति। श्रीधर स्वामी।

अन्वय—अग्रे (पूर्वमें) अहं (मैं) एव (ही) आसं (था); अन्यत् (अन्य) यत् (जो) सत् (स्थूल) असत् (सूक्ष्म) परं (प्रधान) न (नहीं था); पश्चात् (पीछे भी) अहं (मैं हूँ), यत् (जो) एतत् (यह—दृश्यमान जगत्) च (एवं)

यः (जो) अवशिष्यते (अवशिष्ट रहता है) सः (वह) अहं (मैं) अस्मि (होता हूँ)।

अनुवाद—सृष्टिके पूर्वमें मैं ही था ; अन्य जो स्थूल और सूक्ष्म जगत् एवं उनका कारण जो प्रधान, वह भी मुझसे पृथक नहीं था ; सृष्टिके पश्चात् भी मैं हूँ ; यह जो विश्व देखते हो वह भी मैं हूँ ; प्रलयमें जो अवशिष्ट रहता है वह भी मैं हूँ।

अग्रे—पूर्वमें, सृष्टिके पूर्व, महाप्रलयमें। श्रीनारायणने ब्रह्मासे कहा—"पूर्वकालमें, सृष्टिके पूर्व महाप्रलयके समय मैं ही था।" श्रीनारायण मानो तर्जनी अंगुलीद्वारा अपना वक्षःस्थल स्पर्श करके अपना विग्रह दिखाकर ब्रह्मासे बोले—"यह जो तुम अपने समक्ष मेरा परम मनोहर श्यामवर्ण चतुर्भुज विग्रह देखते हो, जिस विग्रहसे मैं तुमको ज्ञानोपदेश करता हूँ— यह विग्रह विशिष्ट मैं ही महाप्रलयमें था।"

अन्यत्—अन्य, श्रीभगवान्‌से विजातीय। श्रीभगवान्‌से विजातीय अन्य वस्तु क्या है ? वह बतलाते हैं—सत्, असत् एवं परं। **सत्**—स्थूल जगत्, जो चारों ओर दिखायी पड़ता है। **असत्**—सूक्ष्म जगत्, परिदृश्यमान जगत्‌के स्थूलत्व प्राप्तिके पूर्वकी अवस्था। **परं**—स्थूल और सूक्ष्म जगत्‌के कारण रूप प्रधान, जगत्‌के उपादान भूत सत्त्व-रज-तम-रूपा प्रकृति। ये सब जड़ वस्तु हैं और श्रीभगवान् चिद्वस्तु हैं ; इसीसे ये सब भगवान्‌से विजातीय वस्तु हैं। महाप्रलयमें भी इन सबका पृथक अस्तित्व नहीं था ; कारण, महाप्रलयमें स्थूल जगत् सूक्ष्ममें एवं सूक्ष्म जगत् प्रधानमें लीन रहता है ; और प्रधान भी अन्तर्मुखता-वश भगवान्‌के सङ्कर्षण रूपमें लीन रहता है ; अतः महाप्रलयमें उनका पृथक अस्तित्व नहीं रहता। श्रीभगवान् बोले—"महाप्रलयमें केवल मैं था ; यह परिदृश्यमान जगत् भी नहीं था, इस जगत्‌की सूक्ष्म अवस्था भी नहीं थी तथा इसीलिये जगत्‌का कारण जो प्रकृति है, वह भी पृथक भावसे नहीं थी, प्रकृति मुझमें ही (मेरे सङ्कर्षण-स्वरूपमें) लीन थी—(श्रीधर स्वामी)।"

श्रुति-स्मृतिमें भी इस उक्तिका अनुकूल प्रमाण मिलता है "वासुदेवो वा इदमग्र आसीन्न ब्रह्मा न च शङ्करः। एको नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशान इत्यादि

श्रुतिभ्यः। —क्रम सन्दर्भधृतश्रुतिवचन।" — सृष्टिके पूर्व वासुदेव वा नारायण ही थे, ब्रह्मा भी नहीं थे, शङ्कर भी नहीं थे। "**भगवानेक आसेदमित्यादि** (श्रीमद्भागवत्—३।५।२३)।।"

प्रश्न उठ सकता है कि सृष्टिके पूर्व क्या अकेले नारायण ही थे, या उनके परिकर आदि भी थे? महाप्रलयमें नारायण एकाकी नहीं थे—वे थे, उनका परिकरवर्ग था, उनका धाम भी था। केवल नारायण ही नहीं, अनादिकालसे श्रीभगवान्ने जिस-जिस स्वरूपमें आत्म-प्रकट करके लीला की हैं, धाम और परिकरसहित वे समस्त स्वरूप ही महाप्रलयमें भी वर्त्तमान रहते हैं; कारण ये सभी नित्य वस्तु हैं। श्रुति बतलाती हैं— श्रीभगवान् "नित्या नित्यानां ।श्वेता० ६। १३।।" नित्यवस्तु समूहमें वे नित्य हैं अर्थात् उनके नित्यत्वसे ही अन्य नित्य वस्तुओंका नित्यत्व है। इस श्रुति प्रमाणसे पता लगता है कि नित्य वस्तु अनेक हैं। महाप्रलयमें इन सब नित्य वस्तुओंका ध्वंस नहीं हो सकता; कारण, ध्वंस होनेसे उनका नित्यत्व नहीं रह सकता। भगवान्के धाम, परिकर भगवान्के विभिन्न स्वरूप, विभिन्न स्वरूपोंके धाम और परिकर, विभिन्न धाम स्थित लीला साधक द्रव्यादि—ये सभी असंख्य नित्य वस्तुएँ हैं। ये सब भगवान्के और उनकी चिच्छक्तिके विलास होनेसे नित्य हैं, ध्वंसरहित हैं। महाप्रलयमें केवल प्राकृत ब्रह्माण्डका ही ध्वंस होता है, अप्राकृत चिन्मय भगवत् धामका ध्वंस नहीं होता। किसी स्थानमें राजा आया है कहनेसे यह समझा जाता है कि राजा अकेला नहीं आया, उसके सङ्ग परिकर आदि भी आये हैं, उसी प्रकार महाप्रलयमें 'भगवान् थे' कहनेसे ही समझा जाता है कि भगवान् एकाकी नहीं थे, उनके परिकर धामादि भी थे। कारण, धाम और पार्षदादि भगवान्के उपाङ्ग हैं। "**वैकुण्ठतत्पार्षदादीनामपि तदुपाङ्गत्वादहंपदेनैव ग्रहणम्। राजाऽसौ प्रयातीतिवत् ततस्तेषाञ्च तद्वदेव स्थितिर्बोध्यते**।—क्रमसन्दर्भ।" महाप्रलयमें भी जो श्रीभगवान्के पार्षद-भक्तगणका अस्तित्व रहता है, शास्त्रमें उसका स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। "**न च्यवन्तेऽपि यद्भक्ता महत्यां प्रलयापदि। अतोऽच्युतोऽखिले लोके स एकः सर्वगोऽव्ययः**॥ —क्रमसन्दर्भवृत्त काशीखण्डवचनम्।"

"राजा अब और कोई कार्य नहीं करता" ऐसा कहनेपर यही समझा जाता है कि राजा राज-सम्बन्धी कार्य नहीं करते, किंतु अपने नित्य-प्रयोजनीय व नित्य-करणीय स्नान-भोजन-शयनादि कार्यसे विरत नहीं हुए ; उसी प्रकार इस श्लोकके 'आसमेव' इत्यादि वाक्योंसे ब्रह्मा आदि बहिरङ्ग जनोंके ज्ञान गोचर सृष्ट्यादि कार्योंका अभाव ही समझा जाता है, किंतु श्रीभगवान्की अन्तरङ्ग लीलाका नहीं समझा जाता। "**आसमेवेति ब्रह्मादिबहिर्जन-ज्ञानगोचर-सृष्ट्यादिलक्षण-क्रियान्तरस्यैव व्यावृत्तिः, नतुस्वान्तरङ्ग-लीलाया अपि। यथाऽधुनासौ राजा कार्यं न किञ्चित् करोतित्युक्ते राजसम्बन्धि-कार्यमेव निषिध्यते, न तु शयनभोजनादिकमपीति तद्वत्**। — क्रम सन्दर्भ।"

श्रीभगवान् स्वरूपतः साकार– सविशेष हैं, वे निराकार नहीं हैं—यह भी इस श्लोकसे सूचित होता है। प्रश्न उठ सकता है कि साकार होनेसे वे विभु (सर्वव्यापक) किस प्रकार हो सकते हैं ? स्वरूपगत अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे साकार होकर भी वे विभु हो सकते हैं। विभुत्व भगवान्का स्वरूपगत धर्म है ; स्वरूपगत धर्म स्वरूपका कभी त्याग नहीं करता। अग्नि निर्वापकत्व जलका स्वरूपगत धर्म है, इसीलिये खूब गरम जल भी अग्नि निर्वापणमें समर्थ है। इसी प्रकार भगवान्के सकल स्वरूपमें ही उनका स्वरूपगत धर्म विभुत्व समाया है। नरवपु श्रीकृष्ण अपने परिच्छिन्नवत प्रतीयमान नरदेहसे भी सर्वग, अनन्त, विभु हैं। केवल श्रीकृष्ण ही नहीं, स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने जिस-जिस स्वरूपमें अनादि-कालसे आत्म प्रकट करके लीला की है, वे सभी एवं उन प्रत्येकके धाम भी सर्वग, अनन्त, विभु हैं।

प्रकृतिर पार—परव्योम नामे धाम। कृष्णविग्रह जैछे विभुत्वादि गुणवान्।
सर्व्वग, अनन्त, विभु वैकुण्ठादि धाम। कृष्ण, कृष्ण-अवतारेर ताहाञि विश्राम॥
(आदि लीला, ५।११-१२)॥

श्रीकृष्णने अपने छोटेसे मुँहके भीतर यशोदा माताको अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड एवं वृन्दावन धाम आदि दिखाये थे ; मुख-गह्वर विभु न होनेपर यह सम्भव नहीं होता। द्वारका-लीलामें अनन्त कोटि ब्रह्माण्डके ब्रह्मागणने एक ही समयमें श्रीकृष्णके पाद-पीठको प्रणाम किया था, और प्रत्येक ब्रह्माने यही समझा था कि

श्रीकृष्ण उनके ही ब्रह्माण्डमें हैं। श्रीकृष्णका नरदेह एवं उनके पाद-पीठ विभु न होते तो यह असम्भव होता। सोलह कोस वृन्दावनका एक अंश गोबर्द्धन पर्वत है; उस गोबर्द्धन पर्वतके सानुदेशमें श्रीकृष्णने ब्रह्माको अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड, अनन्त नारायण दिखाये थे। गोबर्द्धनका सानुदेश और वृन्दावन विभु न होते तो यह सम्भव नहीं होता।

जो भी हो, श्रीभगवान्‌ने ब्रह्माजीको बताया—"सृष्टिके पूर्व केवल मैं ही था, यह प्राकृत जगत् आदि नहीं था। सृष्टिके बाद भी मैं ही हूँ—**पश्चादहं**। चिन्मय धाम सृष्टिके पूर्व जैसा था, सृष्टिके बाद भी वैसा ही रहेगा। वैकुण्ठमें तुम्हारे परिदृश्यमान् इसी नारायण रूपसे एवं अन्यान्य भगवद्धामोंमें तत्-तत्-धामोपयोगी स्वरूपसे मैं हूँ और सृष्टि ब्रह्माण्डमें अन्तर्यामी रूपसे हूँ और कभी-कभी मत्स्यादि अवतार रूपसे भी रहता हूँ। **पश्चात्**—सृष्टिके बाद।"

यदेतच्च—और सृष्टिके परे जो परिदृश्यमान् जगत्-प्रपञ्च है, यह भी मैं ही हूँ; व्यष्टि-समष्टि विराटमय विश्व सब कुछ मैं ही हूँ; कारण ये सब मेरी शक्तिसे उत्पन्न हैं। प्रकृति मेरी ही बहिरङ्गा शक्ति है; उस प्रकृतिमें मैं ही महाविष्णु रूपसे शक्ति सञ्चार करके सृष्टि-कार्यका निर्वाह करता हूँ; सृष्ट-जीव समूह भी स्वरूपतः मेरी ही तटस्था शक्तिके अंश हैं। अतः विश्व-प्रपञ्च भी मेरी ही शक्तिसे उत्पन्न है अतः वह मैं ही हूँ, वह मुझसे अलग स्वतन्त्र वस्तु नहीं।

योऽवशिष्येत—और महाप्रलयमें प्राकृत ब्रह्माण्ड ध्वंस हो जानेपर जो अवशिष्ट रहता है, वह भी मैं ही हूँ; तब भी मैं सपरिकर, विभिन्न धामोंमें विभिन्न रूपोंसे लीला करता रहता हूँ। और कारण समुद्रके उस पार जहाँ मायिक-प्रपञ्च था, महाप्रलयके बाद भी उस स्थानमें मैं निर्विशेष रूपसे रहता हूँ।

इस श्लोकमें दिखाया गया कि जहाँ पर जो कुछ है या रह सकता है, वह सब कुछ भी श्रीभगवान् हैं; श्रीभगवान्‌के अतिरिक्त स्वयं सिद्ध कोई भी वस्तु कहीं भी नहीं है; अतः श्रीभगवान् अद्वितीय हैं, स्वजातीय-विजातीय भेद शून्य हैं। और उनका और उनकी लीलाओंका विराम नहीं, आदि नहीं, अन्त नहीं। अतः

वे, उनके धाम और लीला नित्य, अनन्त हैं। इन समस्त लक्षणोंसे श्रीभगवान् पूर्ण हैं यह दिखाया गया।

इस श्लोकमें दिखाया गया कि श्रीभगवान् देश-कालादि द्वारा अपरिच्छिन्न हैं क्योंकि वे सर्वदा, सर्व अवस्थामें वर्तमान रहते हैं; अतः वे नित्य एवं विभु वस्तु हैं। श्रीमद्भागवतके इस श्लोकके पूर्व श्लोकमें **'यावानहं'** कहा गया है। इस श्लोकमें वही दिखाते हैं कि उनका परिमाण किस प्रकारका है? वे देश-कालादि द्वारा अपरिच्छिन्न, नित्य एवं विभु हैं।

इस श्लोकके **'नान्यत् यत् सदसत् परम्'** इत्यादि वाक्योंसे श्रीमद्भागवतके इसके पूर्व श्लोकोक्त **'यथा भावत्व'**—जिस प्रकारकी उनकी सत्ता है और जिस प्रकार वे अवस्थान करते हैं, वह दिखाते हैं। कोई-कोई यहाँ **'परम्'** शब्दका 'ब्रह्म' अर्थ करते हैं। **सत्**—कार्य; **असत्**—कारण; **परं**—कार्य और कारणसे अतीत ब्रह्म। ऐसा होनेपर अन्वय इस प्रकार होगा—**यत् सत् असत् परं (तत्) न अन्यत्**। "कर्म, कारण एवं कार्य कारणसे अतीत जो ब्रह्म (निर्विशेष) है, वह भी मुझसे अन्य (पृथक या स्वतन्त्र) नहीं है।"

जगत्का कारण प्रकृति उन्हींकी शक्ति होनेसे उनसे अभिन्न है। कारणकी अवस्था-विशेष ही कार्य होता है। कारण उनसे अभिन्न है इसलिये कार्य भी उनसे अभिन्न है। इस प्रकार सत् और असत् उनसे पृथक नहीं है यह स्पष्ट हो जाता है। महाप्रलयमें सत् और असत् सब कुछ अन्तर्मुखतावश उनमें लीन रहता है; प्राकृत प्रपञ्चमें उस समय सविशेष वस्तु कुछ भी नहीं रहती; किंतु प्रपञ्चमें तब भी वे रहते हैं—निर्विशेष ब्रह्म स्वरूपसे और वैकुण्ठादिमें रहते हैं सविशेष भगवत् रूपसे। अतः सब अवस्थाओंमें सब स्थानोंमें वे ही रहते हैं, यह बताया गया। इसके द्वारा वे 'सर्वग, अनन्त, विभु' हैं एवं वे ही ब्रह्मके भी प्रतिष्ठा हैं—ब्रह्मणोहि प्रतिष्ठाहं—यह बतलाया। इस प्रकारके अर्थसे भी यथा भावत्व ही सूचित हुआ।

'अहमेव' इत्यादि वाक्योंसे अपना चतुर्भुजत्व दिखाकर श्रीमद्भागवत्के इस श्लोकके पूर्व श्लोकोक्त **'यद्रूपत्व'**, सर्वाश्रयत्व और अनन्त विचित्र गुण दिखाकर

'यद्गुणत्व' एवं सृष्टि-स्थिति-प्रलयादि विविध क्रियाका उल्लेख करके 'यत्कर्मत्व' दिखाया है।

'आत्मा'का अर्थ

'आत्मा'-शब्दे कहे—कृष्ण बृहत्वस्वरूप।
सर्व्वव्यापक सर्व्वसाक्षी परम स्वरूप॥५६॥

"आत्मा" पदके अभिधेय कृष्ण, जिनका स्वरूप सबसे बढ़कर।
सर्वत्र व्याप्त, सबके साक्षी वे ही परमात्मा, परमेश्वर॥

पूर्व लिखित 'वदन्ति-तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं' इत्यादि श्लोकमें बताया गया है कि एक ही अद्वय-ज्ञान-तत्त्व—ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान्—इन तीन नामोंसे जाने जाते हैं। उपासना भेदसे साधकके निकट अद्वय-ज्ञान-तत्त्वका इन तीन रूपोंमें आत्म प्रकट करनेपर भी तीनों शब्दोंका चरम तात्पर्य जो स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं, यह दिखाते हैं, ब्रह्म शब्दका तात्पर्य जो स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं यह पूर्व पयारमें बताया गया है। अब परमात्मा शब्दका तात्पर्य भी श्रीकृष्ण हैं, 'आत्मा शब्दे कहे…' इत्यादि पयारद्वारा—यह दिखाते हैं।

आत्मा—आ—अत्+मन कर्तृवाच्य। अत् धातु बन्धनमें। 'आ'का अर्थ सम्यक्। जो सम्यक् रूपसे बन्धन करे वे ही आत्मा हैं—जो सबमें व्यापक होकर अवस्थान करते हैं, जिनके द्वारा सभी सम्यक् रूपसे बद्ध हो सकें—सम्पूर्ण रूपसे सर्व ओरसे आबद्ध हो सकें। ऐसी अवस्थामें जो सर्वव्यापक हैं वे ही आत्मा हैं। और जिसने जो किया है, करते हैं, करेंगे अथवा जिसने जो विचार किया है, विचार करते हैं या विचार करेंगे, उसको जो जान सकें, उनके द्वारा भी सभी सम्यक् रूपसे बद्ध हैं; कारण, वे जब सब कुछ जानते हैं, समस्त क्रियाओं और चिन्तनके साक्षी हैं तब ऐसा कोई भी अवकाश किसी भी स्थानमें नहीं है जिसके द्वारा उनसे कोई पृथक् या दूर रह सके। अतः जो सर्व साक्षी हैं वे ही आत्मा हैं। सर्व व्यापकत्व एवं सर्व साक्षित्वकी पराकाष्ठा जिनमें हो, वे ही

परमात्मा हैं। एक मात्र श्रीकृष्ण ही सर्वव्यापक हैं, कारण, वे ही आश्रय तत्त्व हैं—वे ही सर्व साक्षी हैं, क्योंकि वे अद्वय-ज्ञान-तत्त्व एवं त्रिकाल सत्य हैं ; अतः श्रीकृष्णमें ही परमात्मा शब्दका चरम तात्पर्य है। इस प्रकारका अर्थ श्रीधर स्वामी-पाद द्वारा भी अनुमोदित है, जो उनकी भावार्थ दीपिका टीकासे आत्मा शब्दका अर्थ उद्धृत करके दिखाया गया है—आततत्त्वाच्च··· इत्यादि।

कृष्ण वृहत्त्वस्वरूप—स्वरूपसे श्रीकृष्ण सर्वापेक्षा वृहत् है ; कारण, वे अद्वय-ज्ञानतत्त्व आश्रय-तत्त्व हैं ; इसलिये वे सर्वव्यापक हैं अतः परमात्मा हैं। **सर्व्वव्यापक**—जो प्राकृत अप्राकृत जगत् सबमें व्यापक रूपसे अवस्थान करते हैं। **सर्व्वसाक्षी**—जो सबको देखते हैं और जानते हैं। **परमस्वरूप**—जिनका स्वरूप सर्वश्रेष्ठ है ; अन्यान्य सब स्वरूपोंके जो मूल हैं।

तथाहि श्रीमद्भागवते (११।२।४५)—भावार्थदीपिकायाम्

आततत्त्वाच्च मातृत्वादात्मा हि परमो हरिः ॥२४॥

संस्कृतटीका—आततत्त्वात् स्वरूपविस्तारत्वात्। मातृत्वात् जगद्-योनिरूपत्वात्। चक्रवर्ती।

अन्वय सरल है। **अनुवाद**—स्वरूपसे अति वृहत्त्व-प्रयुक्त एवं जगत्के कारणत्व प्रयुक्त हरि ही परमात्मा हैं।

जगत्-कारणत्वमें व्यापकत्व समझाते हैं। कार्य हुआ कारणका व्याप्य ; और कारण हुआ कार्यका व्यापक। श्रीहरि जगत्के कारण होनेसे वे हुए जगत्के व्यापक और जगत् हुआ उनका व्याप्य।

आततत्त्वात–स्वरूपविस्तारत्वात (चक्रवर्ती) ; स्वरूपसे सर्वत्र विस्तृत होनेसे ; सर्ववृहत्तत्त्व होनेसे, सर्वव्यापक होनेसे। आतत—आ-तन्+क्त। तन् धातुका अर्थ विस्तृति। आतत शब्द है—विस्तृति सूचक तन् धातुसे निष्पन्न ; और आत्मा शब्द है बन्धन सूचक अत् धातुसे निष्पन्न ; (पूर्ववर्ती पयारकी टीका द्रष्टव्य)। अत् धातुका तात्पर्य व्यापकत्व ही आतत शब्दसे सूचित होता है।

साधन-भेदसे उपलब्धि-भेद

सेइ कृष्णप्राप्तिहेतु त्रिविध साधन—।
ज्ञान, योग, भक्ति ;–तिनेर पृथक् लक्षण ॥८७॥

हैं प्राप्य तीन साधन द्वारा भगवान कृष्ण भव-दुःख-हरण ।
वे ज्ञान, योग हैं भक्ति तथा, उनके फिर पृथक-पृथक लक्षण ॥

सेइ कृष्ण इत्यादि—ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान्—इन तीन शब्दोंके परम तात्पर्य श्रीकृष्ण होनेपर भी एक ही अद्वय-ज्ञान-तत्त्व श्रीकृष्ण तीन रूपोंसे साधक-के निकट क्यों प्रतिभासित होते हैं—यह इस पयार और अगले पयारमें बताते हैं। **सेइ कृष्ण**—जो कृष्ण वृहत्त्व-स्वरूप, सर्वव्यापक, सर्वसाक्षी एवं षड़ैश्वर्यपूर्ण स्वयं भगवान् हैं और जो अद्वय-ज्ञान-तत्त्व हैं—वे कृष्ण। **प्राप्ति-हेतु त्रिविध साधन**—श्रीकृष्णकी प्राप्तिके निमित्त तीन साधन हैं; ज्ञान, योग और भक्ति। **तिनेर पृथक् लक्षण**—ज्ञान, योग और भक्ति—इन तीनों साधनोंके पृथक-पृथक लक्षण हैं ; तीनों साधन एक रूप नहीं हैं। तीन प्रकारके साधककी प्राप्ति भी एक रूप नहीं होती, भिन्न-भिन्न होती है।

ज्ञान—ज्ञान मार्गके साधनमें परतत्त्वको निर्विशेष, निःशक्तिक माना जाता है और साधक जीव अपने आपको भी वही निर्विशेष ब्रह्म मानता है। निर्विशेष ब्रह्मके साथ मिलकर सायुज्य मुक्ति लाभ करना ज्ञान मार्गके साधकका लक्ष्य होता है। ब्रह्म कहनेसे साधारणतया यह निर्विशेष ब्रह्म ही समझा जाता है। यह निर्विशेष ब्रह्म भी श्रीकृष्णका एक रूप है—ये श्रीकृष्णकी अङ्ग-कान्ति तुल्य है। निर्विशेष होनेसे इस स्वरूपमें शक्ति आदिकी क्रिया नहीं होती।

योग—योग मार्गके साधनमें अन्तर्यामी परमात्मा विष्णुको ही परतत्त्व माना जाता है और साधक अपनेको इन परमात्माका अंश मानता है। परमात्माके संग मिल जाना ही योग मार्गके साधकका लक्ष्य होता है।

भक्ति—शुद्धाभक्ति मार्गमें व्रजेन्द्रनन्दन कृष्ण ही परतत्त्व माने जाते हैं और

साधक अपनेको उनका दास मानता है। दास रूपसे उनकी सेवा-प्राप्ति ही साधकका लक्ष्य होता है।

इसी परिच्छेदमें ये सब विषय और भी विशेष रूपसे आगेके पयारोंमें बताये गये हैं।

तिन-साधने भगवान् तिन-स्वरूपे भासे।
ब्रह्म, परमात्मा, भगवत्त्वे प्रकाशे ॥५८॥

भगवान तीन रूपों वाले, इन तीन साधनोंके कारण।
विलसते ब्रह्म, परमात्मा या भगवत्स्वरूपको कर धारण॥

तिन साधने इत्यादि—परतत्त्वकी धारणा, जीवके स्वरूपकी धारणा एवं परतत्त्वके साथ जीव-स्वरूपकी नित्य-सम्बन्धकी धारणामें पार्थक्य होनेसे ज्ञानी, योगी और भक्तकी प्राप्ति तीन प्रकारकी रहती है।

कोई कह सकते हैं—"परतत्त्वका स्वरूप वाक्य और मनके अगोचर है; इसलिये जीवकी ऐसी कोई भी शक्ति नहीं जिसके द्वारा परतत्त्वका स्वरूप, जीवका स्वरूप और परतत्त्वके साथ जीवके सम्बन्धका सम्यक रूपसे निर्णय किया जा सके। ऐसी अवस्थामें जीव किसी भी भावसे उनकी उपासना क्यों न करे, वे अपने मुख्य स्वरूपसे ही जीवपर कृपा करेंगे। तरल जलकी द्रावकता शक्ति जाने बिना यदि हम सोचें कि जल मिश्रीको गला नहीं सकता और यह सोचकर यदि एक टुकड़ा मिश्रीका जलमें डाल दें तो क्या जल मिश्रीको गलायगा नहीं?

निश्चय ही गलायगा–हमारी अज्ञताके कारण, जल कभी भी अपनी शक्तिका पूर्ण रूपेण प्रयोग किये बिना नहीं रह सकता। उसी प्रकार परतत्त्वके स्वरूपादिके सम्बन्धमें जीवके अपूर्ण ज्ञानको हेतु बनाकर परतत्त्व कभी भी साधक जीवके लिये अपनी अपूर्ण शक्ति या अपने अपूर्ण स्वरूपका प्रकाश नहीं करेंगे; अपने पूर्णतम स्वरूपसे ही सब साधकोंके लिये वे आत्म-प्रकट करते हैं। अतएव योगी, ज्ञानी और भक्त अपने ज्ञानकी अपूर्णतावश विभिन्न भावसे परतत्त्वकी उपासना करें तो भी उनको प्राप्ति एक ही रूप होनी चाहिये।" इसका उत्तर यह है—

"परतत्त्वादिका स्वरूप वाक्य-मनके अगोचर है—यह सत्य है। तथापि वाक्य द्वारा उनके स्वरूपादिका जितना-सा प्रकाश करना शक्य है, दिग्दर्शन रूपसे शास्त्रोंने उसका प्रकाश किया है। साधकको शास्त्र-वाक्यमें विश्वास करना होगा, नहीं तो साधन ही असम्भव हो जायगा।"

प्राकृत जगतमें वस्तु-शक्ति बुद्धि-शक्तिकी कोई भी अपेक्षा नहीं रखती। अग्निकी दाहिका शक्ति न जानकर भी यदि कोई अग्निमें हाथ देगा तो उसका हाथ जलेगा ही। अग्नि सर्वज्ञ नहीं है, अन्तर्यामी नहीं है, सर्व-शक्तिमान भी नहीं है, अग्निका एकसे अधिक स्वरूप भी नहीं है। यदि अग्निमें ये सब चीजें होती, तब यह होता कि हमारा अभिप्राय जानकर, हमारी वासना पूर्तिके लिये उसके जिस स्वरूपमें दाहिका शक्ति नहीं है, हमारे हाथके चारों ओर उसी स्वरूपसे ही आत्म-प्रकट करते। किंतु प्राकृत अग्निके लिये यह असम्भव है; अतएव अग्नि द्वारा अपनी वस्तु-शक्तिका ही प्रकाश होगा। किंतु परतत्त्वके सम्बन्धमें यह युक्ति नहीं लग सकती,—वे बुद्धि-शक्तिकी अपेक्षा रखते हैं, इसलिये उनका नाम 'भावग्राही जनार्दन' है। वे भाव मात्र ग्रहण करते हैं—अर्थात् साधकके भावानुरूप फल ही प्रदान करते हैं। गीतामें भी इसका प्रमाण है :—"**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**" (४।११)। "मुझे कोई किसी भी भावसे क्यों न भजे—ज्ञान-मार्गसे हो, चाहे योग-मार्गसे अथवा भक्ति-मार्गसे, मैं सबपर एक ही भावसे कृपा करता हूँ—यह बात श्रीकृष्णने कही है। साधकके भावके अनुसार ही वे फल दिया करते हैं। उनका एक नाम है 'वाञ्छाकल्पतरु'—वे सबकी यथायोग्य वाञ्छा पूर्ण करते हैं। इसमें हेतु यही है कि परतत्त्व सर्व-शक्तिमान् हैं, वे अनेक स्वरूपोंमें आत्म-प्रकट कर सकते हैं। साधकोंकी मनोवासना पूर्तिके लिये बहुतसे स्वरूपोंसे वे अनादिकालसे आत्म-प्रकट करते आये हैं। वे अन्तर्यामी हैं, साधककी मनोवासना जान सकते हैं; वे वदान्य हैं, साधक जो चाहे, वही देनेमें समर्थ हैं और वही देते आये हैं। मनोगत वासनानुसार कार्य करनेकी शक्ति लोगोंमें नहीं होनेसे, प्राकृत वस्तु, किसीकी भी बुद्धि शक्तिकी अपेक्षा नहीं रखती और न रख सकती है—अपनी शक्तिका सब समय एक ही रूप प्रकाश करती है। किंतु परतत्त्वकी शक्ति

सीमावद्ध नहीं है, इसीसे साधककी मनोगत वासनानुसार फल देनेमें समर्थ है और फल देती रहती हैं—**"याद्वशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति ताद्वशी।"** जो हो, श्रीग्रन्थ प्रतिपादन करते हैं कि साधनके अनुरूप फल ही साधक पाया करता है।

ब्रह्म, परमात्मा इत्यादि—ज्ञान मार्गके उपासक परतत्त्वको निर्विशेष स्वरूप-से धारण करते हैं; अतः परतत्त्व भी निर्विशेष ब्रह्म स्वरूपसे ही उनके निकट प्रकट होते हैं। योग मार्गके उपासक परतत्त्वका अन्तर्यामी परमात्मा रूपसे चिन्तन करते हैं, अतः अन्तर्यामी परमात्मा रूपसे ही योगीके निकट परतत्त्व प्रकट होते हैं। भक्त उनका सर्वशक्तिमान् सविशेष भगवान् रूपसे चिन्तन करते हैं, अतः भक्तके निकट वे भगवान् रूपसे प्रकट होते हैं। मध्यलीला २२वें परिच्छेदमें १४वें पयारकी टीका 'सनातन शिक्षा' ग्रन्थमें देखिये।

तथाहि श्रीमद्भागवते (१।२।११)—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥२५॥

अन्वय आदि इसी परिच्छेदके पृष्ठ ६५ पर श्लोक २२में देखिये। पूर्व पयारके प्रमाणमें यह श्लोक है।

'ब्रह्म' और 'आत्मा'का रूढ़ि अर्थ

'ब्रह्म आत्मा' शब्दे यदि कृष्णके कहय।
रूढ़िवृत्त्ये निर्विशेष अन्तर्य्यामी कय ॥५९॥

है यदपि 'ब्रह्म', 'आत्मा' दोनोंका श्रीकृष्ण अर्थ माना जाता।
पर रूढ़ि वृत्तिसे 'निर्विशेष', 'अन्तर्यामी' जाना जाता ॥

यद्यपि व्यापक अर्थ लेनेसे ब्रह्म शब्दसे और आत्मा शब्दसे श्रीकृष्ण ही समझे जाते हैं, तथापि रूढ़िवृत्तिसे ब्रह्म शब्दसे श्रीकृष्णका निर्विशेष स्वरूप ही समझा

जाता है एवं आत्मा शब्दसे उनका अन्तर्यामी स्वरूप समझा जाता है—यही इस पयारमें बताया है।

रूढ़िवृत्ति—तीन प्रकारकी वृत्तिसे शब्दका अर्थ होता है। एक तो **योगिक अर्थ**—किसी भी शब्दकी धातु और प्रत्ययसे जो अर्थ होता है उसको योगिक अर्थ कहते हैं; जैसे मद्यप—पा धातुका अर्थ पान करना, जो मद्य पान करे वह मद्यप; यहाँ मद्यप शब्दका अर्थ योगिक अर्थ हुआ।

दूसरा **योगरूढ़**—धातु-प्रत्ययगत अर्थोंके बीच एक विशेष अर्थ बतावे वह योगरूढ़ अर्थ होता है; जैसे पङ्कज—पङ्कज शब्दका योगिक अर्थ हुआ जो पङ्कसे उत्पन्न हो; इस अर्थमें पद्म, कुमुद प्रभृति अनेक वस्तुओंको पङ्कज कहा जा सकता है; किंतु पङ्कज कहनेसे साधारणतः केवल पद्म ही समझा जाता है, और कोई वस्तु नहीं। इस वास्ते पङ्कज शब्दके 'पद्म' अर्थको योगरूढ़ कहते हैं।

तीसरा **रूढ़ि**—जिससे शब्दके धातु-प्रत्यय लब्ध अर्थ न बताकर अन्य अर्थ बतावे उसको रूढ़ि अर्थ कहते हैं; जैसे मण्डप; मण्डप शब्दका धातु-प्रत्ययगत अर्थ हुआ जो मण्ड पान करे (जो माण्ड खाय); किंतु मण्डप कहनेसे हमलोग मण्ड-पायी नहीं समझते—मण्डप कहनेसे हम समझते हैं एक प्रकारका घर; जैसे हरि-मण्डप, दुर्गा-मण्डप इत्यादि।

ब्रह्म-शब्दका धातु-प्रत्ययगत अर्थ हुआ वृहत् वस्तु; धातु और प्रत्ययसे निर्विशेष अर्थ नहीं निकलता। अतएव ब्रह्म कहनेसे जो निर्विशेषका बोध होता है, यह ब्रह्म शब्दका रूढ़ि अर्थ है। उसी प्रकार आत्मा शब्दका जो अन्तर्यामी अर्थ है, वह भी रूढ़ि अर्थ है।

निर्व्विशेष—रूप, आकार, गुण, शक्ति इत्यादि जिसमें न हो। **निर्व्विशेष अन्तर्य्यामी**—निर्विशेष और अन्तर्यामी।

ज्ञानमार्गे निर्व्विशेष ब्रह्म प्रकाशे।
योगमार्गे अन्तर्य्यामिस्वरूपेते भासे ॥६०॥

होता उद्भासित निर्विशेष है ज्ञानमार्ग-साधक सम्मुख।
पर योगमार्गचारी पाता अन्तर्यामी-दर्शनका सुख॥

ज्ञानमार्गमें निर्विशेष ब्रह्म प्रकाशित होते हैं और योगमार्गमें अन्तर्यामी स्वरूपसे प्रकाशित होते हैं। पूर्ववर्ती ५८वें पयारकी टीका देखिये।

भक्तिके दो रूप

रागभक्ति विधिभक्ति हय दुइरूप।
स्वयंभगवत्त्वे, भगवत्त्वे,—प्रकाश द्विरूप॥

हैं रागानुगा तथा वैधी—इस भाँति भक्तिके दो प्रकार।
भगवान कृष्ण, श्रीनारायण-भगवत्स्वरूप दो तदनुसार॥६१॥

ज्ञानी और योगीकी प्राप्तिकी बात बताकर भक्तकी प्राप्तिकी बात कहते हैं। भक्ति-मार्गके साधकको ही भक्त कहते हैं। भक्ति दो प्रकारकी है— राग-भक्ति या रागानुगा भक्ति और विधिभक्ति। मध्यलीला, २२वें परिच्छेदके ५८वें एवं ८५-८६वें पयारकी टीका 'सनातन शिक्षा' ग्रन्थमें देखिये।

स्वयं भगवत्त्वे इत्यादि—जो रागानुगा मार्गसे भजन करते हैं, अद्वय-ज्ञान-तत्त्व उनके निकट स्वयं-भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन रूपसे प्रकाशित होते हैं; और जो विधि-भक्ति मार्गसे भजन करते हैं, अद्वय-ज्ञान-तत्त्व उनके निकट भगवान् (अर्थात् वैकुण्ठाधिपति नारायण) रूपसे प्रकाशित होते हैं। परवर्ती पयारमें यह बात और भी स्पष्ट रूपमें बतायी है।

राग भक्त्ये व्रजे स्वयंभगवान् पाय।
विधिभक्त्ये पार्षददेहे वैकुण्ठे जाय॥६२॥

भगवान स्वयंको श्रीव्रजमें जन राग-भक्तिवाला पाता।
पा पार्षद-तन वैकुण्ठ धामको वैधी का साधक जाता॥

रागानुगा भक्तिके द्वारा व्रजेन्द्रनन्दन स्वयं-भगवान्‌की प्राप्ति होती है और विधिमार्गके भजनके साधक वैकुण्ठके उपयोगी पार्षद देह प्राप्त कर वैकुण्ठधाममें जाते हैं।

विधि-भक्ति—विधिमार्गका भजन। विधिमार्गके भजनसे भगवान्‌के माधुर्यका ज्ञान प्रधानता नहीं पाता, महिमाका ज्ञान ही प्रधानता पाता है। **"महिमज्ञानयुक्तः स्याद्विधिमार्गानुसारिणाम्।** भ०र०सि० १।४।१०।" इसीसे विधिमार्गके भजनसे ऐश्वर्य प्रधान वैकुण्ठमें सार्ष्टि आदि चतुर्विध मुक्ति लाभ होती है।

"माहात्म्यज्ञानयुक्तस्तु सुदृढ़ं सर्वतोऽधिकः।
स्नेहोभक्तिरिति प्रोक्तस्तया सार्ष्ट्यादि नान्यथा॥ भ०र०सि०१।४।८।"

अवश्य ही किसी भी शुद्ध भक्त वैष्णवकी कृपा होनेपर विधिमार्गके भजनसे भी ऐश्वर्य-ज्ञानहीना शुद्धा भक्तिकी कृपा प्राप्त की जा सकती है। वृहद्‌भागवतामृत ग्रन्थसे पता चलता है कि श्रीनारद गोपकुमारको कहते हैं— "तुमने जगदीश्वर बुद्धिसे (ऐश्वर्य ज्ञानसे) भक्तिपूर्वक साधन किया है, इसलिये तुम वैकुण्ठ लोकमें उपस्थित हुए हो। इस वैकुण्ठ लोकमें उस गोप्यवस्तुके शिरोमणि एक मात्र व्रजवासीगणके शुद्धप्रेम द्वारा लभ्य सर्व-चित्त-हर श्रीकृष्णको कैसे पा सकते हो? भगवान्‌के प्रति परम प्रियतम बुद्धिसे ही प्रेम-सम्पदा प्राप्त हो सकती है, केवल मात्र इस प्रेम सम्पद्‌से ही उनका अनुभव सम्भव है।

स वै विनोदः सकलोपरिष्टाल्लोके क्वचिद्भाति विलोभयन् स्वान्।
सम्पाद्य भक्तिं जगदीशभक्त्या वैकुण्ठमेत्यात्र कथं त्वयेक्ष्यः॥२।४।१३२

ऐश्वर्यज्ञानसे विधिमार्गके साधनसे वैकुण्ठ प्राप्ति मात्र हो सकती है, इस श्लोकसे यही जाना गया।

तथाहि श्रीमद्भगवते (१०।६।२१)—

नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः।
ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह॥२६॥

संस्कृतटीका—किञ्च, श्रीभागवतेऽस्मिन् भगवत्-प्रेमैव सर्वपुरुषार्थ-

शिरोमणित्वेनोद्घुष्यते तस्य मूलभूताश्रयाणां भक्तानां मध्ये नित्यसिद्धत्व एव तस्य नित्यस्थितिः सम्भवेत् तेष्वपि मध्ये गोकुल-वर्तिनस्तन्मात्रादयः एव श्रेष्ठा येषात् वात्सल्यादिभावविषयीभूतः कृष्णस्तदनुगमन-भक्तिमद्भिरेव सुलभो नान्यैरित्याह नायमिति। अयं गोपिकासुतः न सुखापः। केषां देहिनां देहाध्यासवतां ज्ञानिनां देहाध्यासरहितानां आत्मरामभक्तानां तथाभूतत्वे सत्येव प्राप्तियोग्यतायां निषेधसम्भवात्। आत्मभूतानां पूर्वश्लोक निर्दिष्टानां विरिञ्चभवश्रियाम्। तत्र विरिञ्चभवयोः स्वावतारत्वेन लक्ष्म्याः स्वरूप-शक्तित्वेनात्मभूतत्वम्। एवं त्रिविधजनानां गोपिकासुतो भगवान् न सुखापः। किं तदिति विकुण्ठा कौशल्यादिसुत एव दुःखमेवाभिव्यञ्जयति। यथा इह श्रीयशोदायामेतदुपलक्षितेषु वात्सल्य-सख्य-कान्तभावाश्रयेषु व्रजलोकेषु या भक्तिः स्त्रिय उरगेन्द्रभोग-भुजदण्डेत्यादिना यथा त्वल्लोकवासिन्य इत्यादिना च व्यञ्जिता श्रुत्यादिभिरनुगतिमयी तद्वतां यथा सुखापस्तथा तेनेति तेन गोपिकाद्यनुगतिमय-स्वन्यूनतादुःखाङ्गीकारस्तु विरिञ्च-भव-लक्ष्म्यादिभिरीश्वराभिमानिभिः स्वस्वलोकस्थितैर्दुःशक एव अन्येषान्तु तादृशोपदेशस्यालाभाद-रोचकत्वाद्वा तदनुगत्यभाव एवेति भावः। तत्र सुखापदुष्प्रापशब्दाभ्यां प्राप्त्यप्राप्ती एवोच्यते इति केचिदाहुः। चक्रवर्ती।

अन्वय—अयं (ये) भगवान् (भगवान्) गोपिकासुतः (यशोदानन्दन—श्रीकृष्ण) भक्तिमतां (भक्तिमानोंके लिये) यथा (जिस प्रकार) सुखापः (सुखलभ्य—सुलभ हैं), देहिनां (देहाभिमानियोंके) ज्ञानिनां (देहाभिमान्यशून्य ज्ञानियोंके) आत्मभूतानां च (एवं ब्रह्मा-शिव-लक्ष्मी आदि भगवान्‌के आत्मभूत स्वरूप-गणके लिये भी) न तथा सुखापः (उस प्रकार सुलभ नहीं हैं)।

अनुवाद—श्रीशुकदेवजीने महाराज परीक्षितको कहा—ये गोपिकासुत भगवान् श्रीकृष्ण भक्तिमान व्यक्तियोंके लिये जिस प्रकार सुलभ हैं, अनायास-लभ्य हैं, देहाभिमानी व्यक्तियोंके लिये, देहाभिमानशून्य ज्ञानियोंके लिये, यहाँ तक कि ब्रह्मा, शिव या लक्ष्मी आदि भगवान्‌के आत्मभूत स्वरूपगणके लिये भी वे उतने सुलभ नहीं हैं।

देहिनां—देहादिमें अभिमान है जिनको, उन सब लोगोंके लिये, अथवा **ज्ञानिनां**—देहादिमें अभिमानशून्य ज्ञानमार्गके लोगोंके लिये, यहाँतक कि **आत्मभूतानां**—भगवान्‌के स्वरूपभूतके लिये भी (ब्रह्मा और शिव निजके अवतार होनेके कारण भगवान्‌के आत्मभूत हैं, लक्ष्मी उनकी स्वरूपशक्ति होनेके कारण आत्मभूत है—इन सब आत्मभूत व्यक्तिगणके लिये भी) भगवान् गोपिका-सुत उस प्रकार सुलभ नहीं हैं, जितने सुलभ वे भक्तिमानोंके लिये हैं। **गोपिकासुतः**—यशोदानन्दन ; परम्-वात्सल्यमयी गोपिका-यशोदाके यहाँपर श्रीकृष्णका परिचय करानेका तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण-वात्सल्यमयी यशोदाके प्रेमके आधीन हैं। इसके उपलक्षणसे वे दास्य, सख्य एवं मधुरभावके व्रज-परिकरगणके भी आधीन हैं, यह भी सूचित होता है। इस प्रकार श्रीकृष्ण व्रज-परिकरोंके प्रेमके वशीभूत होनेके कारण व्रजपरिकरगण कृपा करके जिसको श्रीकृष्णसेवामें नियोजित करते हैं उनके प्रेमके वशीभूत होकर श्रीकृष्ण उनको अङ्गीकार कर लेते हैं। इसीसे व्रजमें श्रीकृष्णसेवा प्राप्त करनेके लिये व्रजपरिकरोंका आनुगत्य स्वीकार करके भजन करना होगा, जिससे व्रजपरिकरगण यह आनुगत्य स्वीकार करके श्रीकृष्ण-सेवा-दान करनेके इच्छुक हों। इस भावसे जो भजन करते हैं ; वैसे **भक्तिमतां**—भक्तिमानोंके लिये श्रीकृष्ण सुलभ हैं।

इस श्लोकसे जाना गया कि व्रजपरिकरगणका आनुगत्य स्वीकार करके जो लोग श्रीकृष्ण-भजन करते हैं, उनके लिये ही कृष्ण-प्राप्ति सहज है। और जो लोग आनुगत्य स्वीकार नहीं करते, वे—ब्रह्मा, शिव यहाँतक कि स्वयं लक्ष्मीदेवी होनेपर भी—व्रजमें श्रीकृष्ण-सेवा नहीं पाते। इस प्रकारसे सीधे अर्थसे तथा व्यतिरेक भावसे दिखाया गया कि व्रजपरिकरगणके आनुगत्यसे रागानुगामार्गके भजनसे ही व्रजेन्द्रनन्दनकी सेवा प्राप्त की जा सकती है।

पूर्व पयारके पूर्वार्द्धके प्रमाणमें यह श्लोक है।

तथाहि श्रीमद्भागवते (३।१५।२५)—

यच्च व्रजन्त्यनिमिषामृषभानुवृत्त्या
दूरे यमा ह्युपरि नः स्पृहणीयशीलाः ।

भर्तुर्मिथः सुयशसः कथनानुराग-

वैक्लव्यवाष्पकलया पुलकीकृताङ्गाः ॥२७॥

संस्कृतटीका—पुनः कथम्भूतम्? यच्च नः उपरिस्थितं व्रजन्ति। के? अनिमिषां देवानां ऋषभः श्रेष्ठो हरिः तस्यानुवृत्या दूरे यमो येषाम्। यद्वा दूरीकृतयमनियमाः। दूरेऽहमा इति पाठे दूरीकृताहङ्कारा इत्यर्थः। स्पृहणीयं कारुण्यादिशीलं येषाम्। किञ्च भर्तुर्हरेर्यत् सुयशस्तस्य मिथःकथने योऽनुरागस्तेन वैक्लव्यं वैवश्यं तेन वाष्पकला तया सह पुलकीकृतमङ्गं येषाम्। यद्वा न उपरीति व्रजतां विशेषणं निरहङ्कारत्वात् अस्मत्तोऽपि येऽधिकास्ते यद् व्रजन्तीत्यर्थः। स्वामी।

अनिमिषां कालानधीनामित्यर्थः। श्रीजीव।

अन्वय—अनिमिषां (देवताओंके) ऋषभानुवृत्त्या (श्रेष्ठ जो भगवान् हैं, उनकी अनुवृत्ति द्वारा—भगवान्में भक्तिके प्रभावसे) दूरे यमाः, (यम जिनके निकटसे दूर हट चुके हैं) हि नः उपरि (जो हमलोगोंसे भी ऊपर हैं, अर्थात् जो भक्तिके प्रभावसे हमलोगोंकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ हैं), स्पृहणीयशीलाः (जिनके कारुण्यादि गुण दूसरोंके लिए स्पृहणीय हैं), मिथः (परस्पर) भर्त्तुः (प्रभुके—भगवान्के) सुयशसः (सुकीर्त्तिके) कथनानुराग-वैक्लव्य-वाष्पकलया (कीर्त्तनमें अनुरागजन्य विवशतावश जिनके नेत्रोंमें जलकण), पुलकीकृताङ्गाः (एवं जिनके अङ्गमें पुलक है, वे) यत् (जिस स्थानमें—जिस वैकुण्ठमें) व्रजन्ति (गमन करते हैं)।

अनुवाद—ब्रह्मा देवगणसे बोले—"देवगणके प्रधान या अधीश्वर भगवान्में भक्तिके प्रभावसे जिन्होंने यमको दूर कर दिया है, भक्तिके प्रभावसे जो हमलोगोंसे भी श्रेष्ठ हैं, जिनके कारुण्यादि गुण हमारे लिये भी स्पृहणीय हैं, एवं जो परस्पर अपने प्रभु भगवान्के उपादेय यश-राशिके कीर्त्तनमें अनुरागसे भरे विवश होकर अश्रुसहित पुलक धारण करते हैं, वे वैकुण्ठधामको गमन करते हैं।

अनिमिषां—जो कालके प्रवाहके अधीन नहीं है, काल-प्रभावजनित वार्द्धक्यादि जिनमें नहीं है, उनका; देवताओंका। अनिमिषामृषभानुवृत्त्या—

अनिमिषोंके (देवताओंके) ऋषभ (प्रधान या अधीश्वर हैं जो), उन भगवान्‌की अनुवृत्ति (सेवा या भक्ति) द्वारा ; दूरेयमाः दूर हैं यम जिनके, वे दूरेयमाः ; भक्तिके प्रभावसे जिन्होंने यमको (अर्थात् यमके शासनको अथवा शासनके भयको) दूर हटा दिया है ; जो यमके शासनसे अतीत हैं ; **स्पृहणीयशीलाः**--स्पृहणीय (दूसरोंके द्वारा वाञ्छनीय) शील (कारुण्यादि गुण समूह) हैं जिनके ; जिनके कारुण्यादि गुण समूह अपर जनोंके (हमलोगोंके भी—ब्रह्मादि देवगणके भी) वाञ्छनीय हैं ; **सुयशस्सः कथनानुराग-वैक्लव्य-वाष्पकलया**—उत्तम यश-राशिके कथनके अनुरागवशतः जो वैक्लव्य (विवश) हैं, उस वैक्लव्यवशतः (नयनोंमें उद्गत) जो वाष्पकला (अश्रु-समूह) है, उससे **पुलकीकृताङ्गाः**—जिनके अङ्ग पुलकीकृत (पुलकित) हुए हैं। भगवत् गुणोंके कीर्त्तनवश जिनके नयनोंमें अश्रु और शरीरमें पुलकका उद्गम हुआ है, वे—**नः उपरि**—एवं जो उपर्युक्त गुणावलीके अधिकारी होनेसे (ब्रह्मादि देवगणसे भी) ऊपर हैं ; ब्रह्मादि देवगणसे भी श्रेष्ठ हैं, वे वैकुण्ठ पहुँच जाते हैं। अथवा (नः उपरि—वाक्यका उक्त रूप अन्वय न करके, व्रजन्ति क्रियाके साथ उसका अन्वय करनेसे) तादृश भक्तगण **नः उपरि**—हमलोगोंसे ऊपर स्थित वैकुण्ठलोकमें **व्रजन्ति**—गमन करते हैं।

पूर्ववर्ती पयारके उत्तरार्द्धके प्रमाणमें यह श्लोक है।

तीन प्रकारके उपासक

सेइ उपासक हय त्रिविध प्रकार—।
अकाम, मोक्षकाम, सर्व्वकाम आर ॥६३॥

जो जन उपासनामें रत हैं, उनके भी होते भेद तीन।
या सर्वकाम, या मोक्षकाम, या सकल कामनासे विहीन ॥

उपासक तीन प्रकारके होते हैं—अकाम, सर्वकाम और मोक्षकाम। स्वसुख-वासना आदि जिनमें नहीं है, वे हुए अ-काम। जो सर्व प्रकार इन्द्रिय भोग्य

वस्तुकी कामना करें, वे सर्व-काम—भुक्तिकामी। और जो मुक्तिकी कामना करें, वे मोक्षकाम।

तथाहि श्रीमद्भागवते (२।३।१०)—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥२८॥

संस्कृतटीका—अकामः एकान्त भक्तः। उक्तानुक्त-सर्वकामो वा पुरुषं पूर्णं परं निरुपाधिम्। स्वामी।

अन्वय—**अकामः** (स्वसुख-वासनादिशून्य एकान्त भक्त), **सर्वकामः** (धन आदि सब विषयोंकी कामना करनेवाला व्यक्ति) **मोक्षकामः वा** (अथवा मोक्षकाम) **उदारधीः** (सुबुद्धि होनेपर) **तीव्रेन** (तीव्र—एकान्तिक) **भक्तियोगेन** (भक्तियोगके सहित) **परं पुरुषं** (परम पुरुष श्रीकृष्णको) **यजेत** (भजते हैं)।

अनुवाद—महाराज परीक्षितको श्रीशुकदेवजीने कहा—महाराज! सुख-वासनादिसे शून्य एकान्त भक्त, अथवा धनादि सब कामना करनेवाला, अथवा मोक्षकाम ज्ञानी—कोई भी क्यों न हो, वे यदि उदारबुद्धि (सुबुद्धि) हों, तो एकान्तिक भक्तिके सहित परम पुरुष भगवान्‌को भजते हैं।

पूर्व पयारके प्रमाणमें यह श्लोक है।

'बुद्धिमानेर' अर्थ-यदि विचारज्ञ हय।
निजकाम-लागि तबे कृष्णेरे भजय ॥६४॥

यदि 'बुद्धिमान'का अर्थ व्यक्ति, जिसका विचारसे युक्त चित्त।
तब कृष्ण-भजन-रत होगा वह निज काम बनानेके निमित्त॥

बुद्धिमानेर इत्यादि—पूर्ववर्ती श्लोकके 'उदारधीः' शब्दका अर्थ ही 'बुद्धिमान' है। पूर्ववर्ती श्लोकमें बताया गया है कि अकाम हो, सर्वकाम हो, अथवा

मोक्ष-काम हो, जो कोई भी हो, यदि वे बुद्धिमान हैं, बुरे-भलेका विचार करनेकी क्षमता रखते हैं, तो अपनी अभीष्ट वस्तुको पानेके निमित्त वे श्रीकृष्णको ही भजेंगे—अन्य किसीको नहीं। श्रीकृष्णको क्यों भजेंगे--इसका हेतु परवर्ती पयारमें बताया है।

इससे यह भी ध्वनित होता है कि अपनी काम्यवस्तु पानेके लिये जो कृष्णको नहीं भजते, वे बुद्धिमान नहीं हैं।

भजय—भक्तियोग द्वारा उपासना करते हैं।

भक्ति बिनु कोन साधन दिते नारे फल।
सब फल देय भक्ति स्वतन्त्र प्रबल ॥६५॥

कोई भी साधन बिना भक्तिके कभी नहीं दे सकता फल।
भक्ति ही सभीका फल देती, है भक्ति स्वतंत्र, तथैव प्रबल ॥

श्रीकृष्णको भजनेका हेतु यह है कि श्रीकृष्ण-भजन किये बिना भुक्ति या मुक्ति जो कुछ भी अपना अभीष्ट क्यों न हो, वह प्राप्त नहीं होता। कारण—ज्ञान, योग, कर्म—इनमेंसे कोई भी साधन भक्तिकी सहायता बिना स्वतन्त्र भावसे अपना-अपना फल नहीं दे सकता। इसी वास्ते कहा गया है—"भक्ति-मुख-निरीक्षक कर्म्मयोगज्ञान। मध्यलीला, २२वाँ परिच्छेद, १४वाँ पयार।"

"न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥श्रीम० भा० ११।१४।२०।"

सब फल इत्यादि—कर्म, योग और ज्ञान, अपना-अपना फल देनेके लिये भक्तिकी सहायताकी अपेक्षा रखते हैं, किंतु भक्ति अपना फल प्रदान करनेके लिये कर्म-योगादिकी किसीकी भी अपेक्षा नहीं रखती। कारण, भक्ति स्वतन्त्र है अर्थात् अन्य निरपेक्ष है एवं भक्ति प्रबल है—स्वयं ही प्रभूत-शक्ति-सम्पन्ना है, अतएव अन्य किसीकी भी शक्तिकी अपेक्षा नहीं रखती। कर्म-योगादि स्वतन्त्र भी नहीं हैं और प्रबल भी नहीं हैं।

अजा-गल-स्तन-न्याय अन्य साधन ।
अतएव हरि भजे बुद्धिमान जन ॥६६॥

जितने भी साधन अन्य, सभी हैं अजागलस्तनके समान ।
अतएव भजन केवल करते हरिका, जो जन हैं बुद्धिमान ॥

अजा-गल-स्तन—अजाका अर्थ बकरी ; बकरीके गलेमें जो मांस-पिण्ड रहता है, वह देखनेमें बहुत कुछ स्तन-सा लगता है ; इसलिये उसको अजागलस्तन (बकरीके गलेका स्तन) कहते हैं । देखनेमें स्तन जैसा दीखनेसे ही उसको स्तन कहते हैं, वास्तवमें वह स्तन नहीं है कारण, स्तनकी तरह उसमें-से दूध नहीं निकलता । **अन्य साधन**—भक्तिके अतिरिक्त अन्य साधन ज्ञानयोग-कर्मादि । **अजागलस्तन न्याय अन्य साधन**—कर्म योग-ज्ञानादि अन्य साधन साधन-सादृश्य होनेसे साधन कहकर परिचित हैं ; वास्तवमें ये साधन नहीं हैं । कारण, जिस अनुष्ठानके द्वारा साध्य वस्तु या अभीष्ट वस्तु मिले, उसीको साधन कहते हैं । जिसके द्वारा अभीष्ट वस्तु न मिले, उसको साधन कहना सङ्गत नहीं होता । कर्म-योग-ज्ञानादि भी स्वतन्त्र भावसे भुक्ति-मुक्ति-आदि साधककी अभीष्ट वस्तु नहीं दे सकते, अतएव प्रकृत प्रस्तावसे कर्म-योगादिको साधन नहीं कहा जा सकता । भक्ति ही प्रकृत साधन है ; कारण, भक्ति द्वारा साधककी कोई भी अभीष्ट वस्तु मिल सकती है । तथापि कर्म-योग-ज्ञानादिको जो साधन कहा गया है— वह बकरीके गलेके मांस-पिण्डको स्तन कहनेकी तरह ही है ; अजागलस्तन जिस प्रकार देखनेमें ही स्तन-सा है, किंतु उसमें दूध नहीं है, इसी तरह कर्म-योगादि भी वाह्यिक अनुष्ठानादिसे ही साधन-से लगते हैं, वास्तविक साधन नहीं हैं ; क्योंकि साधककी अभीष्ट वस्तु नहीं दे सकते । जब भक्तिकी सहायता मिलती है तभी वे साधकका अभीष्ट फल दे सकते हैं, नहीं तो नहीं ; किंतु भक्ति कर्मयोगादिकी सहायता बिना ही साधककी अभीष्ट वस्तु दे सकती है । इसलिये कहा गया है कि जो बुद्धिमान हैं, वे यह सब विचार करके श्रीहरिको ही भजते हैं अर्थात् भक्तियोगका अनुष्ठान करते हैं ।

तथा हि श्रीभगवद्गीतायाम् (७।१६)—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥२६॥

संस्कृतटीका—सुकृतिनस्तु मां भजन्त्येव ते च सुकृतितारम्येन चतुर्विधा इत्याह चतुर्विधा इति। पूर्वजन्मसु ये कृतपुन्यास्ते मां भजन्ति ते चतुर्विधाः —आर्त्तो रोगाद्यभिभूतः स यदि पूर्वं कृतपुण्यस्तर्हि मां भजति अन्यथा क्षुद्रदेवताभजने संसरति एवं उत्तरात्रापि द्रष्टव्यम्। जिज्ञासुरात्मज्ञानेच्छुः अर्थार्थी अत्र परत्र च भोगनसाधनभूतार्थप्रेप्सुः, ज्ञानी चात्मवित् । स्वामी।

अन्वय—अर्जुन (हे अर्जुन) ! भरतर्षभ (हे भरतवंश श्रेष्ठ) ! आर्त्तः (विपदग्रस्त या रोगादि द्वारा अभिभूत), जिज्ञासु (तत्त्व-ज्ञानको पानेका इच्छुक), अर्थार्थी (धनादि प्रार्थी), ज्ञानी च (एवं ज्ञानी—आत्मवित्) [एते] (ये) **चतुर्विधाः** (चार प्रकारके) **सुकृतिनः** (सुकृती) **जनाः** (जन) **मां** (मुझे) **भजन्ते** (भजते हैं)।

अनुवाद—हे भरतवंशावतंस अर्जुन ! आर्त्त (विपदग्रस्त), जिज्ञासु (तत्त्व-ज्ञानेच्छु), अर्थार्थी (धनादि प्रार्थी) एवं ज्ञानी—ये चार प्रकारके सुकृती लोग मेरा भजन करते हैं।

आर्त्त—रोगादिसे अभिभूत ; जो बहुत कालसे किसी कठिन रोगको भोग रहे हैं, अथवा जो अन्य किसी प्रकारकी विपदमें पड़ गये हैं, उनको आर्त्त कहते हैं ; रोगादिसे अथवा विपदसे उद्धार पानेके लिये वे श्रीकृष्णका भजन करते हैं— यदि वे सुकृती हों तो ; सुकृती हुए बिना श्रीकृष्णभजनमें मति नहीं होगी— विपदसे मुक्ति पानेके लिये अन्य देव-देवीकी पूजादि करनेमें इच्छुक होंगे। **जिज्ञासुः**—तत्त्वज्ञान पानेको इच्छुक ; **अर्थार्थी**—धन-सम्पत्ति आदि इह कालकी एवं स्वर्गादि परकालकी भोग साधन वस्तु पानेके इच्छुक ; **ज्ञानी**—आत्मवित् ; विशुद्ध अन्तःकरण विशिष्ट संन्यासी (चक्रवर्ती) ; परवर्ती पयारमें 'जिज्ञासु' और 'ज्ञानी'को मोक्षकाम कहा गया है ; इससे प्रतीत होता है कि इस श्लोकमें 'ज्ञानी' कहनेसे 'निर्विशेष ब्रह्मध्यान परायण' व्यक्तिको ही—ज्ञानमार्गके साधकको ही

लक्ष्य किया गया है। जो हो, आर्त्त-जिज्ञासु-आदि **सुकृतिनः**—सुकृती हैं, पूर्व जन्मके सञ्चित पुण्य यदि उनके हों, तो वे अपनी-अपनी अभीष्ट सिद्धिके निमित्त श्रीकृष्ण भजन किया करते हैं।

पूर्व श्लोकमें कहा गया है, सर्वकाम या मोक्षकाम व्यक्तिगण यदि सुबुद्धि हों, तो वे श्रीकृष्ण भजन किया करते हैं। इस श्लोकमें भी वही कहा गया है—'आर्त्त' और अर्थार्थी' व्यक्तिगण सकाम होनेसे 'सर्वकाम' के और 'जिज्ञासु' और 'ज्ञानी' व्यक्तिगण 'मोक्षकाम'के अन्तर्भुक्त हैं।

'आर्त्त' 'अर्थार्थी' दुइ सकाम भितरे गणि।
'जिज्ञासु' 'ज्ञानी' दुइ मोक्षकाम मानि॥

दोनों सकामके अंतर्गत हैं, आर्त्त तथा अर्थार्थी जन।
होता जिज्ञासु तथा ज्ञानीका मोक्षकामगण मध्य गणन ॥६७॥

ज्ञान-मार्गके साधकगण सभी निर्विशेष ब्रह्मके साथ सायुज्य-मुक्तिकी प्रार्थना करते हैं। इनमें साधारणतया तीन श्रेणी देखनेमें आती हैं। प्रथमतः—जो पर-तत्त्वके एकमात्र निर्गुण, निःशक्तिक, निर्विशेष स्वरूपका अस्तित्व मात्र स्वीकार करते हैं; किंतु साकार, सगुण, स-शक्तिक कोई भी स्वरूपका अस्तित्व है—यह स्वीकार नहीं करते (यहाँपर सगुणका अर्थ है अप्राकृत-गुण-सम्पन्न—प्राकृत-गुण युक्त नहीं)। द्वितीयतः—जो परतत्त्वके निर्विशेष स्वरूपको स्वीकार करते हैं, एवं सविशेष स्वरूपको मायिक सत्त्व-गुणजात मानते हैं। तृतीयतः—जो निर्विशेष स्वरूपको स्वीकार करते हैं, सविशेष स्वरूपको भी स्वीकार करते हैं; एवं सविशेष-स्वरूपको सच्चिदानन्द विग्रह मानकर स्वीकार करते हैं। इस अन्तिम श्रेणीके साधक ही श्रीकृष्णका भजन करते हैं। इसका कारण यह है—सब साधक ही मायासे मुक्ति पाना चाहते हैं। किंतु माया भगवान्‌की शक्ति है, इसलिये यह माया जीवके लिये दुरतिक्रमणीया है। "**दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।** गीता ७।१४।" जीव अपनी शक्तिसे किसी प्रकार भी इस दैवी मायाके हाथसे उद्धार नहीं पा सकता। श्रीभगवान्‌के अतिरिक्त अन्य कोई

भी भगवान्‌की शक्ति मायाको अपसारित नहीं कर सकता। इसीसे जो भगवान्‌का भजन करते हैं, उनके शरणापन्न होते हैं, एकमात्र वे ही उनकी कृपासे इस दैवी-मायाके हाथसे छुटकारा पा सकते हैं।

"मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते। गीता ७।१४।"—यह है गीताकी उक्ति। इस उक्तिसे जाना गया कि भगवान्‌के शरणापन्न होनेसे, वे कृपा करके शरणागत जीवको मायाके हाथसे निष्कृति दे देते हैं और इसके अतिरिक्त निष्कृतिका और कोई मार्ग है भी नहीं। ऐसी हालतमें भगवान्‌के जिस स्वरूपमें कृपालुता है, उस स्वरूपकी उपासना करनेसे ही वे उपासकके प्रति कृपा दिखा सकते हैं; जिस स्वरूपमें कृपालुता आदि अप्राकृत गुण नहीं हैं वह स्वरूप किस प्रकार कृपा दिखायेगा? ब्रह्मका निर्विशेष स्वरूप है निर्गुण; कृपालुता और भक्तवात्सल्यादि गुण उनमें नहीं है; अतएव वे साधकोंके प्रति कृपा-प्रकाश कर ही नहीं सकते, उनका मायासे उद्धार कर ही नहीं सकते, उद्धार करनेकी शक्ति (शक्तिगुण) भी उनमें नहीं है; क्योंकि वे निःशक्तिक हैं।

इसलिये एकमात्र सविशेष स्वरूपकी उपासना करनेसे ही वे कृपा करके साधक जीवको मायासे मुक्त कर सकते हैं; क्योंकि वे सगुण सशक्तिक होनेसे कृपालुता और भक्तवात्सल्यादि गुण उनमें हैं, एवं सशक्तिक होनेसे कृपा करके साधक जीवको मायासे उद्धार करनेकी शक्ति भी उनकी है। इसीलिये शेषोक्त ज्ञानी साधकगण मुक्ति पानेके लिये श्रीकृष्णका भजन करते हैं; वे श्रीकृष्णके चरणोंकी शरण लेकर मायासे उद्धार होनेकी प्रार्थना करते हैं, एवं उनके निर्विशेष स्वरूपके साथ सायुज्य-मुक्तिकी प्रार्थना करते हैं। वे भी कृपा करके उनको माया-मुक्त करके अपने निर्विशेष स्वरूपके साथ सायुज्य दे देते हैं। भक्ति-शास्त्रके मतानुसार एकमात्र इसी श्रेणीके ज्ञानी-साधक मुक्ति लाभ कर सकते हैं, और दूसरे नहीं; क्योंकि जो लोग सविशेष स्वरूपका अस्तित्व नाम मात्र भी स्वीकार नहीं करते, अतः किसी भी सविशेष स्वरूपके शरणापन्न नहीं होते, उनको माया-मुक्त कौन करे? मायामुक्त होनेसे पूर्व तो मायातीत-निर्विशेष-स्वरूपके साथ सायुज्य मुक्ति हो नहीं सकती। उनका निर्विशेष स्वरूप तो निर्गुण, निःशक्तिक है; निःशक्तिक होनेसे उन साधकोंकी उपासनाकी बात भी वे नहीं जान पाते,

क्योंकि उनमें सम्वित्-शक्तिका विकास नहीं है। इसीलिये एवं कृपालुता आदि गुण-शून्य होनेसे वे साधकको माया-मुक्त नहीं कर सकते। और जो सविशेष स्वरूपको मायिक सत्त्वगुणका विकार मानते हैं, उनकी भी यही अवस्था है। वे यदि सविशेष विग्रहके शरणापन्न हों, तो भी माया-मुक्त नहीं हो सकते ; क्योंकि सविशेष स्वरूपको वे मायिक विग्रह मानते हैं और सविशेष स्वरूप भी उनके निकट मायिक विग्रह रूपसे ही क्रिया करेंगे—"**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**। गीता ४।११।"—मायातीत सच्चिदानन्द विग्रहका धर्म उनके निकट प्रकाश नहीं करेंगे। जो स्वयं मायिक विग्रह हैं, वे कभी भी किसीको भी मायासे मुक्त कर नहीं सकते। वायुमण्डलमें अवस्थित कोई भी मनुष्य कभी भी किसी भी वस्तुको वायुमण्डलके बाहर निक्षेप कर नहीं सकता। निद्रित व्यक्ति कभी भी इच्छा करके दूसरे निद्रित व्यक्तिको जाग्रत कर नहीं सकता।

जो हो, अब मूल पयारका मर्म प्रकाश किया जाय।

आर्त्त भक्त और अर्थार्थी भक्त—दोनों ही सकाम हैं ; कारण, रोगादिसे मुक्ति, स्वर्गादि भोग प्रभृति आत्मेन्द्रिय प्रीतिजनक वस्तु ही उनकी प्रार्थनीय हैं।

जिज्ञासु और ज्ञानी—इन दो श्रेणियोंके भक्त ब्रह्मके साथ सायुज्य मुक्तिकी कामना करते हैं (मोक्ष कामी हैं)।

एइ चारि सुकृति हये महा भाग्यवान्।
तत्तत् कामादि छाड़ि मागे शुद्धभक्तिदान।६८।

बन महा भाग्यशाली जाते ये भक्त चतुर्विध सुकृती सब।
कामना त्याग निज-निज करते याचना भक्ति शुद्धाकी जब॥

एइ चारि—आर्त्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी। ये सब महाभाग्यवान्, परम सुकृति शाली हैं, क्योंकि कृष्णकी कृपासे अथवा साधुकी कृपासे, अर्थादि या मोक्षादिकी कामना त्याग कर वे श्रीकृष्णचरणोंमें शुद्धा भक्तिकी कामना करते हैं।

तत्तत् कामादि—प्रत्येककी अपनी-अपनी वासना होती है। आर्त्त भक्त रोगादिसे निष्कृतिके लिये कृष्ण-भजन करता है ; यह रोग निवृत्ति हुआ उसका

काम या वासना। अर्थार्थी भक्त धन-जन-स्वर्गादिके लिये भजन करता है; धन-जनादि हुआ उसका काम। जिज्ञासु आत्म-ज्ञान-लाभके लिये भजन करता है; आत्म-ज्ञान-लाभ हुआ उसका काम। ज्ञानी सायुज्य-मुक्ति-लाभके लिये श्रीकृष्ण-भजन करता है; सायुज्य मुक्ति हुआ उसका काम। सभी अपने लिये कुछ न कुछ पानेके उद्देश्यसे श्रीकृष्ण-भजन करते हैं—आर्त्त चाहता है रोग-मुक्ति—अपनी या अपने किसी आत्मीय जनकी। अर्थार्थी चाहता है धन-जनादि, अपने लिये। ज्ञानी चाहता है मुक्ति, अपने लिये। अपनी बात सम्यक रूपसे भूलकर एकमात्र श्रीकृष्ण सुखके निमित्त इनमें-से कोई भी श्रीकृष्ण-भजन नहीं करता।

किंतु जब इनके परम सौभाग्यका उदय होता है, तब श्रीकृष्ण-चरणोंमें—धन-जन-मोक्षादि अपनी-अपनी काम्य वस्तुके निमित्त प्रार्थना न करके—श्रद्धा-भक्तिकी प्रार्थना करने लगते हैं। वह परम सौभाग्य कौन-सा है, यह परवर्ती पयारमें बताया जा रहा है।

शुद्धाभक्ति—इह-कालके, पर-कालके अपने भोग-सुखादि, यहाँतक कि मोक्षादि तककी उपेक्षा करके एकमात्र श्रीकृष्णकी प्रीतिके निमित्त जो श्रीकृष्ण-सेवा है, उसीको ही शुद्धा भक्ति कहते हैं।

"अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकुल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥ भ० र० सि० १।१।९॥"

मध्यलीला, १९वें परिच्छेदमें १४८वें पयारकी टीका देखिये।

साधुसङ्गकृपा किवा कृष्णेर कृपाय।
कामादि दुःसङ्ग छाड़ि शुद्धभक्ति पाय॥६९॥

यदि साधु-सङ्गसे साधु-कृपा, या कृष्ण-कृपाका बरसे जल।
तब कामादिक दुःसङ्गका हो त्याग, प्राप्त हो भक्ति विमल॥

कौनसे परम सौभाग्यका उदय होनेपर आर्त्त, अर्थार्थी आदि चतुर्विध भक्त-गण अपनी-अपनी काम्य वस्तुकी प्रार्थना न करके श्रीकृष्ण-चरणोंमें शुद्धा भक्तिकी

प्रार्थना करते हैं, वह इस पयारमें बताया जा रहा है। साधु-कृपा या कृष्ण-कृपा ही यह परम सौभाग्य है।

"महत्कृपा बिना कोन कर्म्मे भक्ति नय।

कृष्ण भक्ति दूरे रहु संसार ना जाय क्षय॥ चै० च० म० ली० २२।३२॥"

साधुसङ्गकृपा—साधुका (महान् का) सङ्ग एवं कृपा; साधुसङ्गके प्रभावसे साधुकी कृपा। **कामादि दुःसङ्ग**—साधुकी कृपासे अथवा श्रीकृष्ण-कृपासे भुक्ति-मुक्ति-आदि कामनाओंका त्याग करके श्रीकृष्ण-भजन करनेसे ही शुद्धा भक्ति मिल सकती है। यहाँ कामादिको दुःसङ्ग कहा गया है। इसका तात्पर्य परवर्ती पयारकी व्याख्यामें प्रकाश किया गया है।

तथाहि श्रीमद्भागवते (१।१०।११)—

सत्सङ्गान्मुक्तदुःसङ्गो हातुं नोत्सहते बुधः।
कीर्त्यमानं यशो यस्य सकृदाकर्ण्य रोचनम्॥३०॥

संस्कृतटीका—तेषां पुनः कृष्णविरहासहनं कैमुतिकन्यायेनाह सत्सङ्गादि द्वाभ्याम्। सतां सङ्गाद्धेतोः मुक्तः पुत्रादिविषयो दुःसङ्गो येन सः। सद्भिः कीर्त्यमानः रुचिकरं यस्य यशः सकृदप्याकर्ण्य सत्सङ्गं त्यक्तुं न शक्नोति। स्वामी।

अन्वय—**सत्सङ्गात्** (साधु सङ्गके प्रभावसे) **मुक्तदुःसङ्गः** (कृष्ण—कृष्णभक्तिके अतिरिक्त अन्य कामनारूप दुःसङ्गका त्याग कर दिया है जिन्होंने, उनके सदृश) **बुद्धः** (बुद्धिमान् व्यक्ति), **कीर्त्यमानं** (साधुगणद्वारा कीर्त्यमान्) **रोचनं** (रुचिकर) **यस्य** (जिनका—जिन भगवान्का) **यशः** (यश—कीर्ति, गुण) **सकृत्** (एक बार) **आकर्ण्य** (श्रवण करके) **हातुं** (वह सत्सङ्ग छोड़नेमें) **न उत्सहते** (समर्थ नहीं होते)।

अनुवाद—सत्सङ्गके प्रभावसे जिन्होंने (कृष्णभक्तिके अतिरिक्त अन्य कामना रूप) दुःसङ्ग परित्याग कर दिया है, ऐसे बुद्धिमान् जन, साधुगण कर्त्तृक कीर्त्यमान रुचिकर भगवद्यश एक बार श्रवण करके फिर सत्सङ्गको त्याग करनेमें समर्थ नहीं होते।

सत्सङ्गके प्रभावसे जो कृष्णविषयक कामनाके अतिरिक्त अन्य कामनाएँ दूर होती हैं, "सत्सङ्गात् मुक्तदुःसङ्गः"—पदसे वही सूचित होता है ; साधुगणका सङ्ग करते-करते उनकी कृपा होनेपर अन्य कामना दूरीभूत होनी सम्भव है, और साधु कृपाके बिना वैसा सम्भव नहीं।

"महत्कृपा बिना कोन कर्म्मे भक्ति नय।
कृष्ण भक्ति दूरे रहु संसार ना जाय क्षय।। चै० च० म० ली० २२।३२।।"

साधु और महत्के लक्षण आदि लीला, प्रथम परिच्छेद, २९वें पयारकी एवं मध्यलीला, १७वें परिच्छेद, १०६वें पयारकी टीकामें देखिये।

सत्सङ्गके प्रभावसे दुःसङ्ग दूरीभूत होनेपर जिस भक्तिका उदय होता है 'हातुं न उत्सहते'—वाक्यद्वारा वही सूचित होता है ; कारण, भगवत् कथा सुननेके लिये लालसा ही भक्तिका लक्षण है ; इस लालसाके उत्पन्न होनेसे साधु-सङ्ग त्याग करते नहीं बनता।

यह श्लोक पूर्ववर्ती पयारके प्रमाणमें है।

दुःसङ्ग—आत्मवञ्चना

दुःसङ्ग कहि—कैतव आत्मवञ्चना।
'कृष्ण'-'कृष्णभक्ति' बिनु अन्य कामना।।७०।।

दुःसङ्ग नाम कैतवका है, है आत्मवञ्चना ही कैतव।
श्रीकृष्ण, कृष्णकी भक्ति सिवा कोई अपरेच्छा ही कैतव।।

दुःसङ्ग—असत्-सङ्ग, कु-सङ्ग। कैतव—आदिलीलामें प्रथम परिच्छेदके ५०से ५८ तकके पयारमें वर्णन है—

"कृष्णभक्तिर बाधक जत शुभाशुभ कर्म्म। सेइ एक जीवेर अज्ञान-तमोधर्म्म।।
अज्ञान-तमेर नाम कहिये कैतव। धर्म्म, अर्थ, काम, मोक्ष वाञ्छादि सब।।
तार मध्ये मोक्ष-वाञ्छा कैतव प्रधान। जाहा हैते कृष्णभक्ति हय अन्तर्धान।।"

इससे समझा जाता है कि जो कृष्ण-भक्तिके बाधक हैं, वही कैतव हैं। आत्म-वञ्चना—अपने आपको वञ्चित करनेका उपाय मात्र। कृष्ण-कृष्णभक्ति बिनु—कृष्ण-प्राप्तिकी कामना अथवा कृष्णभक्ति पानेकी कामनाके अतिरिक्त अन्य कामनाका हृदयमें पोषण करना ही दुःसङ्ग करना है। ऐसा दुःसङ्ग करना ही अपनेको कृष्णसेवा सुखसे वञ्चित करना है। परवर्ती पयारकी टीका देखिये।

जो सु-सङ्ग नहीं है, सत्-सङ्ग नहीं है, वही दुःसङ्ग है। सत्सङ्ग कहनेसे एक मात्र श्रीकृष्ण सङ्ग या श्रीकृष्ण सम्बन्धीय वस्तुका सङ्ग ही समझा जाता है (मध्य-लीला, २२वें परिच्छेदके ४६वें पयारकी टीकामें सत्सङ्ग शब्दका अर्थ देखिये)। इसके अतिरिक्त कोई भी सङ्ग असत्सङ्ग व दुःसङ्ग है। इसीसे श्रीकृष्ण व्यतीत अन्य वस्तुका साहचर्य, या अन्य वस्तुमें आसक्ति, अथवा साधन-भक्तिके अनुष्ठान-के अतिरिक्त अन्य कार्यादिका अनुष्ठान, या अन्य कार्यादिमें आसक्ति ही दुःसङ्ग है।

कामनाके पोषणको ही सङ्ग कहा गया है। वास्तवमें किसी भी वस्तु या व्यक्तिके सङ्गकी अपेक्षा कामनाका सङ्ग ही घनिष्ठ है। वस्तु या व्यक्ति तो बाहर रहते हैं, इच्छा करनेपर उनसे हम दूर हट कर जा सकते हैं ; किंतु कामना रहती है हृदयके अन्तस्थलमें ; हम जहाँ भी जायँ, कामना हमारे सङ्ग-सङ्ग जायगी ; कामना हमारी नित्य सहचर है। यही कामना यदि भक्तिके पुष्टि-साधनमें सहायता करे तो जीवके लिये मङ्गल है ; इस प्रकारकी कामनाका सङ्ग ही वास्तविक सत्सङ्ग है। किंतु जो कामना भक्तिमें विघ्न उत्पन्न करे, उसका सङ्ग ही दुःसङ्ग है। इसीलिये कृष्ण-कामना या कृष्णभक्ति-कामनाको सत्सङ्ग कहा गया है ; और इसके अतिरिक्त और जो कुछ भी कामना है—शुभ कर्मकी कामना, अशुभ कर्मकी कामना, या धर्म-अर्थ-काम-मोक्षादिकी कामना इत्यादि—अपने सुख भोग या अपने दुःख निवृत्तिके लिये जो कामना है—जिस कामनाका लक्ष्य श्रीकृष्ण-सेवा नहीं—इस प्रकारकी कोई भी कामना दुःसङ्ग है।

भक्तिका एक लक्षण होता है श्रीकृष्ण-सेवाकी अभिलाषाके अतिरिक्त अन्य अभिलाषा-शून्यता ; अतः अन्य कामना जहाँपर है, वहाँ भक्ति नहीं रह सकती। इस प्रकारकी कामनासे भक्ति नष्ट होती है ; भक्ति नष्ट होनेसे श्रीकृष्ण-सेवा-

प्राप्ति असम्भव हो जाती है, जीव श्रीकृष्णसेवा सुखसे वञ्चित हो जाता है। इसीलिये इस प्रकारकी कामनाको कैतव या आत्मवञ्चना कहा गया है।

कृष्ण-कामना एवं कृष्णभक्ति-कामना व्यतीत अन्य कामनाको जो कैतव बताया है, उसके प्रमाणस्वरूप नीचे "**धर्मः प्रोज्झित-कैतवोऽत्र परमो**" श्लोक उद्धृत किया जाता हैं। इस श्लोकका मर्म यही है कि जिसमें कैतव है वह परम धर्म नहीं है।

किंतु धर्म किसको कहते हैं? धृ+मन्=धर्म। 'धृ' धातु धारणके अर्थमें, और मन् प्रत्यय कर्तृवाच्यमें और कर्मवाच्यमें प्रयुक्त होता है। ऐसा होनेपर जो जीवको धरकर रक्खे, वही जीवका धर्म है, एवं जिसके द्वारा जीव धृत हो वह भी जीवका धर्म है। किसमें धरकर रक्खे और किसके द्वारा धृत हो? जीवके स्वरूपमें और स्वरूप सम्बन्धी कार्यद्वारा, जो जीवको जीवके स्वरूपमें या स्वरूप सम्बन्धी कार्यादिमें धरकर रक्खे, वह हुआ जीवका धर्म; इसको कहते हैं साध्य धर्म। जिसके द्वारा जीव इस स्वरूपमें या स्वरूप सम्बन्धी कर्ममें (नियुक्त होकर) धृत हो सके, वह भी जीवका धर्म है; उसे कहते हैं साधन-धर्म।

साध्य धर्म हो अथवा साधन धर्म, वह प्रोज्झित-कैतव होना चाहिये, उसमें कैतवकी गन्धमात्र भी नहीं होनी चाहिये। अन्य कामना ही कैतव है। जीवका साध्य धर्म यदि श्रीकृष्णकी सेवाके अतिरिक्त और कुछ हो, तो वह धर्म नहीं, वह आत्म-वञ्चना है। जीवके साधनमें यदि श्रीकृष्णसेवाकी वासनाके अतिरिक्त अन्य वासना पूर्तिका उद्देश्य रहे तो वह उसका साधन धर्म नहीं है—वह आत्मवञ्चना है।

तथाहि श्रीमद्भागवते (१।१।२)—

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किं वा परैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्॥३१॥

संस्कृतटीका—अथ वक्ष्यमाणशास्त्रस्य कर्मज्ञानभक्ति प्रतिपादकेभ्यः

त्रिकाण्डविषय-शास्त्रेभ्यो वैशिष्ठ्यं दर्शयन् क्रमादुत्कर्षमाहधर्म इति। अत्र यस्तावद्धर्मो निरूप्यते स खलु स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षज इत्यादिकया। अतः पुंभिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रम-विभागशः। स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणमित्यन्तया रीत्या भगवत्सन्तोषणैकतात्पर्येण शुद्धभक्त्युत्पादनतया निरूपणात्। परम एव। यतः सोऽपि तदेकतात्पर्यत्वात् प्रोज्झितकैतवः। प्र-शब्देन सालोक्यादि-सर्वप्रकार-मोक्षाभिसन्धिरपि निरस्तः यतः एवासौ तदेकतात्पर्यत्वेन निर्मत्सराणां फलकामुकस्येव परोत्कर्षासहनं मत्सरः तद्रहितानामेव तदुपलक्षणत्वेन पश्वालम्भने दयालुनामेव च सतां स्वधर्मपराणां विधीयते। एवमीदृशं स्पष्टमनुक्तवतः कर्मशास्त्रादुपासनाशास्त्राच्चास्य तत्तत् प्रतिपादकांशे अपि वैशिष्ठ्य-मुक्तम्। उभयत्रैव धर्मोत्पत्तेः। तदेवं साक्षात् श्रवण-कीर्तनादिरूपस्य वार्तातु दूरत आस्तामिति भावः। अथ ज्ञानशास्त्रेभ्योऽप्यस्य पूर्ववद्वैशिष्ठ्यमाह वेद्यमिति। तैर्व्याख्यातं भगवद्भक्तिनिरपेक्षप्रायेषु तेषु प्रतिपादितमपि श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य इत्यादिन्यायेन वेद्यं निश्रेयसं न भवतीति। वस्तुनस्तस्य सशक्तित्वमाह। तापत्रयं मायाकार्यमुन्मूलयति तन्मूलभूताऽविद्यापर्यन्तं खण्डयतीति स्वरूप-शक्त्या। तथा शिवं परमानन्दं ददात्यनुभावयति इति च तयैवेत्यनेनेदं ज्ञाप्यते अन्यत्र मुक्तावनुभवमननेह्यपुरुषार्थत्वापातः स्यात् तन्मननादत्र तु वैशिष्ठ्यमिति। न चास्य तत्तद्दुर्लभवस्तुसाधनत्वे तादृशनिरूपणसौष्ठवमेव कारणमपितु स्वरूपमपीत्याह। श्रीमद्भागवत इति। भागवतत्वं भगवत्प्रतिपादकत्वम्। श्रीमत्वं श्रीभगवन्नामादेरिव तादृश-स्वाभाविकशक्तिमत्वम्। नित्ययोगे मतुप्। अतएव समस्ततयैव निर्दिश्य नीलोत्पलादिवत्तन्नामत्वमेव बोधितम्। अन्यथातु अविमृष्टविधेयांशतादोषः स्यात्। अत उक्तं गारुड़े। ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रः श्रीमद्भागवताभिधः इति। श्रीमद्भागवतं भक्त्या पठते हरिसन्निधाविति। टीकाकृद्भिरपि। श्रीमद्भागवताभिधः सुरतरुरिति। अतः क्वचित् केवलं भागवताख्यत्वं तु सत्यभामा भामेतिवत्। तादृश प्रभा-वत्वे कारणं परमश्रेष्ठकर्तृकत्वमप्याह। महामुनिः श्रीभगवान् तस्यैव

परम विचारपारङ्गतत्वात् महाप्रभावगणशिरोमणित्वाच्च। स मुनिर्भूत्वा समचिन्तयदिति श्रुतेः। तेन प्रथमं चतुःश्लोकीरूपेण संक्षेपतः प्रकाशिते। कस्मै येन विभाषितोऽयमित्याद्यनुसारेण सम्पूर्ण एव वा प्रकाशिते। तदेवं श्रेष्ठ्यजातमन्यत्रापि प्रायः सम्भवतु नाम सर्वज्ञानशास्त्र-परमज्ञेय-पुरुषार्थ-शिरोमणि-श्रीभगवत्साक्षात्कारस्तत्रैव सुलभ इति वदन् सर्वोर्द्ध्वप्रवाहमाह किं वेति। अपरैमेक्षिपर्यन्तकामनारहितेश्वराराधन-लक्षणधर्म-ब्रह्मसाक्षात्कारादिरुक्तैरनुक्तैर्वा किं यद्वामाहात्म्यमुपपन्नमित्यर्थः। यतो य ईश्वरः कृतिभिः कथञ्चित्तत्साधनानुक्रमलब्धया भक्त्या कृतार्थैः सद्यस्तत्क्षणमेव व्याप्य हृदि स्थिरीक्रियते। स एवात्र श्रोतुमिच्छद्भिरेव तत्क्षणमारभ्य सर्वदैवेति। तस्मादत्र काण्डत्रयरहस्यप्रवक्तव्यप्रतिपादनादे विशेषत ईश्वराकर्षिविद्यारूपत्वाच्च इदमेव सर्वशास्त्रेभ्यः श्रेष्ठम्। अतएवात्रेति पदस्य त्रिरुक्तिः कृता सा हि निर्द्धारणार्थेति अतो नित्यमेतत् श्रोतव्यमिति भावः। क्रमसन्दर्भ।

अन्वय—**महामुनिकृते** (महामुनिकृत) **अत्र** (इस) **श्रीमद्भागवते** (श्रीमद्-भागवत ग्रन्थमें) **निर्मत्सराणां** (निर्मत्सर) **सतां** (साधुगणके) **प्रोज्झितकैतवः** (कैतव शून्य) **परमः** (सर्वोत्कृष्ट) **धर्मः** (धर्म) [**निरूप्यते**] (निरूपित हुआ है)। **अत्र** (इसमें) **तापत्रयोन्मूलनं** (त्रितापनाशक) **शिवदं** (मङ्गलप्रद) **वास्तवं** (परमार्थ-भूत) **वस्तु** (द्रव्य) **वेद्यम्** (ज्ञातव्य हैं)। **परैः** (अन्य शास्त्रद्वारा) **ईश्वरः** (ईश्वर) **हृदि** (हृदयमें) **किंवा** (क्या) **सद्यः** (तत्क्षण) **अवरुध्यमे** (अवरुद्ध होते हैं)? **अत्र** (इसमें—श्रीमद्भागवतके सम्बन्धमें) **कृतिभिः** (सुकृति भक्तोंद्वारा) **शुश्रूषुभिः** (श्रवणकी इच्छा करते ही) **तत्क्षणात्** (उसी समय) **अवरुध्यते** (अवरुद्ध होते हैं)।

अनुवाद— महामुनि श्रीनारायण-कृत इस श्रीमद्भागतमें, निर्मत्सर साधुगणके अनुष्ठेय सम्यक्रूपसे फलाभिसन्धियुक्त परम धर्म निरूपित हुआ है। इस श्रीमद्भागवतसे तापत्रयकी मूलोत्पादक एवं परम मङ्गलप्रद वास्तविक वस्तु जानी जा सकती है। अन्य शास्त्रद्वारा, अथवा अन्य शास्त्रोक्त साधनद्वारा ईश्वर क्या सद्य ही हृदयमें अवरुद्ध होते हैं? (अर्थात् नहीं होते)। किंतु जो समस्त

सुकृति भक्त इस श्रीमद्भागवतको श्रवण करनेकी इच्छा करते हैं, उनके हृदयमें श्रवणकी इच्छा मात्रसे ईश्वर अवरुद्ध होते हैं।

श्रीमद्भागवतके प्रकटका विवरण, श्रीमद्भागवतमें उपदिष्ट धर्मका स्वरूप एवं श्रीमद्भागवत श्रवणका फल इस श्लोकमें व्यक्त हुआ है।

प्रथमतः, प्राकट्यका विवरण। इस श्लोकमें बताया है कि यह श्रीमद्भागवत ग्रन्थ महामुनिकृत है। ये महामुनि कौन हैं? श्रीनारायण स्वयं। श्रुति कहती है—"स मुनिर्भुत्वा समचिन्तयत्"। सृष्टिके आरम्भमें श्रीनारायणने ब्रह्माके निकट चतुःश्लोकी रूपमें संक्षेपमें यह श्रीमद्भागवत् प्रकाश की थी। पश्चात् यह चतुःश्लोकी ही विस्तृत रूपसे समस्त श्रीमद्भागवत रूपमें प्रकाशित हुई। ये श्लोक चतुष्टय इस प्रकार हैं :—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यत् यत् सदसत् परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येतसोऽस्म्यहम्॥
ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः॥
यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्॥
एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा॥

इन श्लोकोंका अन्वय, अनुवाद एवं टीका आदिलीलाके श्लोक संख्या २३से २६ तकमें देखिये।

इस ग्रन्थके **श्रीमद्भागवत्** नामकी भी अच्छी सार्थकता है। इस ग्रन्थमें भगवत्-तत्त्व प्रतिपादित हुआ है, इसीसे इसका नाम **भागवत** है। **श्रीमत्** शब्दका अर्थ स्वाभाविक शक्ति सम्पन्न ; श्रीभगवान्के नाम-रूप-गुण-लीलादिमें जिस प्रकार मणि-मन्त्र-महोषधिकी तरह स्वाभाविक-अचिन्त्य-शक्ति है, इस भागवत ग्रन्थमें भी वैसी ही स्वाभाविक अचिन्त्य-शक्ति होनेसे इसका नाम हुआ श्रीमद्भागवत। भगवत्-तत्त्व प्रतिपादक यह श्रीग्रन्थ सर्वज्ञ भगवान् स्वयं

श्रीनारायणद्वारा प्रकाश होनेसे इसके प्रामाण्यके एवं सर्वश्रेष्ठत्वके सम्बन्धमें कोई भी सन्देह नहीं रह सकता।

द्वितीयतः, श्रीमद्भागवतमें उपदिष्ठ धर्मका स्वरूप। श्रीमद्भागवतमें जो धर्म निरूपित हुआ है, इस श्लोकमें उसको **परम धर्म** कहा गया है। परम-धर्म शब्दसे क्या तात्पर्य है? "**स वै पुंसां परो धर्मः यतो भक्तिरधोक्षजे**। (श्रीमद्-भागवत १।२।६)॥"—इन वचनोंके अनुसार परम-धर्म वही होता है जिससे अधोक्षज सच्चिदानन्द-घन श्रीभगवान्में भक्ति उत्पन्न हो। इस भक्तिका तात्पर्य क्या है? "**स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्**। (श्रीम० भा० १।२।१३)॥" इस प्रमाणके अनुसार श्रीभगवत्-प्रीति ही परम धर्मका एकमात्र तात्पर्य है। श्रीमद्-भागवतमें जो धर्म उपदिष्ठ हुआ है उसका तात्पर्य और एकमात्र लक्ष्य हुआ—श्रीभगवत्-प्रीति। भगवत्-प्रीतिके साधनके अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकारकी वासना यदि धर्मानुष्ठानके साथ जड़ित रहे, तो वह धर्म होनेपर भी परम-धर्म (श्रेष्ठ-धर्म) नहीं हो सकता। इसीलिये इस परम-धर्मको कहा गया है "**प्रोज्झित-कैतव**।" प्रकृष्ट रूपसे उज्झित (परित्यक्त) हो गया है कैतव जिससे, वही होता है **प्रोज्झित कैतव** (परम-धर्म); यह "**परमो धर्मः**" शब्दोंका विशेषण है। प्रश्न उठ सकता है—उज्झित (परित्यक्त) कैतव कहनेसे भी तो कैतव-वर्जितत्त्व समझा जा सकता था, फिर प्र-उपसर्ग क्यों? टीकामें श्रीधरस्वामीपादने प्र-उपसर्गकी सार्थकताकी बात बताई है। "**प्र-शब्देन मोक्षाभिसन्धिरूपि निरस्तः**" प्र-शब्दद्वारा मोक्ष वासना भी निरस्त होती है। स्वामीपादकी टीकामें 'अपि' शब्दका तात्पर्य है—धर्म, अर्थ, काम—ये तीन वस्तुएँ तो दूर रही, मोक्षकी वासना भी जिससे परित्यक्त हो, वही परम धर्म है। जीवका स्वरूप एवं स्वरूपानु-बन्धी कर्त्तव्य क्या है?—यह जान लेनेसे ही स्वामीपादकी उक्तिका तात्पर्य समझमें आ जायगा। वह बताया जा रहा है। जीव है स्वरूपतः श्रीकृष्णकी चिद्रूपा जीवशक्ति (गीता ७।५)। शक्ति और शक्तिमानका अभेद वर्णनमें श्रीकृष्णने जीवको अपना सनातन अंश भी बताया है (गीता १५।७)। शक्तिका स्वरूपानु-बन्धी कर्त्तव्य है एकमात्र शक्तिमानकी आनुकुल्यामयी सेवा एवं अंशका भी कर्त्तव्य है एकमात्र अंशीकी आनुकुल्यामयी सेवा। आनुकुल्यामयी सेवा ही है

प्रीतिमयी सेवा। जीव जब स्वरूपतः परब्रह्म श्रीकृष्णकी शक्ति और अंश है, तो जीवका भी स्वरूपानुबन्धी कर्त्तव्य होगा—श्रीकृष्णकी आनुकुल्यामयी या प्रीतिमयी सेवा। जीव और श्रीकृष्णमें यदि स्वरूपतः प्रीतिका बन्धन रहे तो ही यह सम्भव हो सकता है। वृहदारण्यक-श्रुतिने बताया है—परब्रह्म परमात्मा ही जीवके एकमात्र प्रिय हैं (१।४।८, २।४।५)। प्रियत्व वस्तु स्वरूपतः ही पारस्परिक होनेसे, परब्रह्म जब जीवके एकमात्र प्रिय हुए तो जीव भी परब्रह्मका प्रिय होगा ; अर्थात् जीव और परब्रह्म श्रीकृष्णके बीच स्वरूपगत सम्बन्ध हुआ है प्रियत्वका सम्बन्ध ; इसीसे प्रिय रूपसे परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्णकी सेवा है जीवका स्वरूपानुबन्धी कर्त्तव्य या धर्म। इसीलिये वृहदारण्यक श्रुतिने प्रियरूपसे परब्रह्म परमात्माकी उपासनाका उपदेश दिया है। "आत्मानमेव प्रियमुपासीत ॥१।४।८॥" प्रिय रूपसे उपासनाका या सेवाका तात्पर्य हुआ—एकमात्र प्रियका प्रीतिविधान। सेवाके बदलेमें प्रियके निकट अपने लिये कुछ चाहना प्रियत्वका विरोधी है—वस्तुतः ऐसी सेवा कपटतामयी सेवा होती है। प्रिय रूपसे परब्रह्म श्रीकृष्णकी सेवाका तात्पर्य भी है—श्रीकृष्ण-सुखेक-तात्पर्यमयी सेवा, एवं यही है जीवका स्वरूपानुबन्धी कर्त्तव्य अथवा धर्म। जो ऐसी सेवाकी कामना करते हैं, वे मोक्ष—अर्थात् सालोक्यादि पञ्चविधा मुक्ति—स्वयं तो चाहते ही नहीं, भगवान्‌के उपयाचक होकर देना चाहनेपर भी वे उसको ग्रहण नहीं करते। यह बात भगवान् ही बता गये हैं :—

"सालोक्य-सार्ष्टि-सामीप्य-सारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनः॥ (श्रीम० भा० ३।२६।१३)

इसका कारण यही है कि मोक्ष है माया-बन्धनसे छुटकारा पाना ; मोक्ष कामनाका अर्थ हुआ अपने लिये कुछ चाहना ; यह प्रियत्व-धर्म-विरोधी है—अतः जीवके स्वरूपानुबन्धी कर्त्तव्य कृष्ण-सुखेक-तात्पर्यमयी सेवाका भी विरोधी हुआ। जीवका स्वरूपानुबन्धी कर्त्तव्य जो है, वही होगा उसका परम (सर्वश्रेष्ठ) कर्त्तव्य और उसी कर्त्तव्य प्राप्तिके उपायस्वरूप जो धर्म है, वही होगा उसका परम धर्म। धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी वासना होती है जीवके स्वरूपानुबन्धी कर्त्तव्य (परम कर्त्तव्य) कृष्णसुखेक-तात्पर्यमयी सेवाकी वासनाकी विरोधी। कृष्णसुखेक-

तात्पर्यमयी सेवाकी वासनाका नाम ही है प्रेम या प्रेमभक्ति। "कृष्णेन्द्रिय-प्रीति-इच्छा धरे प्रेम नाम। चै० च० आ० ४।१४१॥" अतः धर्म-अर्थ-काम-मोक्षकी वासना हुई प्रेम या भक्ति विरोधी।

धर्म-अर्थ-काम-मोक्षकी वासनाको कैतव या आत्म-वञ्चना क्यों कहा गया ? — इसकी विवेचना की जाती है। शक्तिमान्‌के साथ शक्तिका, अंशीके साथ अंशका जो सम्बन्ध है, वह होता है अविच्छेद्य। जीवके साथ श्रीकृष्णका शक्ति-शक्तिमत्-सम्बन्ध एवं अंशांशी सम्बन्ध होनेसे यह भी अविच्छेद्य है। परब्रह्म श्रीकृष्ण नित्य (त्रिकाल सत्य) वस्तु है ; जीवस्वरूप —श्रीकृष्णकी चिद्रूपा जीवशक्तिका अंशरूप (जीव) भी नित्यवस्तु है। इसीलिये श्रीकृष्णने जीवको अपना सनातन अंश बताया है (गीता १५।७)। अतः श्रीकृष्णके साथ जीवका सम्बन्ध हुआ— नित्य, अविच्छेद्य। इसलिये श्रीकृष्णके प्रति जीव स्वरूपका एक स्वाभाविक आकर्षण विद्यमान रहता है। उस आकर्षणको प्रकाश मिलता है—सुखके लिये एवं प्रियके लिये जीवकी चिरन्तनी वासनासे। संसारमें देखा जाता है कि जीव मात्रको ही सुखके लिये एवं प्रियके लिये एक चिरन्तनी वासना है। यह वासना सुख-स्वरूप, आनन्द-स्वरूप एवं जीवके एकमात्र प्रिय-स्वरूप श्रीकृष्णके लिये है, अनादि बहिर्मुख जीव यह समझ नहीं सकता। क्योंकि अनादि-बहिर्मुख जीव अनादिकालसे उनको भूला हुआ है, अतः उनके साथ अपने स्वरूपगत सम्बन्धकी बात भी भूला हुआ है। अनादि बहिर्मुखतावश होकर मायाके कवलमें पतित होकर जीव देहमें आत्मबुद्धिका पोषण करता है और सोचता है कि उसमें अपनेसे जो सुख वासना है वह होती है देहकी सुख वासना, एवं उसमें अपनेमें जो प्रिय प्राप्तिकी वासना है, वह है देहकी सुख साधक वस्तुकी अथवा व्यक्तिकी प्राप्ति वासना, इसीसे देहके सुखके लिये एवं देह सुख सम्बन्धी प्रिय वस्तुके लिये या प्रिय व्यक्तिकी प्राप्तिके लिये जीव सर्वदा व्यस्त रहता है। किंतु चाहे जितनी चेष्टा क्यों न करे, उसकी सुख वासना एवं प्रिय वासना संसारमें कभी भी परमातृप्ति लाभ नहीं कर सकती, क्योंकि जिस सुख एवं जिस प्रियके लिये उसकी वासना है, उसको नहीं जाननेसे जीव उसकी प्राप्तिका उपाय भी अवलम्बन नहीं कर सकता। आनन्द-स्वरूप, रस-स्वरूप, प्रिय-स्वरूप परब्रह्म श्रीकृष्णको प्रिय रूपसे अपना करके

पानेपर ही उसका सुखके लिये छटपटानेका चिर अवसान हो सकता है। श्रुति भी यही बताती है—"रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति"। किंतु श्रीकृष्णके साथ अपने स्वरूपगत सम्बन्धकी बात न जाननेसे, अनादि बहिर्मुख जीव—धर्म, अर्थ, कामजनित सुखके द्वारा, एवं मोक्ष लाभके द्वारा ही अपनी चिरन्तनी सुख वासनाकी चरमातृप्ति घटानेकी चेष्टा करता है। किंतु यह होती है कैतव, आत्मवञ्चना। क्योंकि धर्म-अर्थ-काम-मोक्षद्वारा सुख स्वरूप प्रिय स्वरूप श्रीकृष्णको नहीं पाया जाता, कृष्णसुखेक-तात्पर्यमयी सेवा नहीं पायी जाती। अतएव वही श्रीकृष्ण सुखेक-तात्पर्यमयी सेवा ही है जीवका स्वरूपगत कर्त्तव्य एवं जिनके साथ जीवका नित्य, अविच्छेद्य प्रियत्वका सम्बन्ध है उन्हीं श्रीकृष्णके सुखकी वासना है उसकी सुखवासना और प्रिय वासना भी है। शिशु जब दूधके लिये रोदन करता है, तब उसको दूध न देकर, खड़िया घोलकर सफेद जल देनेसे उसकी वञ्चना ही करना होता है। श्रुति प्रमाण और विस्तृत आलोचना टीकाकारके बंगभाषाके 'महाप्रभु श्रीगौराङ्ग' ग्रन्थके १६।२ अनुच्छेदमें देखिये।

इस परम धर्मका अनुष्ठान कौन-कौन कर सकते हैं? यह **"निर्मत्सराणां सतां"** अनुष्ठेय है; निर्मत्सर साधु व्यक्तिगण ही इस परम धर्मका अनुष्ठान कर सकते हैं। जो दूसरोंका उत्कर्ष सह न सके उसको मत्सर कहते हैं। इस प्रकारकी मत्सरता जिनमें नहीं हो, वे ही हैं **'निर्मत्सर'**। जो किसी भी प्रकारके फलकी आकांक्षा रखते हैं वे ही साधारणतया मत्सर होते हैं; कारण, वे किसी भी विषयमें दूसरेका उत्कर्ष सह नहीं सकते। अतः फलाभिसन्धानशून्य व्यक्ति ही निर्मत्सर हो सकता है। जिस परम धर्मके अनुष्ठानमें किसी भी प्रकारकी फलाभिसन्धिका स्थान नहीं है, ऐसे धर्मका सम्यक् अनुष्ठान इस प्रकारके निर्मत्सर व्यक्तिको छोड़कर अन्य किसीके द्वारा होना सम्भव नहीं है। इसीसे कहा गया है कि यह परम धर्म, निर्मत्सर साधुगणद्वारा ही अनुष्ठेय है। सत् और साधुके लक्षण आदिलीलाके प्रथम परिच्छेदके २८वें श्लोक (श्रीम० भा० ११।२६।२६) की टीकामें देखिये।

प्रश्न उठ सकता है कि जो निर्मत्सर नहीं है, वे क्या इस हरितोषण-तात्पर्य-

मय परम धर्मका अनुष्ठान नहीं करें? उत्तर—वे भी इस परम धर्मका अनुष्ठान कर सकते हैं; अनुष्ठान करते-करते उनकी मत्सरता निमूल हो जायगी।

काम लागि कृष्ण भजे पाय कृष्ण रसे।

काम छाडि दास हइते हय अभिलाषे॥ चै० च० म० २१।२७॥

श्रीमद्भागवत श्रवणका फल सुनिये। प्रथमतः श्रीमद्भागवतसे वास्तव-वस्तु जानी जाती है—'वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु'। वास्तव वस्तु क्या है? परमार्थभूत-वस्तु ही वास्तव वस्तु है (श्रीधर स्वामी)। परमार्थभूत-वस्तु क्या है? पूर्वोल्लिखित हरितोषण-तात्पर्यमय परम-धर्म ही, अर्थात् भक्ति ही परमार्थभूत-वस्तु है। कारण, यह भक्ति अपना फल प्रदान करनेमें कर्म-योग-ज्ञानादिकी अपेक्षा नहीं रखती; किंतु कर्म-योग-ज्ञानादि अपना फल प्रदान करनेमें भक्ति-की अपेक्षा रखते हैं। और इस भक्तिके द्वारा ही भगवान् श्रीकृष्णका सम्यक् अनुभव एवं उनकी सम्यक् सेवा प्राप्ति सम्भव है, ज्ञान-योगादि द्वारा वह सम्भव नहीं; भक्तिमें ही भगवत्-वशीकरण शक्ति है; इसीसे यह भक्ति ही परम पुरुषार्थभूत वस्तु है।

अथवा जो भूत, भविष्यत्, वर्तमान—सब समय स्थिर रहे, वही नित्य, वही वास्तव-वस्तु है। भगवान्‌का स्वरूप, उनके नाम-रूप-गुणादि, उनके धामादि, उनके परिकरादि एवं उनमें भक्ति—ये सभी नित्य होनेसे वास्तव-वस्तु हैं। इनके अतिरिक्त जगत् आदि जो कुछ भी हैं, वे सभी वस्तु होनेपर भी अनित्य होनेसे वास्तव-वस्तु नहीं हैं।

इस वास्तव-वस्तुका स्वरूप इस श्रीमद्भागवत ग्रन्थसे जाना जाता है। इस वास्तव-वस्तुका तत्त्व जाननेपर क्या होता है, अर्थात् इस वास्तव-वस्तुकी शक्ति क्या है, यह भी इस श्लोकमें बताया है। यह 'शिवदं'—मङ्गलप्रद है। मङ्गल क्या होता है? परमानन्द ही जीवकी एकमात्र मङ्गलमय वस्तु है; कारण, यही सब अवस्थाओंमें जीवके लिये प्रार्थनीय है। वास्तव-वस्तु अपनी शक्तिसे जीवको यह परमानन्द दान दे सकती है। अथवा 'सत्यं शिवं सुन्दरं'—इस श्रुति प्रमाणके अनुसार एकमात्र शिव-वस्तु जो श्रीकृष्ण हैं, वह इस वास्तव-वस्तु (भक्ति) द्वारा ही पायी जा सकती है—श्रीकृष्ण पाये जाते हैं, श्रीकृष्ण-सेवा

पायी जाती है। इसके द्वारा भक्तिकी श्रीकृष्ण-वशीकरण-शक्ति सूचित होती है।

इस वास्तव-वस्तुकी एक और शक्ति यह है कि यह 'तापत्रयोन्मूलन'—त्रितापका मूलभूत कारण जो अविद्या है उस अविद्याका नाश करती है। भक्तिकी कृपासे भगवदनुभवरूप परमानन्द लाभ होनेसे आनुषङ्गिक भावसे आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक—इन तापत्रयकी मूल जो अविद्या है उसका निवारण होता है।

कृती—लोकगण कर्तृक श्रीमद्भागवत श्रवणकी, यहाँतक कि श्रवणेच्छाकी भी और एक अलौकिकी अचिन्त्य-शक्ति यह है—"ईश्वरः सद्यो हृद्यवरुध्यते कृतिभिः शुश्रूषुभिः तत्क्षणात्। ये समस्त कृती व्यक्ति श्रीमद्भागवत सुननेकी इच्छा करते हैं, उस श्रवणेच्छाके समयसे ही श्रीहरि उनके हृदयमें अवरुद्ध होकर रहते हैं।" 'कृतिभिः' शब्दका अर्थ श्रीजीवगोस्वामीपादने लिखा है—"कथञ्चित्-तत्साधनानुक्रमलब्धया भक्त्या कृतार्थैः। परम धर्मके कथञ्चित साधनके प्रभावसे भक्ति-रानीकी कुछ कृपालाभ करके जो कृतार्थ हुए हैं, वे ही सुकृती हैं।" इस प्रकारके सुकृति भक्तगण यदि श्रीमद्भागवत सुननेकी इच्छा करें तो जिस समयसे उनकी श्रवणेच्छा होती है, ठीक उसी समय (सद्यः) से श्रीकृष्ण उनके हृदयमें अवरुद्ध होते हैं एवं उसी समयसे आरम्भ करके (तत्क्षणात्) सर्वदा ही श्रीकृष्ण उनके उस चित्तमें अवरुद्ध हुए रहते हैं। अवरुद्ध—शब्दका तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण उनके हृदयसे फिर निकल नहीं सकते। इसके द्वारा श्रीमद्भागवत श्रवणमें जो श्रीकृष्ण वशीकरण शक्ति है वह सूचित होती है। यह श्रीमद्भागवतकी मणि-मन्त्रोषधिकी तरह एक अचिन्त्य शक्ति है, अन्य किसी शास्त्रमें इस प्रकारकी शक्ति नहीं।

इस श्लोकमें तीन बार 'अत्र' (इस श्रीमद्भागवतमें) शब्द व्यवहृत हुआ है। निर्द्धारण अर्थमें तीन बार एक ही 'अत्र' शब्दकी उक्ति है। इस श्रीमद्भागवतमें ही (अत्र) प्रोज्झित कैतव धर्म उपदिष्ठ हुआ है, अन्य किसी भी शास्त्रमें नहीं। इस श्रीमद्भागवतसे ही (अत्र) वास्तव-वस्तु जानी जाती है, अन्य किसी भी शास्त्रसे नहीं। इस श्रीमद्भागवतसे ही (अत्र) अर्थात् इस श्रीमद्भागवतकी

श्रवणेच्छासे ही ईश्वर सद्य हृदयमें अवरुद्ध होते हैं, अन्य शास्त्रकी श्रवणेच्छासे ऐसा नहीं होता।

पूर्व पयारोक्त कैतव (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष वासना) इस श्लोकसे प्रमाणित हुआ—"धर्म प्रोज्झित कैतवः" वाक्यद्वारा।

'प्र'-शब्दे मोक्षवाञ्छा—कैतवप्रधान।
एइ श्लोके श्रीधर स्वामी करियाछेन व्याख्यान

उपसर्ग 'प्र' से है परिलक्षित मोक्षेच्छा, जो कैतव-प्रधान।
यह किया श्लोककी व्याख्यामें श्रीधरस्वामीने मत प्रदान ॥७१॥

प्र-शब्दे इत्यादि—उक्त श्लोकमें 'उज्झित'-कैतव कहनेसे कैतव-शून्यता समझा जाता; किंतु फिर भी 'प्रोज्झित कैतव' क्यों कहा गया? एक प्र-उपसर्ग अधिक क्यों लगाया गया?—यह श्रीधर स्वामीपादने टीकामें स्पष्ट किया है। उन्होंने बताया है कि इस 'प्र' शब्दका तात्पर्य यह है कि इस धर्ममें श्रीकृष्ण-सेवाके अतिरिक्त स्वसुखवासनादि तो रह ही नहीं सकती, मोक्ष-कामना भी नहीं रहती।—**"अत्र प्र-शब्देन मोक्षाभिसन्धिरपि निरस्तः॥"**

'प्र' शब्दका अर्थ—प्रकृष्ट रूपसे। तब प्रोज्झित शब्दका अर्थ हुआ—प्रकट रूपसे परित्यक्त। जिससे कैतव (आत्मवञ्चना) प्रकृष्ट रूपसे परित्यक्त हो गयी है वही हुआ प्रोज्झित कैतव या विशुद्ध धर्म। स्वामीपादकी टीकाके अनुसार मोक्ष-वासना भी कैतव है।

कैतव-प्रधान—सर्वश्रेष्ठ कैतव या आत्मवञ्चना। ऐसा कहनेका हेतु यही है कि वर्णाश्रम धर्मादिके अनुष्ठानसे परकालमें स्वर्गादि लोकोंका सुख-भोग मिलता है, किंतु स्वर्गसुख भोगनेके अनन्तर फिर मर्त्यलोकमें आना पड़ता है, फिर पुनर्जन्म होता है। **"क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति (गीता ९।२१)"** वैदिक कर्मकाण्डके अनुष्ठानसे ब्रह्मलोक भी पाया जाता है, किंतु वहाँसे भी पुनरावर्तन होता है। **"आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन! (गीता ८।१६)।"** पुनर्जन्म होनेपर किसी भी भाग्यसे किसी भी समय मनुष्य जन्म भी हो सकता है। तब

जीवके स्वरूपानुबन्धी-कर्त्तव्य कृष्णसुखैक-तात्पर्यमयी सेवा-लाभके लिये अपरिहार्य रूपसे प्रयोजनीय जो श्रीकृष्ण विषयक प्रेम या प्रेम-भक्ति है, उसकी प्राप्तिके अनुकूल साधनकी सम्भावना रहती है। किंतु मोक्ष-प्राप्तिसे मायाकी आत्यन्तिक निवृत्ति होनेसे पुनर्जन्मकी फिर सम्भावना नहीं रहती। अतः प्रेम-भक्तिकी प्राप्तिके अनुकूल साधनकी भी सम्भावना नहीं रहती इससे स्पष्ट है कि मोक्ष-लाभकी वासना रहनेसे प्रेम-भक्तिकी प्राप्तिकी सम्भावना चिरकालके लिये दूरीभूत हो जाती है और धर्म-अर्थ-काम वासनासे वह चिरकालके लिये अन्तर्हित नहीं होती। इसीलिये मोक्ष-वासनाको कैतव-प्रधान कहा गया है।

सकामभक्त अज्ञ जानि दयालु भगवान।
स्वचरण दिया करे इच्छार पिधान ॥७२॥

भगवान् दयामय जान अज्ञ भक्तोंको, जो कामना-युक्त।
देकर अपना चरणारविन्द कर देते सर्वेच्छा-विमुक्त ॥

सकाम भक्त—जो भक्त श्रीकृष्ण चरणोंमें आत्मसुख भोगकी प्रार्थना करे। **अज्ञ**—मूर्ख। **पिधान**—आच्छादन; दूरीकरण। चै० च० म० २२।२५-२६ की टीका देखिये।

तथाहि श्रीमद्भागवते (५।१६।२७)—

सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां नैवार्थदो यत् पुनर्थिता यतः।
स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छतामिच्छापिधानं निजपादपल्लवम् ॥३२॥

संस्कृतटीका—तत्रापि निष्कामाः कृतार्था इत्याहुः सत्यमिति। प्रार्थितः सन् अर्थितं ददातीति सत्यं तथापि परमार्थदो न भवत्येव। यद् यस्मात् यतो दत्तादनन्तरं पुनरपि अर्थिता भवति। ननु नार्थितश्चेत किमपि न दद्यात् इत्याशङ्काहुः; अनिच्छतां निष्कामानान्तु इच्छानां पिधानं आच्छादकं सर्वकामपरिपूरकः निजपादपल्लवं स्वयमेव सम्पादयति। स्वामी।

अन्वय—[**श्रीभगवान्**] (श्रीभगवान्) **अर्थितः** (प्रार्थित होकर) **नृणां** (मनुष्योंको) **अर्थितं** (प्रार्थित विषय) **दिशति** (दान करते हैं) —**सत्यं** (यह सत्य है) ; [**तथापि**] (तथापि—प्रार्थित वस्तु देकर भी) **न एव अर्थदः** (वे परम-अर्थके दाता नहीं हुए), **यत्** (इसलिये) **यतः** (इसके पश्चात् भी—प्रार्थित वस्तु देनेके पश्चात् भी) **अर्थिता** (वह व्यक्ति प्रार्थनाकारी हुआ करता है)। **अनिच्छतां** (भगवत्-चरण-प्राप्तिकी कामनाहीन) [**अपि**] (होकर भी) **भजतां** (भजनकारीकी) **इच्छापिधानं** (अन्य कामनाके आच्छादक) **निजपादपल्लवं** (अपने चरण-पल्लव) **स्वयं** (भगवान् स्वयं—भजनकर्त्ताकी इच्छा न रहनेपर भी) **विधत्ते** (दान करते हैं)।

अनुवाद—श्रीकृष्णको लक्ष्य करके देवताओंने कहा—श्रीभगवान् प्रार्थित होकर (अर्थार्थी) मनुष्योंके प्रार्थित विषय दान करते रहते हैं—यह बात सत्य है (इसमें कभी भी अन्यथा नहीं होता) ; तथापि (प्रार्थित विषयके दानद्वारा) वे परमार्थदाता नहीं होते ; इसलिये (देखनेमें आता है कि एक बार) प्रार्थित वस्तु पानेके बाद भी वही व्यक्ति फिर भी (अन्य वस्तु के लिये) प्रार्थना करता रहता है। (तब क्या भगवान् किसीको भी परमार्थ-दान नहीं करते?—ऐसे प्रश्नकी आशङ्का करके बताते हैं) जो लोग भगवान्‌का भजन करते हैं और श्रीकृष्ण-चरण-प्राप्तिके निमित्त इच्छा नहीं करते, भगवान् स्वयं उनको अन्य कामनाके आच्छादक अपने पादपल्लव देते रहते हैं।

भगवान्‌के पास जो व्यक्ति जैसी प्रार्थना करता है, भगवान् उस व्यक्तिको वह वस्तु देते हैं—इसमें कभी अन्यथा नहीं होता। जो व्यक्ति उनकी चरणसेवा मांगते हैं, उनको भगवान् अपनी चरणसेवा तो देते ही हैं, किंतु अपनी चरणसेवाके अतिरिक्त स्वसुख-वासनामूलक कोई भी **अर्थितं**—काम्यवस्तु भी यदि कोई भगवत्‌चरणोंमें प्रार्थना करे तो भगवान् उसको वह भी देते हैं। किंतु स्वसुख-वासनामूलक काम्यवस्तु देनेसे वे **अर्थदः**—परमार्थदाता नहीं हो सकते अर्थात् भगवान्‌से स्वसुख-वासनामूलक कोई भी काम्यवस्तु पानेसे ही किसीका परमार्थ पाना नहीं हुआ—ऐसी वस्तु तो मिली नहीं, जिसको पाकर सब चाहना नष्ट हो जाय। जिसको पाकर और कुछ पानेकी इच्छा न रहे, वही परमार्थ है।

आत्मेन्द्रिय-तृप्ति-साधक कोई भी वस्तु परमार्थ नहीं है, कारण, देखनेमें आता है कि जो लोग भगवान्के पास वैसी कोई वस्तु एक बार पा लेते हैं, उस वस्तुको भोगनेके बाद अन्य वस्तु भोगनेके निमित्त उनकी वासना फिर जाग उठती है। तब वे अन्य वस्तुके लिये फिर भगवान्से प्रार्थना करते रहते हैं (यतः अर्थिता)। इससे समझा जाता है कि भगवान्से कोई भी काम्यवस्तु पाते ही किसीकी भी चाहना दूर नहीं होती, परमार्थ पाना नहीं होता। भगवान् जो कुछ दें, वही परमार्थ नहीं होता। तब क्या भगवान् किसीको भी परमार्थ नहीं देते ? देते हैं—जो लोग अपने लिये कोई कामना नहीं करते, कृष्ण-सुखैक-तात्पर्यमयी सेवाद्वारा श्रीकृष्णके प्रीति-विधानके निमित्त ही जो लोग उत्कण्ठित हैं, उनको भगवान् स्वचरण-सेवा देते हैं–जिसको पानेपर जीवनकी सब चाह नष्ट हो जाती है—अन्य काम्यवस्तु तो दूर रही, सालोक्यादि चतुर्विधा मुक्ति भी यदि उनके सम्मुख साक्षात् लाकर भगवान् उपस्थित करें, तो भी श्रीकृष्णसेवा त्याग करके वे लोग उनको भी स्वीकार नहीं करते (श्रीमद्भागवत ३।२९।१३)। और **भजतां**—जो लोग श्रीकृष्णभजन करते हैं, किंतु श्रीकृष्ण-चरणसेवाकी **अनिच्छतां**—इच्छा नहीं करते, अपनी इन्द्रिय-तृप्तिमूलक कोई-सी वस्तु ही चाहते हैं, परम करुण श्रीकृष्ण उनको **निजपाद पल्लवं**—अपने चरण-पल्लव, अपनी चरण-सेवा **विधत्ते**—दान करते हैं। श्रीकृष्णके पाद-पल्लव कैसे हैं ? **इच्छापिधानं**—(आत्मेन्द्रिय-तृप्तिसाधक काम्य-वस्तुके लिये) इच्छाके आच्छादक—जिन पाद-पल्लवोंकी छायामें एक बार आश्रय पानेसे, उन पाद-पल्लवोंकी सेवाके अतिरिक्त और सब वासनाएँ चित्तसे दूर भाग जाती हैं, परम करुण श्रीकृष्ण उन पाद-पल्लवोंको दे देते हैं। संक्षेपमें बात यह है कि अपना चरणामृत दान करके परम करुण भगवान् अर्थार्थी भक्तकी विषय-वासना नष्ट कर देते हैं। इस प्रकारसे जो लोग चरण-सेवारूप परमार्थ चाहते हैं उनको तो वे वह वस्तु देते ही हैं, जो नहीं चाहते—अपने सुख-साधनके लिये कुछ पानेके उद्देश्यसे जो लोग भजन करते हैं, उनको भी अपना चरणामृत देकर उनकी स्वसुख-साधनकी वस्तुकी आकांक्षा दूर करके उनको अपनी चरणसेवाका परमानन्द दान करते हैं।

इस श्लोककी टीकामें श्रीधरस्वामीपादने लिखा है—"**अनिच्छतां**

निष्कामानान्तु इच्छानां पिधानं आच्छादकं सर्वकामपरिपूरकः निजपादपल्लवं स्वयमेव सम्पादयति—जो निष्काम भक्त हैं, उनको भगवान् सब कामना परिपूरक अपने पाद-पल्लव अपने आप ही दे देते हैं।" इसी ग्रन्थके आदिलीलाके अष्टम परिच्छेदके १५-१६वें पयारमें भुक्ति-मुक्तिकामी साधकोंकी बात कही गयी है, वे निष्काम नहीं हैं और इस श्लोकके श्रीधर स्वामीके अर्थमें निष्काम भक्तकी बात कही गयी है। अतएव स्वामीपादके अर्थके अनुसार इस श्लोकोक्तिके साथ आदिलीलाके अष्टम परिच्छेदके १५-१६वें पयारोक्तिका—जिसका भाव है "यदि भुक्ति-मुक्ति देनेसे छुटकारा मिल जाय तो भगवान् उसको प्रेमभक्ति नहीं देते, उससे प्रेमभक्ति छिपाकर रखते हैं"— कोई विरोध दिखायी नहीं देता; किंतु श्रीधर स्वामीका यह अर्थ मध्यलीलाके २२वें परिच्छेदके २४-२६वें पयारोंका समर्थक नहीं होता, क्योंकि उन पयारोंमें निष्काम भक्तकी बात नहीं कही गयी है, बल्कि सकाम भक्तकी कही गयी है, जहाँ भगवान्का कहना है कि यदि सकाम भक्त विषय सुख माँगे तो भी मैं उसको ना-समझ जानकर उसकी माँगी वस्तु न देकर उसको अपनी चरण-सेवा देकर विषयोंसे दूर कर देता हूँ।

किंतु श्रीपाद जीवगोस्वामीने एवं श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्तीने इस श्लोकका जो अर्थ किया है वह मध्यलीलाके २२वें परिच्छेदके २४-२६वें पयारोंका समर्थक है। उनमें-से किसीने भी श्रीधर स्वामी की तरह 'अनिच्छतां' शब्दका 'निष्काम' अर्थ नहीं किया। उन दोनोंने ही अर्थ किया है—'**अनिच्छतां**'—अनिच्छुक लोगोंको—जो लोग भगवत्-पादपल्लव पानेकी इच्छा नहीं करते (अन्य वस्तुकी इच्छा करते हैं) उन सब भक्तोंको।

श्री जीव गोस्वामीने लिखा है—"**स तु परमकारुणिकः तत्पादपल्लव-माधूर्यज्ञानेन तदनिच्छामपि भजतां इच्छापिधानं सर्वकामसमापकं निजपाद-पल्लवमेव विधत्ते तेभ्यो ददातीत्यर्थः। यथा माता चर्व्यमाणां मृत्तिकां बालमुखादपसार्य तत्र खण्डं ददाति तद्वदिति भावः। एवमप्युक्तं अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम इत्यादौ तीव्रत्वं भक्तेः। तथोक्तं गारुडे। यद्दुर्लभं यदप्राप्यं मनसो यन्नगोचरम्। तदप्यप्रार्थितं ध्यातो ददाति मधुसूदनः। एवं श्रीसनकादीनामपि ब्रह्मज्ञानिनां भक्त्यानुवृत्त्या तत्पादपल्लवप्राप्तिर्ज्ञेया॥**

—भगवत्-चरण-कमलके माधुर्यको न जाननेके कारण उन चरणकमलकी प्राप्तिकी इच्छा जिनको नहीं है, वे यदि श्रीकृष्ण-भजन करते हैं, परम कारुणिक भगवान् उन लोगोंको भी सर्वकाम-परिपूरक अपने पादपल्लव देते हैं। जो बालक मिट्टी खाता है, माता जिस प्रकार उसके मुखसे मिट्टी निकालकर उसके मुखमें खाण्ड (मीठा द्रव्य विशेष) देती है उसी प्रकार। इसका प्रमाण है—"**अकामः सर्वकामो वा**" इत्यादि श्रीमद्भागवत २।३।१० श्लोकमें भक्तिकी तीव्रताकी बात जानी जाती है (जो लोग निष्काम या सर्वकाम या मोक्षकाम हैं, जब उनके भी तीव्र भक्तियोगके सहित भगवद्भजनकी बात जानी जाती है, तब यह समझा जाता है कि उनके चित्तमें भगवच्चरण-प्राप्तिकी वासना जाग उठी है, उनकी अन्य सब कामनाएँ दूर हो गयी हैं)। गरुड़-पुराणसे जाना जाता है कि जो दुर्लभ है, जो अप्राप्य है, जो मनके भी अगोचर है, ध्यानकारी साधक द्वारा उसकी प्रार्थना नहीं किये जानेपर भी मधुसूदन उसको वह वस्तु दे देते हैं। ब्रह्मज्ञानी श्रीसनकादि भी भक्तिकी अनुवृत्ति करके भगवत्-पादपल्लवको प्राप्त हुए हैं।"

श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्तीने लिखा है—"**निजपादपल्लवं अनिच्छतामपि भजतां स्वयमेव ध्रुवादीनामिव इच्छापिधानं सर्वकामाच्छादकं तदैव निज-पादपल्लवं विधत्ते कृपया ददाति निजपादपल्लवं स्वयमेव बलाद्दत्वा इच्छायाः पिधानमाच्छादनं विधत्ते करोतीति वा। ततश्च अनभीप्सिता-मपि शितशर्करां पितुः सकाशात् प्राप्य शिशवो यथा मृदि स्पृहां त्यजन्ति तथैव कामानपीत्यर्थः। अतएव अकामः सर्वकामो वेत्यादौ तीव्रेण ज्ञानकर्मा-द्यमिश्रेण भक्तियोगेन यजेतेत्युक्तम्। अत्र निष्कामानां सकामानाञ्च भक्तानामन्ततः पादपल्लवप्राप्तावपि नैव सर्वथा ऐक्यरूप्यं भावनीयम्। नहि जात्यैव शुद्धं बलात् शोधितञ्च वस्तु तुल्यमूल्यं भवति अतो ध्रुवादिभ्यः सकाशात् हनुमदादीनामुत्कर्षः परम एव दृश्यत इति।**" इस टीकाका मर्म श्रीजीवगोस्वामीकी टीकाके अनुरूप ही है। विशेषता यह है कि चक्रवर्ती कहते हैं—अन्यकामीको भी भगवान् अपने चरण जो देते हैं, वह केवल बलपूर्वक उसका चित्त शोधन करके देते हैं। जैसे विषयकामी ध्रुव आदिकी विषय-कामना दूर

करके उन्होंने उन सबको अपने चरण दिये हैं। चक्रवर्ती और भी कहते हैं—निष्काम (अन्य कामनाहीन) भक्तकी भगवच्चरण-प्राप्ति एवं सकाम (अन्य कामनायुक्त) भक्तकी भगवच्चरण-प्राप्ति सर्वथा एक प्रकारकी नहीं होती। जो वस्तु जातिसे ही—स्वभावसे ही शुद्ध है एवं जो वस्तु बलपूर्वक शोधित है—इन दोनों वस्तुओंका मूल्य एक-सा नहीं हो सकता। इसीसे ध्रुव आदिसे हनुमान आदिका परम उत्कर्ष है।

पूर्ववर्ती पयारके प्रमाणमें यह श्लोक है।

साधुसङ्ग, कृष्णकृपा, भक्तिर स्वभाव।
ए तीने सर्व छाड़ाय—करे कृष्णभाव ॥७३॥

है साधु-सङ्गका, कृष्ण-कृपाका, तथा भक्तिका यह स्वभाव।
तीनों देते हैं कृष्ण-प्रेम कर छिन्न अन्य सबसे लगाव॥

साधुसङ्ग, कृष्णकृपा एवं भक्ति—इन तीनोंका स्वरूपगत धर्म यही है कि ये अन्य कामनाको दूर करके श्रीकृष्ण चरणोंमें भक्ति उत्पन्न करते हैं। भक्ति उत्पन्नका और कोई भी हेतु नहीं है। **भक्तिर स्वभाव**—साधन भक्तिका स्वरूपगत धर्म। **कृष्ण भाव**—श्रीकृष्णमें भक्ति। भक्तिरसामृतसिन्धुमें भी बताया है—

"साधनाभिनिवेशेन कृष्णस्तद्भक्तयोस्तथा।
प्रसादेनातिधन्यानां भावो द्वेधाभिजायते॥
आद्यस्तु प्रायिकस्तत्र द्वितीयो विरलोदयः॥भ०र०सि० १।३।५॥

(टीकामें श्रीजीवगोस्वामी पादने लिखा है—**अतिधन्यानां प्राथमिक-महत्-सङ्ग-जातमहाभाग्यानाम्**—जिनके भाग्यमें प्रथमसे ही महत् सङ्गका लाभ हुआ है, उन अति धन्य लोगोंके सम्बन्धमें भाव (या कृष्णरति) दो प्रकारसे उत्पन्न होता है—एक तो साधनमें अभिनिवेश (अर्थात् साधन-भक्ति) द्वारा, और दूसरे श्रीकृष्णके एवं श्रीकृष्ण-भक्तके अनुग्रहद्वारा; उनमें प्रायः सभीके ही साधनाभिनिवेशद्वारा कृष्ण-भक्ति उत्पन्न होती है; कृष्णकी एवं कृष्ण भक्तकी कृपाद्वारा उत्पन्न कृष्ण-

रति अति विरल होती है।" कृष्णकी कृपा एवं कृष्ण-भक्तकी कृपा—दोनों ही अहैतुकी हैं। ऐसी कृपा-प्राप्तिका भाग्य किसका होगा—कहा नहीं जा सकता। इसीसे इस प्रकारकी कृपाद्वारा उत्पन्न भक्ति अति विरल होती है। किंतु साधन-भक्तिका अनुष्ठान गुरु-कृपासे बहुत लोग कर सकते हैं। इसीसे साधन भक्तिमें अभिनिवेश होते ही साधारणतः सभीमें भक्तिका उन्मेष होता है।

आगे जतजत अर्थ व्यख्यान करिब।
कृष्णगुणास्वादेर एइ हेतु जानिब ॥७४॥

मैं अर्थ बताऊँगा आगे अब मूल श्लोकका जहाँ-जहाँ।
जानना कृष्ण-गुण-आस्वादनमें हेतु इन्हें ही वहाँ-वहाँ॥

आगे—इसके बाद। अर्थ—'आत्माराम—' श्लोकका अर्थ। कृष्णगुणास्वादेर एइ हेतु—साधु सङ्ग, कृष्ण-कृपा एवं भक्ति—इन तीनोंमें-से कोई न कोई एक कृष्णगुणास्वादनका हेतु होता है।

भिन्न-भिन्न पद समूहोंके अर्थ कर अब सम्पूर्ण श्लोकका अर्थ करनेको उद्यत होकर बताते हैं कि "श्लोककी व्याख्यामें जहाँ-जहाँ आत्मारामगणका कृष्ण-गुणमें आकृष्ट होकर कृष्ण-भजनकी बात कही जायगी, वहाँ-वहाँ कहीं कृष्ण-कृपा, कहीं साधु-सङ्ग एवं कहीं भक्तिकी कृपा ही इन आत्मारामादिगणका कृष्ण-गुणमें आकृष्ट होनेका अथवा श्रीकृष्ण-भजनमें प्रवृत्त होनेका कारण समझना चाहिये।

ज्ञानमार्गके उपासकोंके भेद

श्लोकव्याख्या लागि एइ करिल आभास।
एबे श्लोकेर करि मूल-अर्थ प्रकाश ॥७५॥

करनेको व्याख्या मूल-श्लोककी हुई यहाँ तक तैयारी।
अब उसी श्लोकका मूल-अर्थ करनेकी आई है बारी॥

ज्ञानमार्गेर उपासक दुइत प्रकार—।
केवल-ब्रह्मोपासक, मोक्षाकाङ्क्षी आर ॥७६॥

हैं द्विविध उपासक ज्ञानमार्गको अपनाकर चलने वाले।
केवल ब्रह्मोपासक, चलते जो मोक्षकामनाको या ले॥

अब मूल 'आत्माराम—' श्लोककी व्याख्या करते हैं। पूर्वमें 'आत्मा' शब्दके सात अर्थोंमें एक अर्थ बताया गया है 'ब्रह्म'। यह ब्रह्म अर्थ लेकर अब व्याख्या करते हैं। आत्मामें याने ब्रह्ममें रमण करते हैं (प्रीति अनुभव करते हैं) जो, वे ही 'आत्माराम' हैं। ब्रह्म कहनेसे रूढ़ि-वृत्तिसे ज्ञान-मार्गके उपास्य निर्विशेष ब्रह्मका ही बोध होता है। इसलिये ज्ञानमार्गके साधक कितने प्रकारके होते हैं सो बताते हैं।

जो परतत्त्वको निराकार, निर्विशेष, निःशक्तिक करके मानते हैं, अपनेको इस ब्रह्मसे अभिन्न मानते हैं एवं इस ब्रह्मके साथ जो सायुज्य मुक्तिकी कामना करते हैं—वे ही ज्ञान मार्गके उपासक हैं। ये उपासक दो प्रकारके है :— केवल ब्रह्मोपासक और मोक्षाकाङ्क्षी। जो आत्माकी ब्रह्म-सम्पत्ति-लाभकी आशासे ब्रह्मके उपासक हैं, माया-मुक्तिकी वासना उनकी उपासनामें प्रवर्त्तक नहीं है, वे केवल ब्रह्मोपासक हैं। और जो केवल मुक्तिके लिये ब्रह्मोपासक हैं, वे मोक्षाकाङ्क्षी हैं।

केवल-ब्रह्मोपासक तिन भेद हय—।
साधक, ब्रह्ममय, आर प्राप्तब्रह्मलय ॥७७॥

केवल ब्रह्मोपासकके भी बतलाये जाते भेद तीन।
पहला साधक, दूसरा ब्रह्ममय, तथा तीसरा ब्रह्मलीन॥

केवल ब्रह्मोपासक तीन प्रकारके होते हैं :— साधक, ब्रह्ममय और प्राप्त-ब्रह्म-लय। जो जीव ब्रह्ममें लीन हो चुके हैं, वे हैं प्राप्त-ब्रह्म-लय। जो ब्रह्ममें लीन

नहीं हुए हैं, देहमें ही यथावस्थित हैं, परन्तु जिनको सर्वत्र ही ब्रह्म-स्फूर्ति होती है, वे हैं **ब्रह्ममय** और जो श्रीमद्भागवतोक्त कवि-हवि-आदि नव योगीन्द्रादिकी तरह मुक्त होकर भी साधककी तरह आचरण करें, वे हैं **साधक**। इन तीनों प्रकारके उपासक निर्विशेष ब्रह्ममें आनन्दका अनुभव करते हैं। अतः वे हुए आत्माराम (ब्रह्म-राम) ; किंतु श्रीकृष्ण-गुणमें आकृष्ट होकर वे भी श्रीकृष्ण भजन करते रहते हैं—यह क्रमशः परवर्ती पयार समूहमें व्यक्त करते हैं।

प्राप्तब्रह्मलय ब्रह्मोपासक

भक्ति बिनु केवलज्ञाने मुक्ति नाहि हय।
भक्तिसाधन करे जेइ प्राप्तब्रह्मलय ॥७८॥

केवल न ज्ञानसे, भक्ति विना, हो सकती मुक्ति कभी करगत।
है प्राप्तब्रह्मलय कहलाता जो हुआ मुक्ति-साधनमें रत॥

भक्तिर स्वभाव—ब्रह्म हैते करे आकर्षण।
दिव्यदेह दिया कराय कृष्णेर भजन ॥७९॥

यह प्रकृति भक्तिकी कर लेती आकर्षित ब्रह्म-निमज्जित मन।
देकरके पावन दिव्य देह करवाती है श्रीकृष्ण-भजन॥

भक्तदेह पाइले हय गुणेर स्मरण।
गुणाकृष्ट हैया करे निर्म्मल भजन ॥८०॥

श्रीकृष्ण-गुणोंकी स्मृति होने लगती पानेपर भक्त-देह।
आकृष्ट गुणोंसे होनेपर झरने लगता शुचि भजन-मेह॥

प्राप्त-ब्रह्म-लय ज्ञानी भी श्रीकृष्ण-गुणमें आकृष्ट होकर श्रीकृष्ण भजन करते हैं, यही इन तीन पयारोंमें वर्णन किया है। श्रीकृष्ण-गुणमें आकृष्ट कराकर श्रीकृष्ण भजन कराना भक्तिका स्वभाव है—यह भी इन तीन पयारोंमें वर्णन किया है। मध्यलीलाके २२वें परिच्छेदके १६वें पयारकी टीकामें दर्शाया गया है कि भक्तिकी सहायताके बिना केवल ज्ञानमार्गके साधनसे जीव मुक्तिको नहीं पा सकता। जो भगवान्‌के सविशेष स्वरूपको स्वीकार करते हैं एवं सविशेष स्वरूपका भजन करके मायासे मुक्तिकी एवं निर्विशेष स्वरूपमें सायुज्यकी उनके चरणोंमें कामना करते हैं, वे ही सविशेष स्वरूपकी कृपासे ब्रह्ममें लीन हो सकते हैं। भक्तिकी सहायतासे जो इस प्रकार ब्रह्ममें लीन हो चुके हैं, वे ही प्राप्त-ब्रह्म-लय हैं। जिस भक्तिकी कृपासे उन्होंने सविशेष स्वरूपकी कृपा प्राप्त की है एवं सविशेष स्वरूपकी कृपाके फलसे ब्रह्ममें लीन हुए हैं—वही भक्ति उनको ब्रह्मसे आकर्षण करके भजनोपयोगी चिन्मय देह देकर श्रीकृष्ण भजन कराती रहती है। यही भक्तिका स्वभाव है। इस प्रकार प्राप्त-ब्रह्म-लय जब भक्तिकी कृपासे भक्त देह पाते हैं, तब श्रीकृष्णगुणकी कथा उनके स्मृति-पथमें उदय होती है ; इन्हीं गुणोंसे आकृष्ट होकर वे श्रीकृष्णभजन करते रहते हैं। प्राप्त-ब्रह्म-लय जीव भी भक्ति देह पा सकता है उसीके प्रमाणस्वरूप 'मुक्ता अपि…' इत्यादि वाक्य नीचे उद्‌धृत हुआ है।

भक्तिर स्वभाव इत्यादि—जीवका स्वरूप है नित्य-कृष्ण-दास ; कृष्णसेवा करना ही उसका स्वरूपगत धर्म है, और भक्तिका स्वभाव हुआ—जीवके द्वारा श्रीकृष्णकी सेवा कराना। अतः जिस जीवने—चाहे किसी भी उद्देश्यसे क्यों न हो—एक बार भक्तिका आश्रय ग्रहण किया है, भक्तिरानी कृष्णभजन बिना कराये कभी भी उसको छोड़ेगी नहीं। यदि वह जीव निर्विशेष ब्रह्ममें लीन होकर अपना स्वातन्त्र्य खो भी बैठा हो, तो भी भक्ति अपनी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे अपने आश्रित जीवको इस निर्विशेष ब्रह्मसे आकर्षण कर और उसे स्वतन्त्र देह देकर उससे श्रीकृष्णभजन कराती रहती है। **दिव्यदेह**—चिन्मय देह देती है ; प्रारब्ध कर्म न रहनेसे जड़ देह प्राप्तिका कोई हेतु नहीं रहता। **निर्म्मल-भजन**—अहैतुकी भजन ; अन्य अभिलाषाशून्य भजन।

७९वें पयारसे स्पष्ट भावसे समझा जाता है कि भक्तिके साहचर्यसे ज्ञान-मार्गका साधन करके जो 'प्राप्त-ब्रह्म-लय' हुए हैं (अर्थात् जिन्होंने ब्रह्म-सायुज्य या ब्रह्म-तादात्म्य लाभ किया है), साधन समयमें जिस भक्तिने उनके चित्तमें प्रवेश करके उनको निर्विशेष ब्रह्मोपलब्धिकी योग्यता प्रदान की थी,प्राप्त-ब्रह्म-लय अवस्थामें भी वही भक्ति उनके बीच अवस्थित रहती है। साधक देहसे वे जब ब्रह्म-स्वरूप-संप्राप्त होते हैं, जब उनका ज्ञानमार्गका साधन अनुष्ठान रुक जाता है, तब भी यह भक्ति उनके बीच रहती है, "**ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा**···" इत्यादि गीता (१८।५४) के श्लोककी टीकामें श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्तीने ऐसा ही बताया है । उनके देह-पातके बाद, जब वे अन्तिम मुक्तिलाभ करके ब्रह्म-तादात्म्यको प्राप्त होते हैं, तब भी यह भक्ति उनके बीच रहती है, यह भक्ति कभी भी उनका त्याग नहीं करती। इस भक्तिकी कृपासे ही वे ब्रह्मानन्दका अनुभव करते रहते हैं। माया-वादी लोगोंका यह कहना जरूर है कि मुक्त जीव ब्रह्म ही हो जाता है, ब्रह्मानन्द अनुभव नहीं करता, आनन्द बन जाता है, आनन्दका आस्वादन नहीं करता। किंतु भक्तिशास्त्रका कहना है कि आनन्द-आस्वादन न होनेपर मुक्तिकी पुरुषार्थता ही नहीं रहती, साधनकी प्रवर्त्तकता भी नहीं रहती।

तथाहि भावार्थदीपिकायां (श्रीमद्भागवत १०।८७।२१)—
(नृसिंहतापनी २।५।१६)—शङ्करभाष्ये

मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते । इत्यादि ।३३॥

संस्कृतटीका—मुक्ताः प्राप्तब्रह्मसायुज्याः लीलया भक्तिकृपया इत्यर्थः। कृत्वा इति अन्तर्भूत-निजर्थत्वेन कारयित्वा इत्यर्थः। चक्रवर्ती।

अन्वय—सरल है। अनुवाद—ब्रह्म-सायुज्य-प्राप्त-मुक्त जीवगण भी पूर्वानुष्ठित भक्तिकी कृपासे (भजनोपयोगी पार्षद—) देह पाकर भगवान्‌का भजन करते रहते हैं।

मुक्ता—ब्रह्म-सायुज्य-प्राप्त। यहाँ 'मुक्त' कहनेसे 'जीवन्मुक्त' नहीं समझा जाता ; कारण, जीवन्मुक्तोंकी देह रहती है, जिसके द्वारा वे भजन कर सकते हैं। ब्रह्म-सायुज्य-प्राप्त जीवके अलग देह न रहनेसे उनके सम्बन्धमें **'विग्रहं कृत्वा'**

वाक्यका प्रयोग सार्थक हो सकता है। लीलया—भक्तिकी कृपासे ; ब्रह्मलीन जीवके मनकी क्रिया नहीं रहनेसे उनमें किसी प्रकारकी भी इच्छा नहीं रह सकती—अतः 'लीलया' शब्दसे उनकी अपनी 'इच्छासे'—इस प्रकार अर्थ नहीं हो सकता। विग्रहं कृत्वा- विग्रह (देह) कराकर। निच् प्रत्ययका अर्थ अन्तर्भूत होनेसे 'कृत्वा' शब्दसे 'कारयित्वा' (कराकर) समझा जाता है।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि जिस भक्तिकी कृपासे सायुज्य-प्राप्त जीव भी भजनोपयोगी देह पाकर श्रीकृष्णभजन करते हैं, वह भक्ति कहाँसे आयी एवं मुक्तावस्थामें भी यह भक्ति उस मुक्त जीवके प्रति कृपा किस कारणसे करती है ? उत्तर—साधनके समय इस मुक्त जीवने भक्तिके साहचर्यसे ही साधन किया था ; नहीं तो उसके लिये मुक्ति-लाभ सम्भव नहीं होता। साधनके समय किसी भी भाग्यसे इस जीवमें यदि भक्ति-वासना जागी हो, तो वह भक्ति-वासना ही भक्तिकी कृपाका हेतु है। ब्रह्म-सायुज्य प्राप्तिके उद्देश्यसे ज्ञानमार्गके साधनके समय भक्ति-अङ्गके अनुष्ठानके फलसे अंशरूपसे ही साधकके चित्तमें यह भक्ति उपस्थित रहती है किंतु उस समय वह भक्ति रहती है उदासीन रूपसे। उदासीन रूपसे रहने पर भी भक्ति उस समय साधककी भक्ति-वासनाको लक्ष्य करती रहती है। जितने दिनों साधकका निर्भेद-ब्रह्मानुसन्धान चलता रहता है, उतने दिनों भक्तिका औदासीन्य वर्तमान रहता है। मुक्तिप्राप्त अवस्थामें निर्भेद-ब्रह्मानुसन्धान न रह जानेसे भक्ति एकाकिनी रहती है। तब वे औदासीन्यको त्यागकर मुक्तजीवकी पूर्व भक्ति-वासनाको उपलक्ष्य करके उस मुक्तजीवको भजनके उपयोगी देह देकर श्रीकृष्णभजन कराती रहती है। मध्यलीलाके ८वें परिच्छेदके ८वें श्लोक (**ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा** ····गीता १८।५४) की टीका देखिये। मुक्ति-प्राप्त जीवके भी भजनकी बात '**आप्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम्**'—इस ब्रह्मसूत्र (४।१।१२) में एवं '**मुक्ता अपि एनं उपासते**'—इस सौपर्ण श्रुतिवाक्यमें भी दृष्ट होता है। भूमिकामें 'प्रयोजन-तत्त्व' प्रबन्ध देखिये। पूर्ववर्ती पयारके प्रमाणमें यह श्लोक है।

अब तीन पयारोंमें दिखाते हैं कि ब्रह्ममय जीव भी श्रीकृष्ण-गुणसे आकृष्ट होकर श्रीकृष्ण भजन करते हैं। कृष्णकृपा और कृष्णभक्तकी कृपा ही इस भक्तिमें हेतु है—यह भी दिखाते हैं।

ब्रह्ममय ब्रह्मोपासक

जन्म हैते शुक सनकादि हय ब्रह्ममय ।
कृष्णगुणाकृष्ट हैया कृष्णेरे भजय ॥८१॥

शुक-सनकादिक मुनिवृन्द ब्रह्ममय जन्मसमयसे थे अपने ।
हो कृष्ण-गुणोंसे आकर्षित श्रीकृष्ण-भजन-रस-मत्त बने ॥

शुक—व्यास-नन्दन श्रीशुकदेव गोस्वामी। **सनकादि**—सनक, सनातन, सनत्कुमार और सनन्दन। **ब्रह्ममय**—सर्वत्र ब्रह्म स्फूर्ति विशिष्ठ। श्रीशुक और सनकादि जन्मसे ब्रह्ममय (आत्माराम, ब्रह्म-राम) हैं ; सर्वत्र ही निर्विशेष ब्रह्मकी स्फूर्तिसे आनन्द उपभोग किया करते हैं। उन्होंने भी श्रीकृष्ण-गुणसे आकृष्ट होकर श्रीकृष्णभजन किया है—कृष्णगुणानुभवके आनन्द-प्राचूर्यसे ब्रह्मानन्दको अति तुच्छ जानकर उसका त्याग किया है।

स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावो-
ऽप्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम् ।
व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं
तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि॥ (श्री० भा० १२।१२।६८)

इस श्लोककी टीका इसी ग्रन्थके पृष्ठ ४०-४४ पर देखिये।

सनकाद्येर कृष्णकृपाय सौरभे हरे मन ।
गुणाकृष्ट हञा करे निर्म्मल भजन ॥८२॥

मन सनकादिकका कृष्ण-कृपासे सौरभ-हृत हो गया निकल ।
आकृष्ट गुणोंके द्वारा हो वे करने लगे भजन निर्मल ॥

कृष्णकृपा ही सनकादिकी भक्ति-उन्मेषका हेतु है यह बतला रहे हैं।

सौरभे—सुगन्धसे ; श्रीचरण-तुलसीकी रमणीय गन्धका अनुभव करके जो आनन्द मिला, उसके सन्मुख ब्रह्मानन्द अति तुच्छ लगनेसे सनकादि ब्रह्मानन्दको

त्यागकर श्रीकृष्णभजनमें प्रवृत्त हुए और कृष्णकृपासे ही उनकी चरण-तुलसीकी स्वरूपगत गन्ध अनुभव करनेकी योग्यता पायी।

तथाहि श्रीमद्भागवते (३।१५।४३)—

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किञ्जल्कमिश्र तुलसीमकरन्दवायुः।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
सङ्क्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः ॥३४॥

श्लोक ३४ का अन्वय अर्थ आदि इसी परिच्छेदके १०वें श्लोकमें पृष्ठ ३७-३९ पर देखिये। पूर्व पयारके प्रमाणमें यह श्लोक है।

व्यासकृपाय शुकदेवेर लीलादिस्मरण।
कृष्णगुणाकृष्ट हञा करेन भजन ॥८३॥

लीलादिककी स्मृति व्यास-कृपासे शुक मुनिके मनमें जागी।
आकर्षित कृष्ण-गुणोंसे हो वे हुए भजनके अनुरागी ॥

श्रीशुकदेवजीके भक्ति उन्मेषकी कथा बताते हैं कि साधु-कृपा ही इसकी हेतु है। श्रीशुकदेवजी अपने पिता व्यासदेवकी कृपासे ही, उनके मुखसे श्रीकृष्णलीला (श्रीमद्भागवत) श्रवण करके लीला-माधुर्यसे आकृष्ट होकर श्रीकृष्णभजनमें प्रवृत्त हुए। इसी परिच्छेदके ११ और १२वें श्लोककी टीका पृष्ठ ३९-४० पर देखिये।

लीलादि—लीला, रूप, गुण प्रभृति। 'लीलादि-स्मरण'की जगह कहीं-कहीं 'लीलादि श्रवण' पाठान्तर भी मिलता है।

तथाहि श्रीमद्भागवते (१।७।११)—

हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् वादरायणिः।
अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः ॥३५॥

संस्कृतटीका—तमेवार्थं श्रीशुकस्याप्यनुभवेन संवादयति हरेरिति। श्रीव्यासदेवात् यत्किञ्चित् श्रुतेन गुणेन पूर्वमाक्षिप्ता मतिर्ब्रह्मानन्दानुभवो यस्य सः पश्चादध्यगात्। महत् विस्तीर्णपि। ततश्च तत्कथा-सौहार्देन नित्यं विष्णुजनाः प्रिया यस्य तथाभूतो वा तेषां प्रियो वा स्वयमभवदित्यर्थः। अयम्भावः ब्रह्मवैवर्तानुसारेण पूर्वं तावदयं गर्भ्भमारस्य श्रीकृष्णस्य स्वैरितया मायानिवारकत्वं ज्ञातवान्। ततः स्वनियोनया श्रीव्यासदेवेनानीतस्य तस्य दर्शनात् तन्निवारेण सति कृतार्थस्मन्यतया स्वयमेकान्तमेव आगतवान्। तत्र श्रीव्यासदेवस्तु तं वशीकर्तुं तदनन्यसाधनं श्रीभागवतमेव ज्ञात्वा तद्गुणातिशयप्रकाशमयांस्तदीयपद्यविशेषान् कथञ्चिच्छ्रावयित्वा तेनाक्षिप्तमतिं कृत्वा तदेव पूर्णमध्यापयामास इति श्रीभागवतमहिमातिशयः प्रोक्तः। श्रीजीव।

अन्वय—नित्यं (सर्वदा) विष्णुजनप्रियः (वैष्णवजन प्रिय) भगवान् (भगवान्) वादरायणिः (श्रीशुकदेव गोस्वामीने) हरेः (श्रीहरिके) गुणाक्षिप्तमतिः (गुण श्रवणसे आक्षिप्त चित्त होकर) महदाख्यानं (श्रीमद्भागवत नामक विस्तीर्ण आख्यान) अध्यगात् (अध्ययन किया था)।

अनुवाद—भगवद्भक्तगण सर्वदा जिनके अति प्रिय हैं, वे भगवान् वादरायणि श्रीशुकदेवजीने, हरिगुण श्रवण करके आक्षिप्त चित्त होकर, इस विस्तीर्ण आख्यान श्रीमद्भागवतका अध्ययन किया था।

इस परिच्छेदके ११वें और १२वें श्लोककी टीका पृष्ठ ३९-४० पर देखिये।

साधक ब्रह्मोपासक

नवयोगीश्वर जन्म हैते साधक ज्ञानी।
विधि-शिव-नारद-मुखे कृष्णगुण शुनि ॥८४॥

थे जन्म-समयसे ही अपने साधक-ज्ञानी नवयोगेश्वर।
विधि, शिव, नारद मुनिके मुखसे श्रीकृष्णगुणावलिको सुनकर ॥

गुणाकृष्ट हञा करे कृष्णेर भजन ।
एकादश स्कन्धे तार भक्ति विवरण ॥८५॥

श्रीकृष्ण-भजनमें हुए लीन हो गुण-गणसे वे आकर्षित ।
भागवत ग्रन्थके द्विनव स्कंधमें भक्ति-कथा उनकी वर्णित ॥

अब दो पयारोंमें साधक-ज्ञानीकी बात बताते हैं ।

नवयोगीश्वर—कवि, हवि, अन्तरीक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रविड़, चमस और करभाजन । ये नौ योगीश्वर जन्मसे ही ब्रह्मके उपासक रहे । विधि—ब्रह्मा । ब्रह्मा, शिव एवं नारदके मुखसे श्रीकृष्णगुणकी कथा सुनकर नवयोगीन्द्र श्रीकृष्णगुणमें आकृष्ट हुए एवं श्रीकृष्णभजन किया । ब्रह्मा-शिवादि साधुजनोंकी कृपा ही उनकी भक्तिका हेतु है ।

एकादश-स्कन्धे—श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें नवयोगीन्द्रकी भक्तिका वर्णन है । उन्होंने निमि महाराजके निकट भक्तिका प्रसङ्ग वर्णन किया था ।

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ (३।१।७)—**महोपनिषद्वचनम्**---

अक्लेशां कमलभुवः प्रविश्य गोष्ठीं
कुर्वन्तः श्रुतिशिरसां श्रुतिं श्रुतिज्ञाः ।
उत्तुङ्गं यदुपुरसङ्गमाय रङ्गं
योगीन्द्राः पुलकभृतो नवाप्यवापुः ॥३६॥

संस्कृतटीका—कमलभुवः ब्रह्मणः गोष्ठीं सभां श्रुतिशिरसां उपनिषदां श्रुतिं श्रवणं कुर्वन्तः सन्तः यदुपुरसङ्गमाय मथरागमनाय उत्तुङ्गं उत्कृष्टम् । चक्रवर्ती ।

अन्वय—**श्रुतिज्ञाः** (वेदार्थवेत्ता) **नवयोगीन्द्राः अपि** (नवयोगीन्द्र भी) **कमलभुवः** (पद्मयोनि ब्रह्माकी) **अक्लेशां** (क्लेश विवर्जित) **गोष्ठीं** (सभामें) **प्रविश्य** (प्रवेश करके) **श्रुतिशिरसां** (उपनिषत्-समूहका) **श्रुतिं** (श्रवण) **कुर्वन्तः**

(करके) पुलकभृतः (पुलकिताङ्ग होकर) यदुपुर-सङ्गमाय (मथुरा गमनके निमित्त) उत्तुङ्गं (अत्यन्त) रङ्गं (कौतुहलको) अवापुः (प्राप्त हुए थे)।

अनुवाद—वेदार्थवेत्ता नवयोगीन्द्र सर्वविध क्लेश वर्जित ब्रह्माकी सभामें उपस्थित होकर उपनिषद सुनते-सुनते नवों जन पुलकाङ्ग होकर, (श्रीकृष्ण दर्शनार्थ) मथुरा गमनके निमित अत्यन्त कौतुहल प्राप्त (उत्कण्ठित) हुए थे।

यह श्लोक पूर्वोक्त दो पयारोंके प्रमाणमें है।

मोक्षाकांक्षी ज्ञानियोंका भेद

मोक्षाकांक्षी ज्ञानी हय तिन प्रकार।
मुमुक्षु, जीवन्मुक्त, प्राप्त-स्वरूप आर ॥८६॥

मोक्षाकांक्षी ज्ञानी जनके हैं तीन कहे जाते प्रकार।
वे हैं मुमुक्षु, जीवन्विमुक्त, प्राप्तस्वरूप ; तीनों उदार॥

तीन प्रकारके केवल ब्रह्मोपासक आत्मारामकी बात बताकर अब मोक्षाकांक्षी आत्मारामकी बात बताते हैं।

मोक्षाकांक्षी ज्ञानमार्गके उपासक तीन प्रकारके होते हैं—मुमुक्षु, जीवन्मुक्त और प्राप्त-स्वरूप।

मुमुक्षु—जो मुक्तिकी कामना करते हैं। **जीवन्मुक्त**—मध्यलीला, २२वें परिच्छेदके २०वें पयारकी टीका देखिये। **प्राप्त-स्वरूप**—ज्ञानमार्गके साधन द्वारा मायिक स्थूल और सूक्ष्म देहके बन्धनसे मुक्त होकर और मायाजनित कर्त्तृत्वादि अभिमानसे मुक्त होकर जो ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा हो गये हैं, अपनेको ब्रह्मस्वरूप कहकर अनुभव करते हैं, वे ही प्राप्त-स्वरूप ज्ञानी हैं—ब्रह्मके साथ लीन हुई अवस्थावाले नहीं ; जो ब्रह्मके साथ लीन हो गये हैं, उनको प्राप्त-स्वरूप नहीं कहते—उनको प्राप्त-ब्रह्म-लय कहते हैं। देह-त्यागके बाद प्राप्त-ब्रह्मस्वरूप ही प्राप्त-ब्रह्म-लय होते हैं। ये तीन प्रकारके मोक्षाकांक्षी किस प्रकार कृष्णगुणाकृष्ट होकर कृष्णभजन करते हैं, यह परवर्ती पयारोंमें बताते हैं।

मुमुक्षुका कृष्णभजन

मुमुक्षु—जगते अनेक सांसारिक जन।
मुक्ति-लागि भक्त्ये करे कृष्णेर भजन ॥८७॥

जो हैं मुमुक्षु जगमें ऐसे बसते अनेक सांसारिक जन।
मुक्त्यर्थ भक्तिका आश्रय ले वे सब करते श्रीकृष्ण-भजन ॥

अब चार पयारोंमें मुमुक्षु जीवोंके कृष्णभजनकी बात बताते हैं। अनेक संसारी लोग मुक्तिकामना करके (ज्ञानमिश्रा भक्तियोगद्वारा) श्रीकृष्णभजन करते रहते हैं। ये ही मुमुक्षु हैं।

मुक्ति-लागि—श्रीकृष्णकी कृपा बिना मुक्ति नहीं मिलती ; भक्तिके साधन बिना भी कृष्णकी कृपा नहीं मिलती। इसीसे मुमुक्षु जीव मुक्तिलाभके लिये भक्तिसहित श्रीकृष्णभजन करते हैं। इनकी भक्ति ज्ञानमिश्रा होती है।

तथाहि श्रीमद्भागवते (१।२।२६)—

मुमुक्षवो घोररूपान् हित्वा भूतपतीनथ।
नारायणकलाः शान्ता भजन्ति ह्यनसूयवः ॥३७॥

संस्कृतटीका—ननु अन्यानपि केचिद्भजन्तो दृश्यन्ते। सत्यम्, मुमुक्षवस्तु अन्यान् न भजन्ति किंतु सकामा एवेत्याह मुमुक्षव इति द्वाभ्याम्। भूतपतीनिति पितृप्रजेशादीनामुपलक्षणम्। अनसूयवः देवतान्तरानिन्दकाः सन्तः। स्वामी।

अन्वय—**मुमुक्षवः** (मुमुक्षु व्यक्तिगण) **घोररूपान्** (घोर स्वभाव भैरवादिको) **अथ** (एवं) **भूतपतीन्** (पितृगण, भूतगण एवं प्रजापति प्रभृतिको) **हित्वा** (परित्याग करके) **अनसूयवः** (असूयाशून्य होकर) **शान्ताः** (शान्त स्वभाव) **नारायणकलाः** (नारायण मूर्त्तिका) **हि भजन्ति** (भजन करते रहते हैं)।

अनुवाद—मुमुक्षुगण—घोर स्वभाव भैरवादिको एवं पितृगण, भूतगण और प्रजापति प्रभृतिको परित्याग करके असूयाशून्य (इतर देवताओंके अनिन्दक) होकर

शान्त स्वभाव नारायण मूर्त्तिकी उपासना करते रहते हैं। जो मुमुक्षु हैं, वे अन्य देवतादिका भजन करके श्रीकृष्णभजन ही करते हैं, कारण अन्य देवताके भजनसे मोक्ष नहीं मिल सकता।

सेइ सभे साधुसङ्गे गुण स्फुराय।
कृष्णभजन कराय, मुमुक्षा छाड़ाय ॥८८॥

पा साधु-सङ्ग उनमें उठती श्रीकृष्ण-गुणोंकी ज्योति जाग।
श्रीकृष्ण-भजन करवाती है, वह मोक्षेच्छाका करा त्याग॥

सेइ सभे—मुमुक्षु संसारी जीव-समूह। मुमुक्षु संसारी जीवको यदि शुद्धभक्ति मार्गके साधुजनोंका सङ्ग प्राप्त हो जाय, तो इस सङ्गके प्रभावसे उनके चित्तमें श्रीकृष्णके गुण स्फुरित होते हैं; तब श्रीकृष्णगुणसे आकृष्ट होकर वे मुक्ति-वासना त्याग कर देते हैं एवं श्रीकृष्णसेवाकी आशासे श्रीकृष्णभजन करते हैं। साधु-कृपा ही उनकी भक्तिकी प्रवर्त्तक है।

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ (३।२।६)—,
हरिभक्तिसुधोदयवचनम् (१।५४)—

अहो महात्मन् बहुदोषदुष्टो-
ऽप्येकेन भात्येष भवो गुणेन।
सत्सङ्गमाख्येन सुखावहेन
कृताद्य नो यत्र (येन) कृपा मुमुक्षा ॥३८॥

संस्कृतटीका—हे महात्मन्! भवः संसारः। चक्रवर्ती।

अन्वय—अहो (कैसा आश्चर्य है)! **महात्मन्** (हे महात्मन्)! **एषः** (यह) **भवः** (संसार) **बहुदोषदुष्टः** (बहुतसे दोषोंसे दूषित) **अपि** (होनेपर भी) **सत्सङ्गमाख्येन** (सत्सङ्ग नामक) **सुखावहेन** (सुखजनक) **एकेन गुणेन** (एक गुणद्वारा) **भाति** (प्रकाश पाता है), **येन** (जिस गुणके द्वारा) **अद्य** (आज) **नः** (हम लोगोंकी) **मुमुक्षा** (मुक्ति-वासना) **कृशा** (क्षीण) **कृता** (हुई है)।

अनुवाद—हे महात्मन् ! कैसा आश्चर्य है ! यह संसार बहुतसे दोषोंसे दूषित होनेपर भी सत्सङ्ग नामक एक सुखजनक गुणके द्वारा शोभा पाता है—जिस गुणने आज हमारी मुमुक्षाको (मुक्ति-वासनाको) क्षीण बना दिया।

यह सत्य है कि इस संसारमें अनेक दोष हैं ; किंतु इसी संसारमें एक अति लोभनीय वस्तु है—जिस वस्तुके कारण शत दोष वर्तमान रहनेपर भी यह संसार वाञ्छनीय हो जाता है। वह वस्तु है सत्सङ्ग ; संसारमें ही यह सत्सङ्ग प्राप्त होता है। सत्सङ्गको परम लोभनीय कहनेका हेतु यह है कि इसके प्रभावसे मोक्ष-वासना तिरोहित होती है, और श्रीकृष्णसेवा-वासना उन्मेषित होती है और श्रीकृष्णके गुण समूह चित्तमें स्फुरित होते हैं।

पूर्ववर्ती पयारके प्रमाणमें यह श्लोक है।

नारदेर सङ्गे शौनकादि मुनिगण।
मुमुक्षा छाड़िया कैल कृष्णेर भजन ॥८९॥

श्रीनारदका सत्सङ्ग पुण्य शौनक आदिक मुनिगण पा कर।
श्रीकृष्ण-भजनमें हुए लीन हड़ताल फेर मोक्षेच्छापर ॥

मुमुक्षु जीवोंके श्रीकृष्णभजनका दृष्टान्त दे रहे हैं। सौनकादि मुनिगण मुमुक्षु थे। नारदजीके सङ्गसे वे मुक्ति-वासना त्यागकर श्रीकृष्णभजन करने लगे।

कृष्णेर दर्शने कारो कृष्णेर कृपाय।
मुमुक्षा छाड़िया गुणे भजे ताँर पाय ॥९०॥

कोई मुमुक्षु या कृष्ण-कृपा, कोई पाकर उनका दर्शन।
गुणगणपर रीझ, मुमुक्षा तज, करता श्रीकृष्ण-पदाब्ज-भजन ॥

मुमुक्षु जीवोंमें-से साधु-सङ्गके प्रभावसे शौनकादि श्रीकृष्णभजनमें प्रवृत्त हुए। अन्यान्य मुमुक्षुगणमें-से किसीको तो श्रीकृष्ण-दर्शनके फलसे और किसीको कृष्ण-कृपाके फलसे, कृष्णगुणमें आकृष्ट होकर श्रीकृष्णभजनमें प्रवृत्ति उत्पन्न होती है।

तथाहि श्रीभक्तिरसामृतसिन्धौ (३।१।१३)—

अस्मिन् सुखघनमूर्त्तौ परमात्मनि वृष्णिपत्तने स्फुरति ।
आत्मारामतया मे वृथा गतो वत चिरं कालः ।।३६।।

संस्कृतटीका—सुखघनमुर्तौ आनन्दघनशरीरे स्फुरति प्रकाशमाने सति। चक्रवर्ती।

अन्वय—अस्मिन् (यह) सुखघनमूर्त्तौ (आनन्दघन मूर्त्ति) परमात्मनि (परमात्मा) वृष्णिपत्तने (द्वारकामें) स्फुरित (स्फुरित रहते हुए) आत्मारामतया (आत्मारामत्वके अभिमानमें) मे (हमारा) चिरंकालः (चिरकाल) वृथा (वृथा) गतः (अतिवाहित हुआ)।

अनुवाद—यह आनन्दघन मूर्त्ति श्रीकृष्ण यदु राजधानी द्वारकानगरीमें स्फुरित रहते हुए,—'आत्माराम' इस अभिमानमें हमारा चिरकाल व्यर्थ चला गया।

कोई आत्माराम महात्मा भ्रमण करते-करते द्वारकामें जा उपस्थित हुए, तब उन्हें भाग्यक्रमसे आनन्दघनविग्रह श्रीकृष्णके दर्शन हुए। श्रीकृष्ण-दर्शन प्राप्त होते ही उनकी मोक्ष-वासना दूर हो गयी और श्रीकृष्णभजनके निमित्त आकांक्षा उत्पन्न हुई। जैसे ही श्रीकृष्णभजनकी वासना उत्पन्न हुई उनके मनमें आया कि श्रीकृष्णभजन न करनेसे मानो उनके जीवनका सम्पूर्ण समय ही वृथा नष्ट हो गया। इसीसे उन्होंने आक्षेप करके श्लोकोक्त यह बात कही।

श्रीकृष्ण दर्शनसे मुमुक्षा दूर होती है उसीके प्रमाणमें यह श्लोक है।
अब दो पयारोंमें जीवन्मुक्त जीवकी बात बताते हैं।

जीवन्मुक्तके भेद

जीवन्मुक्त अनेक ; सेओ दुइ भेद जानि—।
भक्त्ये जीवन्मुक्त, ज्ञाने जीवन्मुक्त-मानि ।।९१।।

हैं जीवन्मुक्त अनेक, किंतु उनके भी लो दो भेद जान।
कुछ भक्ति-निष्ठ, कुछ चुके ज्ञानसे ही जो निजको मुक्त मान॥

जीवन्मुक्त अनेक प्रकारके हैं ; उनमें दो श्रेणी (भेद) हैं,—एक भक्ति मिश्रित ज्ञानकी उपासनासे जीवन्मुक्त और दूसरे भक्तिकी सहायता बिना केवल ज्ञानकी उपासनासे जीवन्मुक्त। जो लोग भक्तिकी सहायताके बिना केवल ज्ञानकी उपासना करते हैं, वे स्वयं ही अपने आपको जीवन्मुक्त मानते हैं, वास्तवमें वे जीवन्मुक्त नहीं होते। मध्यलीलाके २२वें परिच्छेदके १६वें और २०वें पयारकी टीका देखिये। और जो लोग भक्ति मिश्रित ज्ञानकी उपासना करते हैं, वे भक्तिके माहात्म्यसे श्रीकृष्णकी कृपासे जीवन्मुक्त हो सकते हैं।

जीवन्मुक्त-मानि— जीवन्मुक्तन्मन्य ; जो अपने आपको जीवन्मुक्त मानते हैं, वास्तवमें जीवन्मुक्त नहीं हैं। मध्यलीला २२वें परिच्छेदके २०वें पयारकी टीका देखिये।

भक्त्ये जीवन्मुक्त—गुणाकृष्ट कृष्ण भजे।
शुष्कज्ञाने जीवन्मुक्त-अपराधे अधो मजे।९२।

जो भक्ति-निष्ठ, वह गुणाकृष्ट होकर करता श्रीकृष्ण-भजन।
वह अपराधी जो शुष्क-ज्ञान-रत, होता उसका अधःपतन॥

भक्त्ये जीवन्मुक्त इत्यादि—भक्तिकी कृपासे जो जीवन्मुक्त हो गये हैं, वे श्रीकृष्णगुणसे आकृष्ट होकर श्रीकृष्णभजन कर सकते हैं। इसके प्रमाणमें गीताका **'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा…'** (गीता १८।५४) श्लोक उद्धृत हुआ है। इस श्लोकको श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती पादकी टीकाके मर्मसे समझा जाता है कि मूंग, मटर आदिके साथ स्वर्णकणिका मिश्रित होनेसे जिस प्रकार वे स्वर्णकणिका साधारणतया दृष्टिगोचर नहीं होती और मूँग-मटर आदिके पचकर नष्ट होनेपर जिस प्रकार स्वर्णकणिका दृष्टिगोचर होने लगती है, उसी प्रकार जो लोग मुक्तिलाभके लिये ज्ञानमार्गकी उपासनाके साथ भक्तिअङ्गका अनुष्ठान करते हैं, उनका भक्तिअङ्ग

आरम्भसे ही प्रधानता प्राप्त नहीं कर सकता। किंतु भक्तिकी कृपासे विद्या एवं अविद्या—दोनोंके दूर हो जानेपर जब वे लोग ब्रह्मभूत हो जाते हैं (अर्थात् अनावृत-चैतन्य-स्वरूप प्राप्त करते हैं), तब यदि वे ज्ञानकी उपासना और नहीं करते, निरिन्धन अग्निकी तरह उनकी ज्ञानकी उपासनाकी प्रधानता (ब्रह्म-सायुज्य प्राप्तिकी कामना) अन्तर्हित हो जाती है। क्रमशः भक्ति ही प्रधानता प्राप्त करने लगती है। तब इस भक्तिके प्रभावसे ही वे लोग श्रीकृष्णके गुणोंसे आकृष्ट होकर श्रीकृष्णभजन करनेमें प्रवृत्त होते हैं। कृपा ही इस भजनका हेतु है। परवर्ती ४१वें श्लोककी टीका देखिये।

शुष्क ज्ञाने इत्यादि—किंतु जो लोग भक्तिका अनुष्ठान न करके केवल ज्ञानकी उपासनाद्वारा ही मुक्ति प्राप्त करनेकी चेष्टा करते हैं, उनके लिये मुक्ति पाना तो दूर रहा बल्कि वे भगवत्-चरणोंमें अपराधी ही बनते हैं। इसके प्रमाणमें निम्नलिखित श्लोक है।

भक्तिशून्य-ज्ञानसे हृदय शुष्क होकर भक्तिके बीजके अङ्कुरित होनेके लिये अयोग्य हो जानेके कारण इसको शुष्क ज्ञान कहा गया है।

शुष्क ज्ञानसे अधःपतन

तथाहि श्रीमद्भागवते (१०।२।३२)

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन-
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥४०॥

संस्कृतटीका—ननु विवेकिनां किं मद्भजनेन मुक्ता एव हि ते तत्राहुः येऽन्य इति। विमुक्तमानिनः विमुक्ता वयम् इति मन्यमानाः। त्वयि अस्तो निरस्तोऽत एवासन् यो भावतस्मात् भक्तेरभावादित्यर्थः। न विशुद्धा बुद्धिर्येषां ते तथा। यद्वा त्वयि अस्तभाः इति च्छेदः अस्तमतयो वादेष्वेव विशुद्धबुद्धयः। कृच्छ्रेण बहुजन्मतपसा परं पदं मोक्षसन्निहितं सत्कुल-

तपःश्रुतादि आरुह्य पतन्ति विघ्नैः अभिभूयन्ते। न आदृतो युष्मदङ्घ्री यैस्ते। स्वामी।

अन्वय—अरविन्दाक्ष (हे पद्मपलाशनयन)! त्वयि (तुममें) अस्तभावात् (भक्तिहीनताके कारण) अविशुद्धबुद्धयः (अविशुद्धबुद्धि) अन्ये (अन्य) ये (जो लोग) विमुक्तमानिनः (अपनेको विमुक्त मानते हैं, ऐसे व्यक्ति) कृच्छ्रेण (अति कष्टसे—अनेक जन्मोंकी तपस्याके प्रभावसे) परं पदं (परम पद—मोक्ष सन्निहित सत्कुलमें जन्म आदि) आरुह्य (आरोहण करके—प्राप्त करके) अनादृत-युष्मदङ्घ्रयः (तुम्हारे चरणोंमें अनादर करनेसे) ततः (उस स्थानसे—उस मोक्षसन्निहित अवस्थासे) अधः पतन्ति (अधःपतित होते हैं)।

अनुवाद—श्रीकृष्णको लक्ष्य करके देवगणने कहा—हे कमललोचन! जो तुम्हारे प्रति विमुख हैं, तुममें भक्तिके अभावके कारण उनकी बुद्धि अविशुद्ध रहती है, अतएव वास्तवमें विमुक्त न होनेपर भी वे लोग अपने आपको विमुक्त मानते हैं। वे अति कष्टसे विषय-सुखका परित्याग करके कठोर तपस्यादिद्वारा मोक्षसन्निहित सत्कुल आदि प्राप्त करके भी तुम्हारे चरणोंमें अनादरके कारण उन सत्कुलादिसे अधःपतित होते हैं।

अरविन्दाक्ष—अरविन्द (कमल, पद्म) के सदृश अक्षि (नयन, चक्षु) हैं जिनके; कमललोचन श्रीकृष्ण! अस्तभावात्—अस्त (निरस्त) हुए हैं जो भाव (भक्ति), उसके कारण; भक्तिके अभावके कारण; श्रीभगवान्‌में भक्ति नहीं है इसलिये। अविशुद्धबुद्धयः—जो विशुद्ध न हो, वह अविशुद्ध, मलिन। अविशुद्ध (मलिन) हुई है बुद्धि जिनकी, वे अविशुद्ध-बुद्धि, मलिन-मति। भगवान्‌में निर्गुणा भक्तिके बिना बुद्धि विशुद्ध नहीं हो सकती (पूर्व पयारकी टीका देखिये)। विमुक्तमानिनः—विमुक्त (जीवन्मुक्त) अपने आपको मानते हैं जो; वस्तुतः जीवन्मुक्त न होनेपर भी जो यह मानते हैं कि हम जीवन्मुक्त हो चुके, ऐसे लोग (पूर्व पयारकी टीका देखिये)। बुद्धि शुद्ध नहीं होनेके कारण, वस्तुतः वे जीवन्मुक्त नहीं हैं इस बातको वे समझ नहीं सकते। जो हो, ऐसे जीवन्मुक्ताभिमानी व्यक्तिगण कृच्छ्रेण—अति कष्टसे, विषयसुख आदिका परित्याग करके अनेक जन्मोंकी कष्टसाध्य तपस्या आदि करके परं पदं आरुह्य—मोक्षसन्निहित-

सत्कुल जन्म आदि श्रेष्ठ पद प्राप्त करके भी नादृशयुष्मदङ्घ्रयः —तुम्हारे चरणोंके अनादरके कारण, तुमको मायिक विग्रह मानकर तुम्हारी अवज्ञा करनेके फलसे अधःपतन्ति—अधःपतित होते हैं (पूर्व पयारकी टीका देखिये)।

यह श्लोक पूर्व पयारके उत्तरार्द्धके प्रमाणमें है।

भक्तिसे जीवन्मुक्ति

तथाहि श्रीभगवद्गीतायाम् (१८।५४)—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥४१॥

संस्कृतटीका—तपश्चोपाध्यपगमे सति ब्रह्मभूतः अनावृतचैतन्यत्वेन ब्रह्मरूप इत्यर्थः। गुणमालिन्यापगमात्; प्रसन्नश्चासावात्मा चेति सः ततश्च पूर्वदशायामिव नष्टं न शोचति न चाप्राप्तं काङ्क्षति देहाद्यभिमानाभावादिति भावः। सर्वेषु भूतेषु भद्राभद्रेषु बालक इव समः वाह्यानुसंधानाभावादिति भावः। ततश्च निरिन्धनाग्निरिव ज्ञाने शान्तेऽप्यनश्वरां ज्ञानान्तर्भूतां मद्भक्तिं श्रवणकीर्त्तनादिरूपां लभते। तस्या मत्स्वरूपशक्तिवृत्तित्वेन मायाशक्तिभिन्नत्वात् अविद्याविद्ययोरपगमेऽपि अनपगमात्। अतएव परां ज्ञानादन्यां श्रेष्ठां निष्कामकर्मज्ञानाद्युर्वरितत्वेन केवलामित्यर्थः। लभते इति पूर्वं ज्ञानवैराग्यादिषु मोक्षसिद्ध्यर्थं कलया वर्तमानाया अपि सर्वभूतेषु अन्तर्यामिन इव तस्याः स्पष्टोपलब्धिर्नासीदिति भावः। अतएव कुरुत इत्यनुक्त्वा लभते इति प्रयुक्तम्। मालमुद्गादिषु मिलितां तां तेषु नष्टेष्वपि अनश्वरां काञ्चनमणिकामिव तेभ्यः पृथक्तया केवलां लभते इति वत्। संपूर्णायाः प्रेमभक्तेस्तु प्रायस्तदानीं लाभसम्भवो-ऽस्ति नापि तस्या फलं सायुज्यं इत्यतः परा-शब्देन प्रेमलक्षणेति व्याध्येयम्। चक्रवर्ती।

अन्वय—ब्रह्मभूतः (ब्रह्मस्वरूप संप्राप्त) प्रसन्नात्मा (प्रसन्नात्मा) न शोचति (नष्ट वस्तुके लिये शोक नहीं करते) न काङ्क्षति (किसी भी प्रकारकी वस्तुकी

प्राप्तिकी आकांक्षा नहीं करते) ; **सर्वेषु भूतेषु** (सब प्राणियोंमें) **समः** (सम दृष्टि सम्पन्न) [**सन्**] (होकर) **परां मद्भक्तिं** (मुझमें पराभक्ति) **लभते** (लाभ करते हैं)।

अनुवाद—ब्रह्म-स्वरूप संप्राप्त प्रसन्नात्मा व्यक्ति नष्ट वस्तुके लिये शोक नहीं करते, किसी भी वस्तुकी प्राप्तिके लिये आकांक्षा भी नहीं करते। सब भूतोंमें समदृष्टि सम्पन्न होकर वे मुझमें (श्रीकृष्णमें) पराभक्ति-प्राप्त करते हैं।

ब्रह्मभूतः—ब्रह्म-स्वरूप संप्राप्त। भक्तिके साहचर्यसे ज्ञान मार्गके साधकके लिये ज्ञान योगका साधन करते-करते जब साधककी जड़ उपाधि छूट जाती है और उसका गुणमालिन्य दूरीभूत हो जाता है, तब देह-दैहिक-वस्तुसे उसका अभिमान विनष्ट हो जाता है और तब वह अनावृत-चैतन्य होकर ब्रह्म-रूपता—ब्रह्मस्वरूपता प्राप्त करता है ; ब्रह्म जिस प्रकार उपाधि-लेश शून्य अनावृत चैतन्य है उसी तरह तब वह साधक भी उपाधिलेश शून्य अनावृत चैतन्य होता है। ऐसी स्थितिमें जब वह साधक होता है तभी उसे 'ब्रह्मभूत' कहते हैं। **प्रसन्नात्मा**—प्रसन्न हुई है आत्मा जिसकी ; किसी भी प्रकारकी जड़ोपाधि नहीं रहनेसे और किसी भी प्रकारका गुणमालिन्य न रहनेसे उस साधकका चित्त तब प्रसन्नता प्राप्त करता है तब किसी भी प्रकारकी विषण्णता उसके चित्तमें नहीं रहती। इस प्रकार देह और दैहिक वस्तुमें अभिमानादि न रहनेसे तब वे **न शोचति**—नष्ट वस्तुके लिये पहलेकी तरह शोक नहीं करते एवं **न काङ्क्षति**—किसी भी अप्राप्त वस्तुको पानेके लिये आकांक्षा भी नहीं करते। देह-दैहिक वस्तुमें अभिमान आदि रहनेसे ही लोगोंका वाह्यानुसन्धान रहता है ; ब्रह्म-स्वरूप-संप्राप्त व्यक्तिका तद्रूप कोई भी अभिमानादि न रहनेसे वाह्यानुसन्धान भी नहीं रहता ; इसीसे वे बालककी तरह **सर्वेषु भूतेषु समः**—भले-बुरे, उत्तम-अधम, भद्र-अभद्र सभी प्राणियोंको समान मानते हैं ; प्राणि-समूहमें जो पार्थक्य है, वाह्यानुसन्धानके अभाववश वह उनके मनमें जाग्रत नहीं होता। साधककी जब इस प्रकारकी अवस्था होती है, तब यदि सौभाग्यवश उसका शुद्ध ज्ञानमार्गका कोई भी साधनाङ्ग अनुष्ठित न हो, ज्ञानमार्गके साधनाङ्ग लोप हो जायँ, और निर्भेद ब्रह्मानुसन्धान तिरोहित हो जाय, तब वह जिन भक्ति अङ्गोंका साधनके आनुषङ्गिक भावसे अनुष्ठान किया करता था वे अधिकतर सजीवता प्राप्तकर

समुज्ज्वल हो उठते हैं। ये भक्ति अङ्ग पूर्वमें ज्ञानमार्गके साधनके आनुषङ्गिक मात्र होनेसे कुछ क्षीण थे ; किंतु माष (उड़द)-मुद्ग (मूंग)—भूसी-आदिके साथ मिली हुई स्वर्णकणिका पहले अदृश्यभावसे रहते हुए भी, माष-मुद्गादिके पचकर नष्ट हो जानेपर भी जैसे स्वर्णकणिका नष्ट नहीं होती, बल्कि तब उसकी उज्ज्वलता जिस प्रकार सबकी दृष्टि आकर्षित करती है, उसी प्रकार ज्ञान-वैराग्य-आदिके साथ मिश्रित भक्ति आरम्भमें नितान्त क्षीणप्रभा होनेपर भी ब्रह्मभूत-प्रसन्नात्मा व्यक्तिके निर्भेद ब्रह्मानुसन्धान तिरोहित हो जानेपर एकमात्र भक्ति ही शेष रहकर समुज्ज्वल हो उठती है। भक्ति हुई स्वरूप-शक्तिकी वृत्तिविशेष—अतएव अनश्वरा। अतएव ब्रह्मस्वरूप-संप्राप्त व्यक्तिकी विद्या एवं अविद्या तिरोहित होनेपर भी भक्ति तिरोहित नहीं होती। यह भक्ति तब ज्ञानकर्म आदिकी छायाके स्पर्शसे शून्य होनेके कारण द्रुतगतिसे उत्तरोत्तर सम्वर्द्धित समुज्ज्वलता प्राप्त करके **पराभक्ति**—प्रेमलक्षणा भक्तिमें परिणत होकर साधकको कृतार्थ करती रहती है।

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ (३।१।२०)—

अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः
स्वानन्दसिंहासनलब्धदीक्षाः।
शठेन केनापि वयं हठेन
दासीकृता गोपवधूविटेन ॥४२॥

संस्कृतटीका—अद्वैतेति शाब्दं ज्ञानमुक्तं स्वानन्देति त्वनुभवपर्यन्तं स्वानन्द एव सिंहासनं तत्र लब्धा दीक्षा पूजा यैरित्यर्थः दीक्ष-मौण्डेत्यादि-धातुगणात्। व्याजस्तुतिरियम्। श्रीजीव।

अन्वय—अद्वैतवीथी पथिकैः (अद्वैत-मार्गावलम्बी साधकगण कर्त्तृक) **उपास्याः** (पूज्य), **स्वानन्दसिंहासनलब्धदीक्षाः** (निजानन्दरूपी सिंहासनपर पूजा प्राप्त) **वयं** (हमलोग) **केन अपि** (किसी) **गोपवधूविटेन** (गोपवधू-लम्पट) **शठेन** (शठद्वारा) **हठेन** (बलपूर्वक) **दासीकृताः** (दास बना लिये गये हैं)।

अनुवाद--विल्वमङ्गलजी अपनी स्तवावलीमें कहते हैं—हमलोग अद्वैतपथके

पथिकगणके आराध्य थे और निजानन्द रूपी सिंहासनपर पूजा प्राप्त किया करते ; अहो ! किसी गोपवधू-लम्पट शठने बलपूर्वक हमलोगोंको अपना दास बना लिया है।

अद्वैत-वीथी पथिकैः—अद्वैतरूप (निर्भेद ब्रह्मानुसन्धान रूप) वीथीके (पथके) पथिकगण कर्त्तृक ; जो लोग ज्ञानमार्गके साधक निर्भेद ब्रह्मानुसन्धानमें रत हैं उनके द्वारा **उपास्याः**—आराध्य (जो ज्ञानमार्गके उपासक हैं, वे सभी हमारी पूजा किया करते अर्थात् हमलोग ज्ञानमार्गके साधकोंमें श्रेष्ठ थे)। **स्वानन्द-सिंहासन-लब्धदीक्षाः**—स्वानन्द रूप (ब्रह्मके अनुभवजनित आनन्द रूप) सिंहासनपर प्राप्त हुई है दीक्षा (पूजा) जिनके द्वारा ऐसे **वयम्**—हमलोग। ज्ञानमार्गके साधनके प्रभावसे हमलोग ब्रह्मके अनुभवजनित आनन्दका उपभोग करते। इसलिये सब यह मानते कि ज्ञानमार्गके साधकोंके लिये यथावस्थित देहद्वारा चरम काम्य वस्तु ब्रह्मानुभव ही है ; हमने उस ब्रह्मानुभवको प्राप्त कर लिया है, यह सब मानते और इसीसे सबकी दृष्टिमें अद्वैतवादियोंके बीच राजाकी तरह अति उच्च और गौरवके आसनपर अधिष्ठित थे और इसीसे सर्वसाधारणसे यथेष्ट श्रद्धा, सम्मान एवं पूजा भी हमलोग पाते ; किंतु कितने आश्चर्यकी बात है एवं कितने आक्षेपकी बात है कि ऐसे हमलोग भी किसी एक शठ चूड़ामणि **गोपवधूविटेन**—गोपवधू-लम्पटद्वारा **हठेन**—हमारी अनिच्छा रहनेपर भी बलपूर्वक **दासीकृताः**—दास बना लिये गये। हम थे तो साधक सम्प्रदायके बीच राजाके जैसे सम्मानद्वारा सम्मानित, और अब बना लिये गये दास, और वह भी एक धूर्त्त शठ व्यक्तिद्वारा। केवल इतना ही नहीं—वह धूर्त्त शठ व्यक्ति है गोपवधू-लम्पट। इससे बढ़कर हमारे लिये और आक्षेपका विषय क्या हो सकता है ?

यह श्लोक व्याज स्तुति—निन्दाके छलसे स्तुतिमात्र है। श्लोकके यथाश्रुत अर्थसे ऐसा ही प्रतीत होता है—वक्ता अपने दुर्भाग्यकी बात ही आक्षेपसहित बता रहा है, अदृष्टकी निन्दा कर रहा है—"जिसके बराबर और दूसरा मार्ग नहीं है ऐसे अद्वैत-मार्गके हम राजा थे, ब्रह्मानन्द अनुभवका सम्मान पाते थे ; अदृष्टगुणसे, अपनी अनिच्छा होनेपर भी एक शठ-लम्पटके दास बन गये—इससे

बढ़कर अदृष्टकी और क्या विडम्बना हो सकती है ?"--यही यथाश्रुत निन्दा-वाचक अर्थ है। किंतु इस श्लोकका वास्तविक अर्थ होता है वक्ताके सौभाग्यकी स्तुति--"जिससे क्षुद्र जीव अपनेमें ब्रह्मकी कल्पना करके केवल मात्र अपराधमें लीन होता है, हम उसी अद्वैतमार्गमें--निर्भेद ब्रह्मानुसन्धानमें निमग्न रहकर, जीवके स्वरूप तत्त्वको उलटकर, परम ब्रह्म भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके सच्चिदानन्द विग्रहको मायिक बताकर केवल अपराध-पङ्कमें ही अपने आपको निमज्जित करते थे ; उस मार्गमें श्रद्धा, सम्मान-पूजा हम जरूर प्राप्त करते थे, परन्तु वह श्रद्धा-सम्मानादि प्रदर्शित करनेवाले कौन थे ? वे लोग वे ही थे, जो हमलोगोंकी ही तरह जीवमें ब्रह्मरूपकी कल्पना करके अपराधलीन होते थे, जो हमारी तरह ज्ञानी कहे जानेवाले मूर्खजन अपराध-पङ्कमें निमग्नताको न समझकर सौभाग्यका लक्षण मानते थे। हमको जिनसे सम्मान मिलता, वे अपनी अपेक्षा हमको अपराध-पङ्कमें अधिकतर निमग्न देखकर ही हमारा सम्मान करते थे ; उनका यह श्रद्धा-सम्मान हमारी दुर्दशाका—मन्द भाग्यका ही परिचायक था। निर्विशेष ब्रह्म--वैचित्रीहीन आनन्द-सत्ता मात्र है। वही आनन्द-सत्ता हमारा लक्ष्य था, किंतु ब्रह्मके सविशेष स्वरूपकी कृपाके बिना उस आनन्द-सत्ता रूप ब्रह्मका अनुभव भी सुदुर्लभ है। सविशेष स्वरूपको मायिक विग्रह बताकर हमने जो अपराध किया है, वह अपराध ही सविशेषस्वरूपकी कृपा प्राप्तिके पथमें हमारे लिये पर्वतके समान दुर्लङ्घ्य विघ्न बनकर खड़ा हो गया, वास्तविक ब्रह्मानन्दका अनुभव हमारे लिये असम्भव हो गया। अपनेको ही सच्चे साधनमार्गमें अवस्थित मानकर, केवल मात्र वाक्-पटुताके जोरसे भक्तिके अनुकूल—जीवके स्वरूप तत्त्वके अनुकूल—भक्तिवादका खण्डन करके, भगवद्विग्रहके सच्चिदानन्दमयत्वका खण्डन करके, भक्तिमार्गकी अकिञ्चितकरता प्रतिपादन करके और अपने अधःपतनजनक ऐसे और भी अनेक काम करके, अपने दम्भ और अहङ्कारके तृप्तिमूलक जो आत्म-श्लाघा हम अनुभव करते, उस आत्म-श्लाघाको ही—आत्म-प्रवञ्चनाको ही स्वानुभवानन्द या ब्रह्मानन्द मानकर हम सोचते कि हम साधनमें सिद्ध हो गये हैं, साधन-जगत्के राज्य-सिंहासनपर अधिष्ठित हो गये हैं ; किंतु यह हमारे दुर्भाग्यका चरम विकास है, इस बातको दम्भ-मोहाच्छन्न होकर हम नहीं समझ सके। हमारी ऐसी अवस्थामें भी वे

कोटि मन्मथ-मथन रसिकेन्द्र चूड़ामणि गोपीजन-वल्लभ श्रीकृष्ण, अपने पतित पावन गुणसे दयाकर अपने असमोर्द्ध माधुर्य सम्भारके (राशिके) पूत-स्निग्ध ज्योतिर्पुञ्ज विकीर्ण करते हुए हमारे सामने उपस्थित हुए। तत्क्षण उनके माधुर्य-किरण-जालके अनिर्वचनीय प्रभावसे हमारे दम्भ, अहङ्कार—हमारी पर्वततुल्य अज्ञता राशि—हमारा गहन मोहान्धकार—आंखोंकी पलक पड़ते तिरोहित हो गये ; तभी हम समझ सके कि वे कितने महान हैं, और हम कितने क्षुद्र ! पर्वत-प्रमाण चुम्बक-स्तूपके सामने क्षुद्र लोह-कणिका जैसे किसी प्रकार भी अपने स्थानपर अपनी अवस्थितिकी रक्षा नहीं कर सकती, वैसे ही उनके माधुर्य सम्भारके सामने हम भी निर्भेद ब्रह्मध्यानमें अपने मनको पकड़कर नहीं रख सके—हमारे देह, मन, प्राण—सभीने प्रबल वेगसे धावित होकर उस माधुर्य विग्रहके चरण तलमें आत्मसमर्पण कर दिया, उनकी चरण-सेवाका सौभाग्य प्राप्त करनेको हमारी उत्कण्ठा उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। परमरसिक श्रीकृष्णचन्द्रके नखके कोनेकी किरण-छटासे जो आनन्द लहरी खेलती है, उसकी तुलनामें ब्रह्मानन्द—मध्याह्न-मार्तण्डकी तुलनामें खद्योतके समान है। और गोपीजन-वल्लभकी जिस असमोर्द्ध-माधुर्यमयी लीला-कथासे लुब्ध होकर नारायणकी वक्षविलासिनी वैकुण्ठेश्वरी लक्ष्मीदेवी पर्यन्त वैकुण्ठके सुखैश्वर्यका परित्याग करके कठोर तपस्यामें रत हुई थीं उस लीलाकी बात और क्या बतायी जाय ? परम करुण श्रीकृष्णचन्द्रने कृपाकर हमलोगोंको अपनी दास श्रेणीमें शामिल कर उस लीलारस-आस्वादनका सुयोग दिया है। अद्वैतमार्गमें सबकी पूजा ग्रहण करके जो सुख अनुभव होता, वह सुख अब कृष्णदास्यके आनन्दकी तुलनामें महासमुद्रकी तुलनामें सूईके अग्रभाग-स्थित जलविन्दुवत् अकिञ्चितकर, नितान्त नगण्य-सा लगता है। कृष्णदासके भाग्यकी क्या सीमा है ? जो त्रिभुवनमें अजित हैं, जो समस्त विश्व-ब्रह्माण्डके एकमात्र अधीश्वर हैं, जो स्वतन्त्र स्वयं भगवान् हैं, अद्वैत मार्गावलम्बीगणके ध्येय ब्रह्म जिनकी अङ्ग कान्ति मात्र हैं, जिनकी चरणसेवाके सौभाग्यकी प्राप्तिके लिये ब्रह्मा-रुद्रादि देवगण सदा लालायित रहते हैं—वे भक्तवत्सल श्रीकृष्ण जित हो सकते हैं एकमात्र अपने दासके द्वारा ; स्वतन्त्र होकर भी वे अधीनता स्वीकार करते हैं एकमात्र अपने दासके निकट।

कृष्णेर समता हइते बड़ भक्तपद ।
आत्मा हैते कृष्णेर भक्त प्रेमास्पद ॥
आत्मा हैते कृष्ण 'भक्त बड़' करि माने ।
(चै० च० आ० ली० छठा परिच्छेद ६७-६८ पयार) ।

श्रीकृष्णने कृपा करके अयाचित भावसे हम लोगोंको अपना ऐसा भक्तपद दिया है—इससे बढ़कर सौभाग्यका विषय हमारे लिये और क्या हो सकता है ?

इस श्लोकके उल्लेखमें ब्रह्मानन्द भारतीका भी अभिप्राय यही है—"मैं भी निराकारका ध्यान किया करता, निर्भेद ब्रह्मका अनुसन्धान किया करता, रसिकेन्द्र-चूड़ामणि श्रीकृष्णचन्द्रकी कथाका भूलकर भी स्मरण करता होऊँ इसमें सन्देह है ; किंतु प्रभु ! तुम्हारी कृपासे मेरे मनमें, नेत्रोंमें माधुर्यवारिधि श्रीकृष्ण-चन्द्रका रूप स्फुरित होता है एवं वही माधुर्य सुधा पान करनेके निमित्त चित्त सतृष्ण हो उठा है । मेरी दशा भी तुम्हारी कृपासे विल्वमङ्गल जैसी ही हो गई है ।"

भक्तिबले प्राप्तस्वरूप दिव्यदेह पाय ।
कृष्णगुणाकृष्ट हञा भजे कृष्णपाय ॥९३॥

कर लेता प्राप्तस्वरूप प्राप्त तन दिव्य भक्तिके बलसे निज ।
श्रीकृष्ण-गुणाकर्षित होकर वह भजता कृष्ण-चरण-सरसिज ॥

अब प्राप्तस्वरूपकी बात बताते हैं । प्राप्तस्वरूपके लक्षण इसी परिच्छदके ८६वें पयारकी टीकामें देखिये । जो प्राप्तस्वरूप हैं उनके ज्ञानके साधनमें निश्चय ही भक्तिका साहचर्य रहता है ; कारण, भक्तिकी कृपाके बिना प्राप्त-स्वरूप नहीं हुआ जा सकता । इस भक्तिके प्रभावसे ही प्राप्तस्वरूप ज्ञानोपासक-गण भजनोपयोगी दिव्य देह पाकर श्रीकृष्णभजन किया करते हैं ।

भक्तिबले—ज्ञानकी उपासनामें सहायिका भक्तिके प्रभावसे । **दिव्यदेह**—जिस देहमें मायिक आसक्ति न हो । **कृष्णगुणाकृष्ट**—श्रीकृष्णके गुणोंमें आकृष्ट होकर । **कृष्णपाय**—श्रीकृष्ण-चरणोंमें ; श्रीकृष्ण-चरणोंका भजन करते हैं ।

तथाहि श्रीमद्भागवते (२।१०।६)—

मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः ॥४३॥

संस्कृतटीका—अन्यथारूपं अविद्ययाध्यस्तं कर्त्तृत्वादि हित्वा स्वरूपेण ब्रह्मतया व्यवस्थितिर्मुक्तिः। **स्वामी** ॥

अन्यथारूपं मायिकं स्थूलसूक्ष्मरूपद्वयं हित्वा स्वरूपेण शुद्धजीवस्वरूपेण केषाञ्चिद् भगवत्-पार्षदरूपेण च व्यवस्थितिर्मुक्तिरिति। **चक्रवर्ती**।

अन्वय—**अन्यथारूपं** (मायिक स्थूल-सूक्ष्मदेह-द्वयरूप—स्थूल-सूक्ष्मदेहमें कर्त्तृत्वादि अभिमान) **हित्वा** (त्याग करके) **स्वरूपेण** (अपने स्वरूपमें) **व्यवस्थितिः** (अवस्थिति) **मुक्तिः** (मुक्ति कही जाती है)।

अनुवाद—मायिक स्थूल-सूक्ष्म देहमें कर्त्तृत्वादिका अभिमान परित्यागपूर्वक अपने स्वरूपमें जीवकी जो अवस्थिति होती है, उसीको मुक्ति कहते हैं।

श्रीधर स्वामीपादकी टीकानुसार अन्वय एवं अनुवाद ऊपर लिखा गया है। यही प्रकरण सङ्गत लगता है। उनके मतसे **अन्यथारूपं**—अविद्ययाध्यस्तं कर्त्तृत्वादि ; अविद्याजनित कर्त्तृत्वादि ; कर्त्तृत्वादिका अभिमान। **स्वरूपेण**—ब्रह्मतया ; ब्रह्मरूपमें। ज्ञानमार्गके साधक अपनेको ही स्वरूपतः ब्रह्म मानते हैं। ज्ञानमार्गके मतसे ब्रह्म ही जीवका स्वरूप है ; अतः ज्ञानमार्गके साधककी स्वरूपमें अवस्थिति हुई ब्रह्मरूपमें अवस्थिति—वे जब अपनेको ब्रह्म अनुभव करते हैं, तभी कहा जाता है कि वे स्वरूपमें अवस्थित हैं या प्राप्तस्वरूप हैं।

भक्तिशास्त्रके अनुसार जीवका स्वरूप है ब्रह्म (श्रीकृष्ण) का दास—ब्रह्म नहीं। कर्मफल भोगनेके लिये ही जीव भोगके लायक स्थूल या सूक्ष्म देहका आश्रय लेकर रहता है और स्थूल या सूक्ष्म देहमें आत्मबुद्धि करके कर्मफल भोगता रहता है। यह स्थूल और सूक्ष्म देह होते हैं मायिक—ये शुद्ध जीव-स्वरूप नहीं हैं। इसीसे ये दोनों हैं जीवके लिये **अन्यथारूप**—शुद्ध जीवसे अन्य (भिन्न) रूप। **अन्यथारूपं मायिकं स्थूलसूक्ष्मरूपद्वयम्** (चक्रवर्ती)। शुद्ध जीव-स्वरूप ही—श्रीकृष्णके जीवशक्तिरूप चित्कण अंश ही—जीवका स्वरूप है। **स्वरूपेण शुद्धजीवस्वरूपेण केषाञ्चिद् भगवत्-पार्षदरूपेण** (चक्रवर्ती)। जीवका स्वरूप जब नित्य है, जीव जब नित्य चित्कण या अणुचित् है, तो भक्तिशास्त्रानुसार

सायुज्य मुक्तिकी अवस्थामें भी उसकी चित्कण अवस्था ही रहेगी। मायिक स्थूल-सूक्ष्म-देहद्वय त्याग करके ज्ञानमार्गका उपासक जब इस चित्कण शुद्ध जीव-स्वरूपमें अवस्थित होगा, तभी वह मुक्त कहा जायगा। और जो भक्तिमार्गके उपासक हैं उनका काम्य होगा—उपास्यके पार्षदरूपसे लीलामें उपास्यकी सेवा करना। मायिक स्थूल-सूक्ष्म-देह-द्वय परित्यागपूर्वक वे जब उपास्यके पार्षद-रूपसे अवस्थित होंगे, तब वे मुक्त कहे जायेंगे एवं पार्षद देहमें उनकी अवस्थितिको ही उनकी मुक्ति कहा जायगा। उद्धृत श्लोककी चक्रवर्तीपादकी टीकाका यही तात्पर्य है। इस तात्पर्यके अनुसार उल्लिखित श्लोकका अर्थ इस प्रकार होगा:— मायाकृत स्थूल-सूक्ष्म-देह-द्वय परित्यागपूर्वक ज्ञानमार्गके साधकके पक्षमें चित्कण शुद्ध जीवस्वरूपमें अवस्थितिको एवं भक्तिमार्गके साधकके पक्षमें भगवत्-पार्षदरूपमें अवस्थितिको मुक्ति कहते हैं।

पूर्ववर्ती पयारमें उल्लिखित प्राप्तस्वरूपके लक्षण ही इस श्लोकमें बताये हैं। पूर्ववर्ती ८६ पयारके अनुसार प्राप्तस्वरूप भी ज्ञानमार्गका साधक है; अतः यहाँपर इस श्लोकके चक्रवर्तीपादके अर्थकी अपेक्षा स्वामीपादका अर्थ ही अधिकतर प्रकरण सङ्गत लगता है।

कृष्णबहिर्म्मुखदोषे माया हैते भय।
कृष्णोन्मुख भक्ति हैते मायामुक्त हय ॥९४॥

श्रीकृष्ण-बहिर्मुखको माया करती रहती भयभीत सतत।
कृष्णोन्मुख जनकी भक्ति, पाश मायाका कर देती है क्षत॥

कृष्णबहिर्मुख इत्यादि—जीव श्रीकृष्ण-बहिर्मुख हो गया है इसीसे उसको मायासे भय उत्पन्न हुआ है अर्थात् मायिक स्थूल-सूक्ष्म-देहमें आबद्ध करके माया उसको अनन्त प्रकारकी यन्त्रणा भोग कराती है।

कृष्णोन्मुख इत्यादि—श्रीकृष्णमें उन्मुख होकर जीव यदि श्रीकृष्णमें भक्ति करे, तो इस मायासे छुटकारा पा सकता है।

इस पयारका तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्णमें भक्ति करनेसे ही प्राप्त-स्वरूप जीव

मायासे मुक्त होकर अपने शुद्ध-जीव-स्वरूपको पा सके हैं और इसीसे उनका प्रारब्ध नष्ट हो गया है और भक्तिकी कृपासे वे दिव्य देह प्राप्त करनेमें समर्थ हुए हैं।

तथाहि श्रीमद्भागवते (११।२।३७)—

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्या-
दीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।
तन्माययातो बुध आभजेत्तं
भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा ॥४४॥

संस्कृतटीका—ननु किमेवं परमेश्वरभजनेन, अज्ञानकल्पितभयस्य ज्ञानैकनिवर्त्तत्वादित्याशङ्क्याह- भयमिति। यतो भयं तन्मायया भवेत् अतो बुधो बुद्धिमांस्तमेव आभजेत्। ननु भयं देहाद्यभिनिवेशतो भवति स च देहाहङ्कारतः स च स्वरूपास्मरणात् किमत्र तस्य माया करोति अत आह ईशादपेतस्येति ईशविमुखस्य तन्मायया अस्मृतिर्भगवतः स्वरूपास्फूर्तिस्ततो विपर्ययो देहोऽस्मीति ततो द्वितीयाभिनिवेशाद् भयं भवति। एवं हि प्रसिद्धं लौकिकीष्वपि मायासु। उक्तञ्च भगवता—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ (गी० ७।१४)

इति। एकया अव्यभिचारिण्या भक्त्या भजेत्। किञ्च गुरुदेवतात्मा गुरुरेव देवता, ईश्वर आत्मा प्रेष्ठश्च यस्य तथादृष्टिः सन्नित्यर्थः। स्वामी।

अन्वय—**ईशात् अपेतस्य** (ईश्वरसे अपगत जनोंको—भगवत् विमुखोंको) **तन्मायया** (भगवान्‌की मायाके प्रभावसे) **अस्मृतिः** (स्वरूपका विस्मरण उत्पन्न होता है); **ततः** (उससे—स्वरूपकी विस्मृतिसे) **विपर्ययः** (विपरीत बुद्धि—देह-दैहिक वस्तुमें अहं-ममत्व आदि बुद्धि उत्पन्न होती है), **ततः** (उससे—विपरीत बुद्धिसे) **द्वितीयाभिनिवेशतः** (देह आदि—द्वितीय वस्तुमें अभिनिवेशके कारण) **भयं** (भय—संसार भय) **स्यात्** (उत्पन्न होता है)। **अतः** (इसलिये) **बुधः** (पण्डित लोग) **गुरुदेवतात्मा** (गुरु ही देवता, गुरु ही श्रेष्ठ है—ऐसा

मानकर) **एकया** (अव्यभिचारिणी) **भक्त्या** (भक्तिद्वारा) **तं ईशं** (उन भगवान्‌को) **आभजेत्** (सम्यक् रूपसे भजते हैं)।

अनुवाद—परमेश्वरसे विमुख जीवको मायाके कारण स्वरूपकी विस्मृति उत्पन्न होती है एवं उसके कारण देहमें आत्माभिमान उत्पन्न होता है। द्वितीय वस्तु जो देह इन्द्रिय आदि हैं, उनमें अभिनिवेश होनेसे ही भय उत्पन्न होता है। अतएव ज्ञानी व्यक्ति गुरुमें देवताबुद्धि और प्रियताबुद्धि स्थापन करके अव्यभिचारिणी भक्तिके साथ परमेश्वरका भजन करते हैं।

ईशात् अपेतस्य—ईश्वर (भगवान्‌से) जो अपगत हैं, जो भगवत्-विमुख हैं, **तन्मायया**—उन भगवान्‌की मायासे, मायाशक्तिके प्रभावसे **अस्मृतिः**—स्मृतिका अभाव—स्वरूपकी विस्मृति उत्पन्न होती है। जीव नित्य कृष्णदास है, कृष्ण-सेवा करना ही जीवका कर्त्तव्य है—इस प्रकारकी स्मृति ही जीवके स्वरूपकी स्मृति है। किंतु जो जीव भगवत्-विमुख हैं, मायाके प्रभावसे उनकी वह स्मृति नष्ट हो जाती है।

चिदानन्दात्मक जीवके साथ आनन्दका एक नित्य सम्बन्ध है, इसीलिये जीव सर्वदा ही आनन्दका अनुसन्धान करता है—ऐसा किये बिना वह रह नहीं सकता, क्योंकि यह उसकी स्वरूपानुबन्धिनी प्रवृत्ति है। इस आनन्द-अनुसन्धान-की दो धाराएँ हैं—भगवत्-सेवाका आनन्द एवं अपनी इन्द्रिय-तृप्तिका आनन्द। भगवत्-सेवाके आनन्दकी ओर जिनकी मति जाती है, अपनी इन्द्रिय-तृप्तिकी बात कभी भी उनके मनमें जाग्रत नहीं होती—भगवत्-सेवामें जो एक अपूर्व आनन्द है, उस आनन्दकी बात भी उनके मनमें नहीं उठती, केवल भगवत्-सेवाकी उत्कण्ठामें ही वे विभोर हुए रहते हैं। इस उत्कण्ठामें विभोर होनेका हेतु यही है कि जीव नित्य कृष्ण-दास होनेके कारण भगवत्-सेवा उसका स्वरूपानुबन्धी कर्त्तव्य है। किंतु जो अपने स्वरूपकी बात—अपने स्वरूपानुबन्धी कर्त्तव्यकी बात भूल जाते हैं, भगवत्-सेवाके आनन्दकी बात उनके मनमें नहीं आती—आती है केवल मात्र आत्मेन्द्रिय तृप्तिकी बात—अपनी देहकी, अपनी इन्द्रिय आदिकी तृप्तिकी बात। इन्द्रिय आदिके सुखकी बात सोचते-सोचते जीव इन्द्रिय आदिके सुखको ही अपना सुख मानने लगता है—अतएव अपनी देहको 'मैं' मानने लगता है, इन्द्रिय

आदिको अपनी इन्द्रिय मानने लगता है। इस प्रकार देह-इन्द्रिय आदिमें उसकी अहं-ममत्व आदि बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। आत्मसुखकी वासनासे ही इस प्रकार होता है। भगवत्-सुखकी वासना ही जीवका स्वरूपानुबन्धी कर्त्तव्य होनेके कारण, एवं भगवत्-सुखवासना और आत्म-सुखवासना परस्परमें विरुद्ध होनेके कारण आत्म-सुखवासना जीवके स्वरूपके विपरीत वासना है—अतः इस आत्म-सुखवासनासे ही जीवके स्वरूपके विपर्ययका परिचय मिलता है। स्वरूपकी विस्मृतिसे यह उत्पन्न होता है, इसीलिये कहा गया है **ततः**-अस्मृतिसे, स्वरूपकी विस्मृतिसे **विपर्ययः**—विपरीत बुद्धि, स्वरूपानुबन्धिनी बुद्धिकी विपरीत बुद्धि उत्पन्न होती है एवं उससे ही देह-दैहिक वस्तुमें अहं-ममत्व आदि ज्ञान उत्पन्न होता है। विपर्यय किसको कहते हैं—यह महामति अक्रूरके वाक्यमें विशेष रूपसे परिस्फुट हुआ है। उन्होंने कहा है—मेरी मतिका विपर्यय हो गया है, क्योंकि, मैं अनित्य कर्मफलको नित्य मानता हूँ, अनात्म देहमें आत्मबुद्धि करता हूँ (देह ही मैं हूँ—इस प्रकार मानता हूँ), दुःखरूप गृह आदिमें सुख मानता हूँ, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वमें ही आराम मानता हूँ, मैं तमोगुणमें पूर्णरूपसे डूब गया हूँ, इसीसे अपनी परम प्रेमास्पद वस्तु श्रीकृष्णको जान नहीं पाता हूँ।

अनित्यानात्मदुःखेषु विपर्ययमतिर्ह्यहम् ।
द्वन्द्वारामस्तमोविष्टो न जानेत्वाऽऽत्मनः प्रियम्॥ (श्रीम०भा० १०।४०।२५)

अस्तु, पहले ही यह कहा जा चुका है कि जीवके आनन्दानुसन्धानकी धाराएँ दो हैं; इन दो धाराओंकी अनुकूल वस्तुएँ भी दो हैं—श्रीकृष्ण—श्रीकृष्णकी इन्द्रिय आदि और जीवकी अपनी देह और अपनी इन्द्रिय आदि। अपने स्वरूपकी बात भूल जानेपर प्रथम वस्तु श्रीकृष्णकी बात भी जीव भूल जाता है, तब मनमें रहती है केवल अपने सुखकी बात एवं उसके अनुकूल द्वितीय वस्तुकी बात—देह-इन्द्रिय आदिकी बात। अपने सुखकी चिन्ता करते-करते देह-इन्द्रिय आदिमें ही जीवका अभिनिवेश उत्पन्न होता है—स्वरूपकी विपरीत-बुद्धिका ही यह अवश्यम्भावी फल है। इसीलिये यह कहा गया है कि ततः—उस विपरीत बुद्धिसे देह आदिमें अहं-ममत्व आदि बुद्धिसे द्वितीय वस्तु देह-इन्द्रिय आदिमें जो अभिनिवेश उत्पन्न होता है, उस **द्वितीयाभिनिवेशतः**—द्वितीय वस्तुमें अभिनिवेश

होनेके कारण **भयं स्यात्**—जीवको भय, संसार-भय, त्रिताप ज्वाला उत्पन्न होते हैं। इससे यह देखा गया कि संसार-भयका, त्रिताप ज्वालाका मूल कारण है जीवके लिये स्वरूपकी विस्मृति—श्रीकृष्ण विस्मृति। इसीलिये यह कहा गया है—

'कृष्ण' भूलि सेइ जीव—अनादि बहिर्मुख।
अतएव माया तारे देय संसार-दुःख॥ (चै०च०म० २०।१०४)

कृष्णको भूलकर जीव माया कवलित हुआ है, इसीसे वह संसार-दुःख भोग करता है। किंतु मायाके हाथसे उद्धार पानेका उपाय क्या है? गीताके ७।१४ श्लोकसे पता लगता है कि भगवान्‌के शरणापन्न हुए विना मायाके कवलसे कोई भी छुटकारा नहीं पा सकता; शरणापन्न होनेकी योग्यता प्राप्त करनेके लिये एकान्तिक भावसे भजन करना आवश्यक है। इसीलिये यह कहा गया है **अतः**—कृष्ण-विस्मृतिसे ही संसार दुःख उत्पन्न होते हैं इसलिये **बुद्धः**—पण्डित लोग **गुरु-देवात्मा सन्**—श्रीगुरुदेवको देवता और परम-आत्मीय (प्रेष्ठ) मानकर **एकया भक्त्या**—अव्यभिचारिणी भक्तिके सहित, अन्य-अभिलाषा-शून्या भक्तिके सहित, कृष्णसुखैकतात्पर्यमयी भक्तिके सहित **ईशं**—भगवान्‌को **आभजेत्**—आ-सम्यक्-रूपसे **भजेत्**—भजन करे।

पूर्व पयारके प्रथमार्द्धके प्रमाणमें यह श्लोक है।

तथाहि श्रीमद्भगवद्गीतायाम् (७।१४)—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥४५॥

संस्कृतटीका—के तर्हि त्वां जानन्तीत्यत आह दैवति। दैवी अलौकिकी अत्यद्भुतेत्यर्थः गुणमयी सत्वादिगुणविकारात्मिका मम परमेश्वरस्य शक्तिर्माया दुरत्यया दुस्तरा हि प्रसिद्धमेतत् तथापि मामेवेत्येवकारेण अव्यभिचारिण्या भक्त्या ये प्रपद्यन्ते भजन्ति मायामेतां सुदुस्तरामपि ते तरन्ति ततो मां जानन्तीति भावः। स्वामी।

अन्वय—मम (मेरी) एषा (यह) दैवी (अलौकिकी, अत्यद्भुता) गुणमयी (सत्वादि गुण विकारात्मिका) माया (माया) दुरत्यया (दुरतिक्रमणीया) हि

(निश्चित है), **ये** (जो लोग) **माम्** (मेरेमें) **एव** (ही) **प्रपद्यन्ते** (शरणापन्न होते हैं) **ते** (वे लोग) **एतां** (इस) **मायां** (मायाको) **तरन्ति** (अतिक्रमण कर सकते हैं)।

अनुवाद—भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं—मेरी यह अलौकिकी और अत्यद्भुता गुणात्मिका (गुणमयी) माया दुरतिक्रमणीया है। जो मेरा आश्रय ग्रहण करते हैं, केवल वे ही इस सुदुस्तरा मायासे उद्धार पा सकते हैं।

श्रीकृष्ण कहते हैं—मेरी यह **गुणमयी**—सत्व आदि गुण-विकारमयी माया, **दैवी**—अलौकिकी, देवशक्तिसम्पन्ना है। जड़ मायाकी जो वृत्ति जीवके स्वरूपको भुलाकर उसको अनित्य संसार-सुखमें मुग्ध करके रखती है, उसको जीवमाया कहा जाता है। इस श्लोकमें 'दैवीमाया' शब्दसे जीवमायाकी ओर ही संकेत किया गया है। यह जीवमाया जड़-शक्ति होनेके कारण किसी चैतन्यमयी शक्तिद्वारा प्रवर्त्तित न होनेपर क्रियाशीला नहीं हो सकती; श्रीकृष्णकी चैतन्यमयी शक्तिद्वारा प्रवर्तित होकर जीवमाया अनादि-बहिर्मुख जीवको संसारका भोग कराती है। यह माया श्रीकृष्णकी बहिरङ्गा शक्ति है, किंतु बहिरङ्गा होनेपर भी है तो शक्ति ही; बहिरङ्गा होनेके कारण श्रीकृष्णके निकट अथवा श्रीकृष्णके किसी भी अप्राकृत धाममें भी नहीं जा सकती—यह सत्य है, तथापि श्रीकृष्णकी वह आश्रिता है एवं श्रीकृष्णकी आश्रिता होनेके कारण आश्रयरूप श्रीकृष्णकी शक्तिसे शक्तिमती है, एवं इस शक्तिसे शक्तिमती होनेके कारण ही उसकी शक्ति अलौकिकी है, इसीसे मायाको दैवी कहा गया है। यह ठीक है कि जीव भी श्रीकृष्ण की शक्ति—तटस्था शक्ति है। बहिरङ्गा मायाशक्ति श्रीकृष्णके या श्रीकृष्णके किसी भी धामके निकट नहीं जा सकती, किंतु जीवशक्ति तटस्था होनेके कारण श्रीकृष्णके निकट भी जा सकती है। जो जीव अपने स्वरूपकी बातका स्मरण करके श्रीकृष्ण-सेवामें संलग्न हैं, वे श्रीकृष्णके निकट श्रीकृष्णके ही साक्षात् आश्रयमें अवस्थित हैं, बहिरङ्गा मायाशक्ति श्रीकृष्णसेवामें लगे हुए उन जीवोंके निकट भी नहीं जा सकती। किंतु जो जीव अपने स्वरूपको भूलकर, स्वरूपानुबन्धी कर्त्तव्य श्रीकृष्णसेवाकी बातको भूलकर श्रीकृष्णके सान्निध्य और श्रीकृष्णके साक्षात् आश्रयको त्यागकर बाहरकी ओर चले आये हैं, और अपने आपको मायाके फन्देमें डाल दिये हैं, उनको मायाने अष्टभुजाकी तरह जकड़ डाला है। मायाकी

शक्ति उनकी शक्तिकी अपेक्षा बहुत अधिक है, कारण, मायादेवी—आश्रयरूप श्रीकृष्णकी शक्तिसे शक्तिमती है। किंतु जीवने उस आश्रयको त्याग दिया है, इस कारणसे शक्तिहीन है। इस प्रकारकी अवस्थामें मायाबद्ध जीवके लिये दैवी माया दुरत्यया—दुलंघनीया है। जीव अपनी शक्तिसे किसी प्रकार भी मायाके फन्देसे अपने आपको मुक्त नहीं कर सकता। किंतु वही जीव यदि फिर श्रीकृष्णका आश्रय ग्रहण कर लेता है, श्रीकृष्णके शरणापन्न हो जाता है, तब माया स्वयं ही उसको छोड़ देगी, कारण, ज्यों ही जीव सर्वभावसे श्रीकृष्णके शरणापन्न होता है, तभी श्रीकृष्ण उसको आश्रय देकर अङ्गीकार कर लेते हैं। श्रीकृष्ण जिसको अङ्गीकार कर लेते हैं, बहिरङ्गा मायाशक्तिका उसके ऊपर कोई भी अधिकार नहीं रह सकता। अथवा माया हुई श्रीकृष्णकी शक्ति, श्रीकृष्ण इच्छा करते ही अपनी मायाशक्तिको दूर कर सकते हैं, नहीं तो, जीव अपनी शक्तिसे किसी प्रकार भी ईश्वरकी शक्ति मायाको दूर नहीं कर सकता। जो जीव श्रीकृष्णके शरणापन्न होता है, कृष्ण कृपा करके उसको मायामुक्त कर देते हैं।

'कृष्ण तोमार हङ्' यदि बले एक बार। मायाबन्ध हइते कृष्ण तारे करेन पार ॥
(चै० च० म० २२।२२)

इसीसे श्रीकृष्णने कहा है: "**ये**—जो लोग **मामेव प्रपद्यन्ते**- मेरे ही शरणापन्न होंगे, मेरी कृपासे **ते**—वे लोग **एतां मायां तरन्ति**—इस दैवी मायाके कवलसे उद्धार पा सकते हैं।" जो लोग श्रीकृष्णके शरणापन्न नहीं होंगे, वे लोग मायाके जालसे उद्धार नहीं पा सकेंगे। यही 'एव' शब्दका तात्पर्य है।

श्रीकृष्णके शरणापन्न होनेकी योग्यताके लिये भजनकी आवश्यकता है। इसीसे पूर्ववर्ती श्लोकके अन्तिम चरणमें अव्यभिचारिणी भक्तिके साथ भजनकी बात कहकर इस श्लोकमें भजनकी आवश्यकताकी बात कही है। कृष्णभजनके प्रभावसे श्रीकृष्णके शरणापन्न हो सकनेपर ही त्रिताप-ज्वाला—संसार-दुःख दूर होंगे, यही तात्पर्य है।

पूर्व पयारके उत्तरार्द्धके प्रमाणमें यह श्लोक है।

भक्ति बिनु मुक्ति नाहि, भक्त्ये से मुक्ति हय ।९५।

मिलती न भक्तिके बिना मुक्ति, बस, एक भक्तिसे मुक्ति-मिलन ॥

भक्तिके बिना मुक्ति नहीं मिल सकती। भक्ति करनेसे मुक्ति भी हो जाती है। ज्ञान, योग आदि किसीकी भी भक्ति अपेक्षा नहीं रखती। भक्ति स्वतन्त्र रूपसे अपना फल तो दे ही सकती है, इससे अधिक ज्ञान योग, आदिका फल भी दे सकती है।

ज्ञानमार्गके साधक यदि भक्तिके अङ्गोंका अनुष्ठान न करें तब वे अपना लक्ष्य सायुज्य मुक्ति भी प्राप्त नहीं कर सकते।

यहाँपर प्रश्न हो सकता है कि ज्ञानमार्गके साधक तो निर्विशेष ब्रह्म-सायुज्यकी ही कामना करते हैं, वे भगवत्सेवाकी कामना तो करते नहीं, अतः भक्ति-अङ्गोंका अनुष्ठान करना उनके लिये अति आवश्यक क्यों है? जो लोग सेवा प्रार्थना करते हैं उनके लिये ही भक्तिका प्रयोजन हो सकता है। इसका उत्तर यही है—शास्त्रके मतसे भगवत्-कृपाके बिना जीव माया-बन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता, भगवान्‌के किसी भी स्वरूपकी प्राप्ति भी नहीं कर सकता।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते। (गीता ७।१४)

यह गीताकी उक्ति है। **नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन, यमेवैष वृणुते तेन लभ्यतस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वामिति** (कठ० १।२।२।३)—ये श्रुति वचन हैं। **नित्यव्यक्तोऽपि भगवानीक्षते निजशक्तितः**—ये नारायणाध्यात्मवचन आदि इसके प्रमाण हैं। किंतु परतत्त्वके जिस स्वरूपमें कृपालुता नहीं है, भक्तवत्सलता नहीं है, उस स्वरूपकी उपासनासे साधक उनकी कृपा प्राप्त नहीं कर सकता। अतएव केवल मात्र उस स्वरूपकी उपासनासे साधक मायाबन्धनसे मुक्त हो ही नहीं सकता, परब्रह्मके किसी भी स्वरूपकी उपलब्धि भी नहीं कर सकता। ज्ञानमार्गके साधकके उपास्य हुए अव्यक्तशक्तिक, निर्गुण, निराकार ब्रह्म या निर्विशेष ब्रह्म। निर्गुण होनेके कारण इस स्वरूपमें कृपालुता और भक्तवत्सलता आदि गुण नहीं हैं। अव्यक्तशक्तिक

होनेके कारण उनमें कृपाशक्तिकी अभिव्यक्ति नहीं है। अतएव इस निर्विशेष-स्वरूपसे कोई भी कृपा पानेकी आशा नहीं कर सकता। तथापि मुक्ति पानेके लिये परब्रह्मकी कृपाका प्रयोजन है। यह कृपा पानेके लिये ही ज्ञानमार्गके साधकोंको भक्तिका अनुष्ठान करना पड़ता है। किंतु वे भक्ति करें किसकी? अपने उपास्य निर्विशेष-स्वरूपके प्रति भक्ति-प्रयोग हो सकती नहीं; कारण, भक्ति शब्दसे मुख्यतः सेवा समझी जाती है (भज् धातु सेवायाम्); निर्विशेष-स्वरूपकी सेवा हो सकती नहीं; कारण, वे निर्गुण, निशक्तिक, निराकार होनेके कारण सेवा ग्रहणका प्रयोजन और योग्यता उनको नहीं है। तब वे भक्ति करें किसकी? सविशेष-स्वरूप—सगुण और सशक्तिक स्वरूपके अतिरिक्त अन्य स्वरूपकी सेवा हो नहीं सकती। अतएव ज्ञानमार्गके साधकगणके काम्य ब्रह्मसायुज्य प्राप्तिके लिये उनको किसी भी सविशेष स्वरूपके प्रति भक्ति प्रयोग करनी होगी। इस सम्बन्धमें भक्तिशास्त्रका कहना है कि यदि निर्विशेष-ब्रह्मसायुज्य-कामीगण ब्रह्मका सविशेष-स्वरूप—साकार-स्वरूप स्वीकार करते हैं, साकार-स्वरूपका सच्चिदानन्दमय-विग्रहत्व स्वीकार करते हैं,—स्वीकार करके उस सच्चिदानन्दमय विग्रह स्वरूपमें भक्तिका प्रयोग करके उनके चरणोंमें मायासे उद्धारकी एवं निर्विशेष ब्रह्मके साथ सायुज्यकी प्रार्थना करते हैं, तब

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। (गीता ४।११)

गीतोक्त इस प्रतिश्रुतिके अनुसार वे उनकी प्रार्थनीय वस्तु उनको अवश्य ही देंगे। यह सिद्धान्त प्रकट करनेके लिये ही श्रीमद्भगवद्गीताके १८।५५ की टीकामें विश्वनाथ चक्रवर्तीपादने लिखा है— **ये तु भक्तिमिश्रं ज्ञानमभ्यसन्तो भगवन्मूर्तिं सच्चिदानन्दमयीमेव मन्यमानाः क्रमेणाविद्याविद्ययोरूपरमे परां भक्तिं लभन्ते, ते जीवन्मुक्ताः द्विविधाः—एके सायुज्यार्थं भक्तिं कुर्वन्तस्तयैव तत्पदार्थमपरोक्षीकृत्य तस्मिन् सायुज्यं लभन्ते,** इत्यादि। और यदि वे परब्रह्मके सच्चिदानन्दमय विग्रहको स्वीकार न करें, अतः उनके प्रति भक्ति प्रयोग न करें, तो उनका सायुज्य मुक्तिका साधन तण्डुलशून्य तुषराशिको प्रहार करनेके सदृश वृथा श्रम मात्रमें पर्यवसित होगा। वे सायुज्य मुक्ति ही नहीं पायेंगे—केवल इतना ही नहीं, भगवद्विग्रहको सच्चिदानन्दमय स्वीकार न करनेसे जो

अपराध हुआ उसके परिणामस्वरूप उनको जीवन्मुक्त-अवस्थासे भी पतित होना होगा एवं फिर संसार-जालमें फंसना होगा।

जीवन्मुक्ता अपि पुनर्यान्ति संसार-वासनाम्।
यद्यचिन्त्यमहाशक्त्यौ भगवत्यपराधिनः॥

वासनाभष्यधृत यह परिशिष्ट वचन ही उसका प्रमाण है।

अतएव ब्रह्मसायुज्य प्राप्तिके लिये ज्ञानमार्गके साधकोंको भी भगवान्‌के सविशेष स्वरूपके उद्देश्यसे उनकी कृपा प्राप्तिके लिये भक्तिका अनुष्ठान करना होगा।

जो श्रीकृष्णके प्रति उन्मुख होते हैं, अर्थात् जो कृष्णकी भक्ति करते हैं, उनके लिये यही मुक्ति ज्ञानमार्गकी सहायताके बिना भी प्राप्त हो जाती है। इसके द्वारा भक्तिकी अन्यनिरपेक्षता और स्वतन्त्रता सूचित हुई। इस पयारार्द्धमें मुक्ति-शब्दसे मायाबन्धनसे अव्याहति—छुटकारा ही बताया है। ब्रह्मसायुज्य-कामीकी ब्रह्मसायुज्य-कामनाका मूल भी मायाबन्धनसे मुक्ति कामना है। उनके मतसे ब्रह्मसायुज्य प्राप्ति होनेसे ही मायाबन्धनसे छुटकारा हो सकता है, अन्य किसी भी प्रकारसे नहीं अथवा मायाबन्धनसे मुक्त होते ही उनके मतके अनुसार साधक ब्रह्मसायुज्य प्राप्त कर लेता है। अतएव उनके मतसे 'मायाबन्धनसे मुक्ति' और 'ब्रह्मसायुज्य प्राप्ति' प्रायः एक ही वस्तु है। जो लोग भक्तिमार्गसे श्रीकृष्णकी उपासना करते हैं, वे सायुज्य-मुक्ति नहीं चाहते, मायाबन्धनसे भी मुक्ति नहीं चाहते, चाहते हैं केवल श्रीकृष्णसेवा। मायाबन्धनसे मुक्ति न चाहनेपर भी यह मुक्ति उनके कृष्ण-सेवा-प्राप्तिके आनुसङ्गिक फलरूपमें अपने आप ही आ जाती है। परम करुण श्रीकृष्ण अपने भक्तको सायुज्य-मुक्ति नहीं देते, कारण, इससे जीवके स्वरूपानुबन्धी सेव्य-सेवक भाव नष्ट हो जाता है।

नामकीर्त्तन भक्तिअङ्गोंमें श्रेष्ठ अङ्ग है। यदि सायुज्य-मुक्तिकी वासना हृदयमें रहे, तो ज्ञानमार्गके साधनका अनुष्ठान न करनेपर भी केवल नामकीर्त्तन करनेसे ही वह साधक सायुज्य-मुक्ति पा सकता है, वराहपुराणमें उसका प्रमाण मिलता है।

"नारायणाच्युतानन्त वासुदेवेति यो नरः।
सततं कीर्तयेद्‌ भूमि याति मल्लयतां स हि॥

जो सर्वदा नारायण, अच्युत, वासुदेव इत्यादि नामकीर्त्तन करते हैं, भगवान् कहते हैं, वे 'मुझमें लय प्राप्त होते हैं'—अर्थात् सायुज्य-मुक्ति पा जाते हैं। इसका कारण, नामकीर्त्तनके (तथा भक्ति अङ्गके) अनुष्ठानसे चित्तमें शुद्धसत्वका आविर्भाव होता है, वही शुद्धसत्व ही साधकको अभीष्ट वस्तु दान करनेमें समर्थ है।

भक्ति परम-स्वतन्त्र और परम-अद्भुत-अचिन्त्य-शक्ति-सम्पन्न होनेके कारण ही स्वयं ही सब साधनोंका फल देनेमें समर्थ है। 'भक्तिरेव भूयसी'। श्रुति।

तथाहि श्रीमद्भागवते (१०।१४।४)—

श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥४६॥

संस्कृतटीका—भक्तिं विना ज्ञानन्तु न सिध्येदित्याह श्रेयः सृतिमिति। श्रेयसां अभ्युदयापवर्गलक्षणानां सृतिः शरणं यस्याः सरस इव निर्झराणाम्, तां ते तव भक्तिमुदस्य त्यक्त्वा श्रेयसां मार्गभूतानामिति वा तेषां क्लेशल एव क्लेश एवावशिष्यते। अयं भावः—यथा अल्पप्रमाणं धान्यं परित्यज्य अन्तःकणहीनान् स्थूलधान्याभासां स्तुषान् ये अपघ्नन्ति तेषां न किञ्चित् फलं एवं भक्तिं तुच्छीकृत्य ये केवलबोधलाभाय प्रयतन्ते तेषामपीति। स्वामी।

अन्वय—विभो (हे व्यापक प्रभो)। श्रेयः सृतिं (मङ्गलप्राप्तिके उपाय-स्वरूप) ते (तुममें) भक्तिं (भक्तिका) उदस्य (परित्याग करके) ये (जो लोग) केवल-बोधलब्धये (केवल ज्ञानप्राप्तिके निमित्त) क्लिश्यन्ति (परिश्रम करते हैं) स्थूलतुषावघातिनां (अन्तःसार शून्य स्थूल तुषको पीटनेवालोंकी) यथा (तरह) तेषां (उनके लिये) क्लेशलः (क्लेश—श्रम) एव (ही) शिष्यते (अवशिष्ट रहता है) अन्यत् (अन्य कुछ—क्लेशके अतिरिक्त और कुछ) न (अवशिष्ट नहीं रहता)।

अनुवाद—ब्रह्माने श्रीकृष्णके प्रति कहा—हे विभो! मङ्गलके हेतुभूत

तुम्हारेमें भक्तिका त्याग करके जो केवल ज्ञानप्राप्तिके लिये (शास्त्रके अभ्यास आदिका या साधनका) क्लेश स्वीकार करते हैं, अन्तःसारहीन स्थूल तुषको पीटनेवाले व्यक्तिकी तरह उनका यह क्लेश मात्र ही अवशिष्ट रहता है, और कोई भी लाभ उनको नहीं होता।

श्रेयःसृतिं—श्रेयका (मङ्गलका) सृति (मार्ग, रास्ता, उपाय)-स्वरूप ; सर्वविध मङ्गल-प्राप्तिके उपाय-स्वरूप ये **भक्तिं**—श्रीकृष्णभक्ति—जिस भक्तिमार्गके अनुष्ठानसे जीवका सर्वविध मङ्गल हो सके, उसको **उदस्य**—परित्याग करके, भक्ति-मार्गका अनुष्ठान न करके जो लोग **केवल-बोधलब्धये**—केवल ज्ञान प्राप्तिके निमित्त, जीव-ब्रह्मका ऐक्यज्ञान प्राप्त करनेके निमित्त **क्लिश्यन्ति**—क्लेश करते हैं, क्लेशकारी साधनके निमित्त परिश्रम करते हैं, कठोर साधनका कष्ट स्वीकार करते हैं, उनके लिये **क्लेशलः एव**—क्लेश ही, केवलमात्र साधनका क्लेश ही **शिष्यते**—अवशिष्ट रहता है। उनके भाग्यमें साधनका फल भी केवल साधनका क्लेश ही प्राप्य रहता है, और कुछ भी नहीं ; **स्थूलतुषाघातिनां यथा**—स्थूल तुषको पीटनेवालेकी तरह ; जिस धानमें चावल नहीं है, वैसे चिटाधानके या तुषके ऊपर चावल निकालनेके लिये—जो लोग आघात करते हैं, वे सारे दिन परिश्रम करनेपर भी जैसे एक भी चावल उसमें-से नहीं निकाल सकते—उनकी सब चेष्टा जिस प्रकार कोरे परिश्रम एवं कष्टमें पर्यवसित होती है, उसी प्रकार भक्तिके संस्रवहीन साधनके द्वारा जीव-ब्रह्मके ऐक्य उपलब्धिकी चेष्टा करते हैं, उनके भाग्यमें केवल साधनका कष्ट ही जुटता है, जीव-ब्रह्मका ऐक्य-ज्ञान उनके लिये दुर्लभ है, कारण भक्तिकी कृपा बिना ज्ञानमार्गके साधनका फल मुक्ति भी नहीं मिलता।

तथाहि तत्रैव (१०।२।३२)—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन-
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥४७॥

संस्कृतटीका—ननु विवेकिनां किं मद्भजनेन मुक्ता एव हि ते तत्राहुः येऽन्य इति। विमुक्तमानिनः विमुक्ता वयम् इति मन्यमानाः। त्वयि अस्तो निरस्तोऽत एवासन् यो भावतस्मात् भक्तेरभावादित्यर्थः। न विशुद्धा बुद्धिर्येषां ते तथा। यद्वा त्वयि अस्तभाः इति च्छेदः अस्तमतयो वादेष्वेव विशुद्धबुद्धयः। कृच्छ्रेण बहुजन्मतपसा परं पदं मोक्ष सन्निहितं सत्कुल-तपःश्रुतादि आरुह्य पतन्ति विघ्नैः अभिभूयन्ते। न आदृतो युष्मदङ्घ्री यैस्ते। स्वामी।

अन्वय—**अरविन्दाक्ष** (हे पद्मपलाशनयन)! **त्वयि** (तुममें) **अस्तभावात्** (भक्तिहीनताके कारण) **अविशुद्धबुद्धयः** (अविशुद्ध बुद्धि) **अन्ये** (अन्य) **ये** (जो लोग) **विमुक्तमानिनः** (अपनेको विमुक्त मानते हैं, ऐसे व्यक्ति) **कृच्छ्रेण** (अति कष्टसे—अनेक जन्मोंकी तपस्याके प्रभावसे) **परं पदं** (परम पद—मोक्ष सन्निहित सत्कुलमें जन्म आदि) **आरुह्य** (आरोहण करके—प्राप्त करके) **अनादृत-युष्मदङ्घ्रयः** (तुम्हारे चरणोंमें अनादर करनेसे) **ततः** (उस स्थानसे—उस मोक्षसन्निहित अवस्थासे) **अधः पतन्ति** (अधःपतित होते हैं)।

अनुवाद—श्रीकृष्णको लक्ष्य करके देवगणने कहा—हे कमललोचन ! जो तुम्हारे प्रति विमुख हैं, तुममें भक्तिके अभावके कारण उनकी बुद्धि अविशुद्ध रहती है, अतएव वास्तवमें विमुक्त न होनेपर भी वे लोग अपने आपको विमुक्त मानते हैं। वे अति कष्टसे विषय-सुखका परित्याग करके कठोर तपस्यादि द्वारा मोक्षसन्निहित सत्कुल आदि प्राप्त करके भी तुम्हारे चरणोंमें अनादरके कारण उन सत्कुलादिसे अधःपतित होते हैं।

अरविन्दाक्ष—अरविन्द (कमल, पद्म) के सदृश अक्षि (नयन, चक्षु) हैं जिनके ; कमललोचन श्रीकृष्ण ! **अस्तभावात्**—अस्त (निरस्त) हुए हैं जो भाव (भक्ति), उसके कारण ; भक्तिके अभावके कारण ; श्रीभगवान्में भक्ति नहीं है इसलिये। **अविशुद्धबुद्धयः**—जो विशुद्ध न हो, वह अविशुद्ध, मलिन। अविशुद्ध (मलिन) हुई है बुद्धि जिनकी, वे अविशुद्ध-बुद्धि, मलिन-मति। भगवान्में निर्गुण भक्तिके बिना बुद्धि विशुद्ध नहीं हो सकती। **विमुक्तमानिनः**—विमुक्त (जीवन्मुक्त) अपने आपको मानते हैं जो ; वस्तुतः जीवन्मुक्त न होनेपर भी जो

यह मानते हैं कि हम जीवन्मुक्त हो चुके, ऐसे लोग। बुद्धि शुद्ध नहीं होनेके कारण, वस्तुतः वे जीवन्मुक्त नहीं हैं इस बातको वे समझ नहीं सकते। जो हो, ऐसे जीवन्मुक्ताभिमानी व्यक्तिगण **कृच्छ्रेण**—अति कष्टसे, विषय-सुख आदिका परित्याग करके अनेक जन्मोंके कष्टसाध्य तपस्या आदि करके **परं पदं आरुह्य**—मोक्षसन्निहित—सत्कुलजन्म आदि श्रेष्ठ पद प्राप्त करके भी **नादृशयुष्मदङ्घ्रयः**—तुम्हारे चरणोंके अनादरके कारण, तुमको मायिक विग्रह मानकर तुम्हारी अवज्ञा करनेके फलसे अधःपतन्ति—अधःपतित होते हैं।

तथाहि तत्रैव (११।५।२)—

मुखबाहुरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक्॥४८॥

संस्कृतटीका—स्वजनकस्य गुरोर्भगवतोऽनादरात् गुरुद्रोहेण दुर्गतिं यास्तीति वक्तुं भगवतः सकाशात् वर्णाश्रमाणां उत्पत्तिमाह मुखेति। गुणैः सत्वेन विप्रः सत्वरजोभ्यां क्षत्रियः रजस्तमोभ्यां वैश्यः तमसा शूद्र इति। स्वामी।

अन्वय—**गुणैः** (गुणद्वारा) **पृथक्** (पृथक्) **विप्रादयः** (ब्राह्मणादि--ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये सब) **चत्वारः** (चार) **वर्णाः** (वर्ण) **पुरुषस्य** (भगवान्के) **मुखबाहुरुपादेभ्यः** (यथाक्रमसे मुख, बाहु, ऊरु एवं पादसे) **आश्रमैः** (आश्रम—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास—इन चार आश्रमोंके) **सह** (सहित) **जज्ञिरे** (जन्मे हैं)।

अनुवाद—भगवान्के मुख, बाहु, ऊरु (जंघा) और चरणसे सत्वादि गुणोंके तारतम्यसे पृथक्-पृथक् चार वर्णोंकी—चार आश्रमों सहित—उत्पत्ति हुई है।

इस श्लोकमें श्रीभगवान्से वर्ण और आश्रमकी उत्पत्तिकी बात कही गयी है। भगवान्के मुखसे ब्राह्मण, बाहुसे क्षत्रिय, ऊरु (जंघा) से वैश्य एवं चरणोंसे शूद्रकी उत्पत्ति है तथा जघन (नितम्ब) से गृहस्थाश्रम, हृदयसे ब्रह्मचर्य, वक्षःस्थलसे वानप्रस्थकी उत्पत्ति है और संन्यास आश्रम उनके मस्तकमें स्थित है।

गृहस्थाश्रमो जघनतो ब्रह्मचर्यं हृदो मम।
वक्षःस्थलाद् वने वासो न्यासः शीर्षणि च स्थितः॥

(श्रीम०भा० ११।१७।१४)

मोटामोटि बात यह है कि चारों वर्णोंमें गुणकर्मसे ब्राह्मण ही श्रेष्ठ होनेके कारण शरीरके श्रेष्ठ अङ्ग मुखसे ब्राह्मणकी, क्षत्रियोंके युद्ध आदि कार्य बाहुका काम होनेके कारण बाहुसे क्षत्रियकी, वैश्यको व्यवसाय-वाणिज्य और कृषि-कार्य आदिके उद्देश्यसे नाना स्थानोंमें यातायात आदिका प्रयोजन रहता है और यह यातायात प्रधानतः ऊरुका काम होनेके कारण ऊरुसे वैश्योंकी और चरण ही शरीरका सबसे नीचा अङ्ग होनेसे चरणसे चारों वर्णोंमें निकृष्ट शूद्रकी उत्पत्तिकी कल्पना की गयी है। ऋग्वेदसे भी यही प्रतीत होता है कि पुरुषके मुख सदृश ब्राह्मण, बाहु सदृश क्षत्रिय, ऊरु सदृश वैश्य एवं चरण सदृश शूद्र हैं। वस्तुतः गुण-कर्मके अनुसार ही चार वर्णोंका विभाग किया गया है। जो सत्वगुण-प्रधान हैं वे ब्राह्मण, जो सत्व-रज-प्रधान हैं वे क्षत्रिय, जो रज-तम-प्रधान हैं वे वैश्य एवं जो तम-प्रधान हैं वे शूद्र श्रेणीमें रक्खे गये हैं। प्राचीनकालमें जन्मके द्वारा वर्ण-विभाग नहीं होता था, गुण कर्मके द्वारा होता था। श्रीमद्भागवतके सप्तम स्कन्धके एकादश अध्यायसे भी यही जाना जाता है। ऐसा एक समय था, जब ब्राह्मण सन्तान भी ब्राह्मणोचित गुणके अधिकारी न होनेपर शूद्र श्रेणीभुक्त होते थे, और शूद्रसन्तान भी ब्राह्मणोचित गुणसे भूषित होनेपर ब्राह्मणश्रेणीभुक्त होते थे। एक ही पिताके चार पुत्र चार वर्णोंमें अन्तर्भुक्त हुए थे—इसका प्रमाण भी शास्त्रमें मिलता है।

ब्रह्मचर्य आदि आश्रमके विभाग भी गुण-कर्मके अनुसार ही हुए हैं एवं गुणकर्मके अनुसार आश्रमोंके उत्कर्ष आदिके प्रति लक्ष्य रखकर ही पुरुष (भगवान्) के विभिन्न अङ्गोंसे उनकी उत्पत्तिकी कल्पना की गयी है—अथवा पुरुष (भगवान्) के विभिन्न अङ्गोंके साथ उनकी तुलना की गयी है।

भक्त्ये मुक्ति पाइलेहो अवश्य कृष्णेरे भजय।

पा मुक्ति भक्तिके द्वारा जन करता अवश्य श्रीकृष्ण-भजन ॥९६॥

भक्तिकी कृपासे जो सायुज्य-मुक्ति पाते हैं, वे कृष्ण-गुणाकृष्ट हो भजनोपयोगी देह पाकर अवश्य ही श्रीकृष्णभजन करेंगे। पूर्ववर्ती ७८ और ९२ पयारकी टीका देखिये।

तथाहि भावार्थदीपिकायां (श्रीमद्भागवते १०।८७।२१)--
(नृसिंह तापनी २।५।१६१)--शङ्करभाष्ये।

मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते ॥४६॥

अन्वय अर्थ आदि इसी परिच्छेदके ३३वें श्लोकमें पृष्ठ १२४ पर देखिये।

पूर्व पयारके प्रमाणमें यह श्लोक है। एकमात्र भक्तिकी कृपासे ही जो माया मुक्त हैं उनके लिये मुक्तावस्थामें भी कृष्णगुणाकृष्ट होना सम्भव है। ९४ से ९६ पयार तक एवं ४४ से ४६ श्लोक तक यही दर्शाया है।

श्रीकृष्णको भजनेवाले छः प्रकारके आत्माराम

एइ छय आत्माराम कृष्णेरे भजय।
पृथक्-पृथक् चकार इहाँ अपि र अर्थ कय ॥९७॥

ये आत्माराम छहों करते श्रीकृष्ण-भजन हो गुणाकृष्ट।
है 'च' का यहाँपर साथ छहोंके पृथक्-पृथक् 'अपि' अर्थ इष्ट ॥

एइ छय आत्माराम—केवल ब्रह्मोपासकोंमें साधक-आत्माराम, ब्रह्ममय-आत्माराम, एवं प्राप्तब्रह्मलय-आत्माराम और मोक्षाकाङ्क्षीमें मुमुक्षु-आत्माराम, भक्तिद्वारा जीवन्मुक्त-आत्माराम, एवं प्राप्तस्वरूप-आत्माराम ; ये छः प्रकारके आत्माराम श्रीकृष्णको भजते हैं।

पृथक्-पृथक् चकार इत्यादि—'आत्माराम' शब्दके उक्त छः प्रकारके अर्थमें **'आत्मारामाश्च'** शब्दके अन्तर्गत **'च'** शब्दका अर्थ होगा—**'अपि'**=**'भी'** अथवा पर्यन्त ; **आत्मारामाश्च**—आत्मारामगण भी ; आत्मारामगणपर्यन्त (औरोंकी बात क्या कही जाय)। 'आत्माराम' शब्दके प्रत्येक अर्थके साथ इस अपि

अर्थवाचक 'च' शब्दका पृथक्-पृथक् योग करना होगा— साधक-आत्मारामाश्च, ब्रह्ममय-आत्मारामाश्च इत्यादि। अर्थ होगा इस प्रकारः—साधक-आत्मारामगण भी कृष्णगुणाकृष्ट होकर भजन करते हैं, ब्रह्ममय-आत्माराम भी भजन करते हैं, इत्यादि।

'आत्मारामाश्च अपि' करे कृष्णे अहैतुकी भक्ति
'मुनयः सन्तः' इति—कृष्णमनने आसक्ति।९८।

होकर भी आत्माराम, कृष्णके प्रति अहैतुकी भक्ति-युक्त।
मुनिगण हैं वे जो कृष्ण-मननमें होते हैं आसक्ति-युक्त॥

आत्माराम शब्दके उक्त छः अर्थोंके सङ्ग मेल रखते हुए श्लोकोक्त अन्यान्य शब्दोंके अर्थ किये जाते हैं।

आत्माराम अपि—आत्मारामगण भी ; आत्माराम होकर भी श्रीकृष्णमें अहैतुकी भक्ति करते हैं।

मुनयः सन्तः—मुनि (मननशील) होकर, कृष्ण-मननमें आसक्तियुक्त होकर।

'निर्ग्रन्थाः' अविद्याहीन—केहो विधिहीन।
जाहाँ जेइ युक्त—सेइ अर्थेर अधीन॥

'निर्ग्रन्थ'–अविद्याहीन या कि जो व्यक्ति शास्त्र-विधिसे विहीन।
दोनोंमें-से वह अर्थ वहाँपर ग्राह्य, जहाँ जो समीचीन॥९९॥

निर्ग्रन्थाः—पूर्वमें (पयार १३-१४ में) 'निर्ग्रन्थ' शब्दके अनेक अर्थ किये हैं उनमें-से उक्त छः प्रकारके आत्मारामके सम्बन्धमें मात्र दो अर्थ घटते हैं—अविद्या-ग्रन्थि-हीन और शास्त्र-विधि-हीन।

जाहाँ जेइ युक्त—जहाँ 'निर्ग्रन्थ' शब्दका जो अर्थ घटे वहाँ वही अर्थ प्रयोज्य है। साधक, ब्रह्ममय, प्राप्तब्रह्मलय, भक्तिके द्वारा जीवन्मुक्त एवं प्राप्तस्वरूप—इन पाँच प्रकारके आत्मारामके साथ 'निर्ग्रन्थ' शब्दका 'अविद्याग्रन्थिहीन' अर्थ युक्त

हो सकता है ; कारण, वे सभी मायातीत होनेसे अविद्याग्रन्थिहीन हैं। और संसारी-जीवरूप मुमुक्षु-आत्मारामके साथ 'निर्ग्रन्थ' शब्दका 'विधिहीन' अर्थ युक्त हो सकता है 'अविद्या-ग्रन्थि-हीन' अर्थ नहीं, क्योंकि संसारी जीवकी अविद्याग्रन्थि नष्ट नहीं हुई।

श्लोकोक्त 'अपि' शब्दका अर्थ यहाँपर 'भी' है। निर्ग्रन्था अपि—अविद्या-ग्रन्थि-हीन होकर भी ; अथवा विधिहीन होकर भी। 'अपि'का तात्पर्य यही है कि अविद्या-ग्रन्थि छेदनके निमित्त ही लोग साधारणतः भजनमें प्रवृत्त होते हैं ; किंतु उक्त पाँच प्रकारके आत्माराम अविद्या-ग्रन्थि शून्य होनेपर भी श्रीकृष्णभजन करते रहते हैं—श्रीकृष्णके गुण-माधुर्य ऐसे अद्भुत हैं कि उनका भजन किये बिना रहा नहीं जाता। और संसारी जीवरूप मुमुक्षु-आत्मारामके लिये 'अपि' शब्दका तात्पर्य यह है कि जो संसारबद्ध जीव हैं और इसलिये शास्त्र-विधिका आचरण नहीं करनेसे जिनके चित्तादि अशुद्ध हैं एवं इस कारणसे भुक्ति-मुक्ति आदिकी आशा त्यागकर श्रीकृष्णप्रीतिके उद्देश्यसे श्रीकृष्ण-सेवा करनेकी धारणाका भी जिनके चित्तमें स्थान पानेकी सम्भावना कम है—वे भी श्रीकृष्ण-गुणाकृष्ट होकर श्रीकृष्णभजन करते हैं, ऐसी परम आश्चर्यमय है उनकी गुण-राशि।

इस प्रकार 'आत्मा' शब्दका 'ब्रह्म' अर्थ पकड़कर ये छः प्रकारके आत्माराम हुए उनमें 'निर्ग्रन्थ' शब्दका यथायोग्य अर्थ योजनाद्वारा 'आत्माराम…' श्लोकके छः प्रकारके अर्थ पाये गये :—

(१) श्रीहरिकी ऐसी परमाश्चर्य गुण-महिमा है कि (इन गुणोंसे आकृष्ट होकर) जो लोग प्राप्तब्रह्मलय (आत्माराम) हैं, वे प्राप्तब्रह्मलय होकर भी एवं अविद्याग्रन्थिहीन (निर्ग्रन्थाः) होकर भी मननशील (श्रीकृष्ण-मननमें आसक्ति युक्त) होकर उरुक्रम-श्रीकृष्णमें कृष्णसुखैक-तात्पर्यमयी (अहैतुकी) भक्ति करते रहते हैं।

(२) श्रीहरिकी ऐसी परमाश्चर्य गुण-महिमा है कि (इन गुणोंसे आकृष्ट होकर) जो लोग ब्रह्ममय (आत्माराम) हैं, वे

ब्रह्ममय होकर भी एवं अविद्याग्रन्थिहीन (निर्ग्रन्थाः) होकर भी मननशील (श्रीकृष्ण-मननमें आसक्ति युक्त) होकर उरुक्रम-श्रीकृष्णमें कृष्णसुखैक-तात्पर्यमयी (अहैतुकी) भक्ति करते रहते हैं।

(३) श्रीहरिकी ऐसी परमाश्चर्य गुण-महिमा है कि (इन गुणोंसे आकृष्ट होकर) जो लोग (मुक्त) साधक (आत्माराम) हैं वे (मुक्त) साधक होकर भी एवं अविद्याग्रन्थिहीन (निर्ग्रन्थाः) होकर भी मननशील (श्रीकृष्ण-मननमें आसक्ति युक्त) होकर उरुक्रम-श्रीकृष्णमें कृष्णसुखैक-तात्पर्यमयी (अहैतुकी) भक्ति करते रहते हैं।

(४) श्रीहरिकी ऐसी परमाश्चर्य गुण-महिमा है कि (इन गुणोंसे आकृष्ट होकर) जो भक्तिके प्रभावसे जीवन्मुक्त (आत्माराम) हैं, वे जीवन्मुक्त होकर भी एवं अविद्याग्रन्थिहीन (निर्ग्रन्थाः) होकर भी मननशील (श्रीकृष्ण-मननमें आसक्ति युक्त होकर उरुक्रम-श्रीकृष्णमें कृष्णसुखैक-तात्पर्यमयी (अहैतुकी) भक्ति करते रहते हैं।

(५) श्रीहरिकी ऐसी परमाश्चर्य गुण-महिमा है कि (इन गुणोंसे आकृष्ट होकर) जो प्राप्तस्वरूप (आत्माराम) हैं, वे प्राप्तस्वरूप होकर भी एवं अविद्याग्रन्थिहीन (निर्ग्रन्थाः) होकर भी मननशील (श्रीकृष्ण-मननमें आसक्ति युक्त होकर उरुक्रम-श्रीकृष्णमें कृष्णसुखैक-तात्पर्यमयी (अहैतुकी) भक्ति करते रहते हैं।

(६) श्रीहरिकी ऐसी परमाश्चर्य गुण-महिमा है कि (इन गुणोंमें आकृष्ट होकर) जो संसारी अथ च मुमुक्षु (आत्माराम) हैं, वे मुमुक्षु संसारी होकर भी एवं शास्त्रविधिहीन होकर भी,

मननशील होकर उरुक्रम-श्रीकृष्णमें ; कृष्ण-सुखैक-तात्पर्यमयी (अहैतुकी) भक्ति करते रहते हैं ।

इतरेतर-समास-निष्पन्न 'आत्मारामाः' का अर्थ

'च' शब्दे करि यदि—'इतरेतर' अर्थ।
आर एक अर्थ कहे—परम समर्थ ॥१००॥

माना चकारसे जाय यहाँ यदि सूचित इतरेतर-समास ।
तो एक और भी अर्थ परम प्रामाणिकका होगा विकास ॥

छः प्रकारके अर्थ करके अब एक प्रकारका और अर्थ करते हैं । 'च' शब्दका 'इतरेतर' अर्थ पकड़कर यह अर्थ किया जा रहा है । यह 'च' श्लोकोक्त 'आत्मा-रामाश्च' पदका 'च' नहीं है । यह इतरेतर समासका व्यास वाक्यका 'च' है । परवर्ती पयार समूहकी व्याख्यासे यह समझमें आ जायगा ।

इतरेतर समास—एक ही विभक्तियुक्त समानरूप विशिष्ट अनेक शब्द (अर्थात् विभिन्न अर्थमें प्रयुक्त एक ही शब्द) समासमें आबद्ध होनेपर उनका केवल एक ही शब्द अवशिष्ट रहता है, बाकी शब्द लोप हो जाते हैं । ऐसे अवशिष्ट एक शब्दद्वारा ही सब शब्दोंका पृथक्-पृथक् अर्थ प्रकाशित होता है । इस प्रकारके समासको इतरेतर समास कहते हैं । जैसे रामश्च, रामश्च, रामश्च—ये तीन राम शब्द मानो विभिन्न वस्तुके द्योतक हैं ; इनमें-से प्रत्येक ही प्रथमा विभक्ति-युक्त है और सभीका एक-सा रूप है (राम) ; ये तीनों राम शब्द यदि इतरेतर समासमें आबद्ध हों तो समासबद्ध पद होगा 'रामाः' दो राम शब्द लोप हो जायेंगे, एक अवशिष्ट रहेगा । इस अवशिष्ट 'राम' पदद्वारा तीनों राम शब्दोंका पृथक्-पृथक् अर्थ सूचित होगा । 'रामश्च रामश्च रामश्च'—इनको इतरेतर समासके 'रामाः' शब्दका व्यास-वाक्य कहते हैं । इन व्यास-वाक्योंमें जो 'च' शब्द है, वह 'इतरेतर' या 'अन्योन्य' या 'परस्पर' अर्थ प्रकाश करता है । अर्थात्

व्यास-वाक्योंमें इस 'च' शब्दद्वारा जितने 'राम' शब्द संयुक्त हुए हैं उन प्रत्येकका अर्थ ही समासबद्ध 'रामाः' शब्दद्वारा सूचित होगा ।

'आत्मारामाश्च आत्मारामाश्च' करि बार छय
पञ्च 'आत्माराम' छय-चकारे लुप्त हय ॥१०१॥

छः बार 'आत्मारामाः' की होकर आवृत्ति चकारसहित ।
हो गये पाँच 'आत्मारामाः', षट् यहाँ तथैव 'च' अन्तर्हित ॥

एक 'आत्माराम-शब्द' अवशेष रहे ।
एक 'आत्माराम'-शब्दे छय जने कहे ॥१०२॥

बस 'आत्मारामाः' शब्द एक अवशिष्ट रहा जो इस प्रकार ।
'आत्मारामाः' पद एक वही करता छः अर्थोंका प्रचार ॥

'आत्मारामाश्च'से लेकर 'छय जने कहे' पर्यन्त । इन दो पयारोंमें श्लोकोक्त 'आत्मारामाः' शब्दका इतरेतर-समास-निष्पन्नका अर्थ करते हैं। पूर्वमें जो छः प्रकारके आत्मारामकी बात कही गई है, उन छः प्रकारके आत्माराम अर्थमें छवों आत्माराम शब्द इतरेतर समासमें आबद्ध होकर शेष सब एक ही 'आत्माराम' शब्दमें पर्यवसित हुए हैं। 'आत्मारामाश्च आत्मारामाश्च आत्मारामाश्च आत्मारामाश्च आत्मारामाश्च आत्मारामाश्च'—ये छवों 'आत्मारामाश्च' शब्द समान रूप विशिष्ट एवं एक ही प्रथमा विभक्तियुक्त बहुवचनान्त हैं ; अतः इतरेतर समासमें उनमें-से पाँच लुप्त होकर केवल एक ही अवशिष्ट रहेगा और छवों 'च' भी लुप्त हो जायेंगे अर्थात् केवल 'आत्मारामाः' अवशिष्ट रहेगा। इस एक ही 'आत्मारामाः' शब्दद्वारा छवों आत्माराम शब्दके छः पृथक्-पृथक् अर्थ सूचित होंगे। ऐसी अवस्थामें इस इतरेतर समास निष्पन्न 'आत्मारामाः' शब्दका अर्थ हुआ—प्राप्तब्रह्मलय-आतमाराम, ब्रह्ममय-आत्माराम, साधक-आत्माराम, मुमुक्षु-

आत्माराम, जीवन्मुक्त-आत्माराम एवं प्राप्तस्वरूप-आत्माराम। इन छवों अर्थोंमें-से प्रत्येक ही मुख्य भावसे सूचित हुआ।

पञ्च-आत्माराम इत्यादि—इतरेतर समास निष्पन्न 'आत्मारामाः' शब्दके व्यासवाक्योंमें जो छः 'आत्माराम' शब्द हैं, उनमें-से पाँच 'आत्माराम' शब्द लुप्त हो जायेंगे और जो छः 'च' हैं उनमें-से छवों 'च' लुप्त हो जायेंगे।

तथाहि पाणिनिः (१।२।६४)—

सिद्धान्तकौमुद्याम् अजन्तपुंलिङ्गशब्द प्रकरणे—

"सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ"।

उक्तार्थानामप्रयोगः।

रामश्च रामश्च रामश्च रामा इतिवत् ॥५०॥

अन्वय सरल है। **अनुवाद**—एक शेष समासमें एक ही विभक्तिसे एक ही रूप विशिष्ट बहुतसे शब्द होनेपर उनमें-से केवल मात्र एक ही शब्द अवशिष्ट रहेगा, दूसरे शब्दोंका प्रयोग नहीं होगा। जैसे—रामश्च रामश्च रामश्च—इन तीन राम शब्दोंकी जगह दो लोप होकर केवल एक ही राम शब्द अवशिष्ट रहेगा; समाससिद्ध पद होगा 'रामाः'।

१०० संख्यक पयारकी टीकामें उल्लिखित इतरेतर समासमें केवल एक ही शब्द अवशिष्ट रहनेसे उसको **एकशेष समास** भी कहा जाता है। व्याकरणके जिन नियमोंका १०१-१०२ पयारके अर्थमें वर्णन हुआ है उन्हींके प्रमाणमें उक्त श्लोक दिया गया है।

तबे जे च-कार, सेइ 'समुच्चय' कय।
'आत्मारामाश्च मुनयश्च' कृष्णके भजय॥

है यहाँ समुच्चय 'च' से व्यक्त, यह अर्थ अतः होता अवगत।
सब आत्माराम तथा मुनिगण श्रीकृष्ण-भजनमें रहते रत ॥१०३॥

'आत्माराम' शब्दका अर्थ करके श्लोकोक्त 'आत्मारामाश्च' पदके 'च'-कारका अर्थ करते हैं। यहाँपर 'च' समुच्चय अर्थमें व्यवहृत हुआ है। 'आत्मारामाश्च मुनयः' अर्थ—आत्मारामाश्च मुनयश्च; अर्थात् आत्मारामगण एवं मुनिगण—ये सभी कृष्णभजन करते हैं-- इनमें-से एक भी बाद नहीं रहता; सभी कृष्णभजन करते हैं—यही समुच्चयार्थक च-कारका तात्पर्य है।

'निर्ग्रन्था अपि' एइ 'अपि' सम्भावने।
एइ सात अर्थ प्रथम करिल व्याख्याने॥

'निर्ग्रन्था अपि' इस वाक्य-खण्डमें 'अपि' का सम्भावना अर्थ।
पहलेके मेरे प्रवचनमें सातवाँ यही जानना अर्थ॥१०४॥

श्लोकोक्त 'निर्ग्रन्था अपि' शब्दोंके अन्तर्गत 'अपि' शब्दका अर्थ करते हैं। 'अपि'का अर्थ यहाँ सम्भावना है। अर्थात् 'निर्ग्रन्था' शब्दका जो अर्थ जहाँ सम्भव हो वहाँ वही अर्थ युक्त होगा। 'निर्ग्रन्थ' शब्दका अविद्याग्रन्थिहीन, विधिहीन प्रभृति अनेक अर्थ पूर्वमें (१३-१४ पयारमें) कहे गये हैं। इन मुनिगणमें कोई अविद्याग्रन्थिहीन अथवा कोई विधिहीन भी हो सकते हैं। तो भी वे साधुकृपादिके प्रभावसे कृष्णगुणमें आकृष्ट होकर कृष्णभजन करते हैं।

ऐसी स्थितिमें आत्माराम-श्लोकका सप्तम अर्थ इस प्रकार होगा।

(७) श्रीहरिकी ऐसी ही परमाश्चर्य गुणमहिमा है कि (इन गुणोंमें आकृष्ट होकर) केवल ब्रह्मोपासक साधक, ब्रह्ममय, प्राप्त-ब्रह्मलय, मुमुक्षु, जीवन्मुक्त और प्राप्तस्वरूप—ये छः प्रकारके ज्ञानमार्गके उपासक (आत्माराम) एवं मुनिगण—सभी निर्ग्रन्थ (कोई अविद्याग्रन्थिहीन, कोई विधिहीन) होकर भी उरुक्रम-श्रीकृष्णमें कृष्णसुखैक-तात्पर्यमयी भक्ति करते रहते हैं।

योगमार्गके उपासकोंका भेद

अन्तर्य्यामि-उपासक—'आत्माराम' कय ।
सेइ आत्माराम-योगी दुइविध हय ॥१०५॥

उनका भी 'आत्माराम' नाम, जो अन्तर्याम्युपासक जन ।
इन आत्माराम योगियोंके दो भेद विदित, ऐसा वर्णन ॥

पूर्वमें ५८ पयारमें बताया गया है कि ब्रह्म शब्दके मुख्य अर्थमें श्रीकृष्णको समझनेपर भी उपासना भेदसे यह ब्रह्म ज्ञानियोंके लिये निर्विशेष ब्रह्मरूपसे, योगियोंके लिये परमात्मारूपसे एवं भक्तोंके लिये भगवान्‌रूपसे आत्मप्रकाश करते हैं। ऐसी हालतमें 'आत्मा' शब्दका 'ब्रह्म' अर्थ पकड़नेपर 'आत्माराम' शब्दसे भी ज्ञानी, योगी एवं भक्त—ये तीनों श्रेणीके उपासकगण समझे जा सकते हैं।

उनमें-से उपर्युक्त सात प्रकारके अर्थोंमें ज्ञानमार्गके उपासक आत्माराम-गणकी बात बताकर अब योगमार्गके उपासक आत्मारामगणकी बात बताते हैं। योगमार्गके उपासकके लिये परब्रह्म श्रीकृष्ण परमात्मारूपसे प्रतिभात होते हैं; अतः योगियोंके सम्पर्कसे आत्मारामका अर्थ होगा 'परमात्माराम' अर्थात् जो परमात्मामें रमण करें। अब इन परमात्मामें रमणकारी आत्मारामगणकी बात बताते हैं।

अन्तर्य्यामि-उपासक—परमात्माका दूसरा नाम अन्तर्यामी है। परमात्माके उपासकगणको अन्तर्यामीके उपासक भी कहा जाता है।

अन्तर्यामीके तीन स्वरूप हैं:—कारणार्णवशायी महाविष्णु (ये समष्टि ब्रह्माण्डके अन्तर्यामी हैं), गर्भोदशायी सहस्र-शीर्षा पुरुष (ये व्यष्टि ब्रह्माण्डके अन्तर्यामी हैं) एवं क्षीरोदशायी चतुर्भुज विष्णु (ये प्रत्येक व्यष्टि जीवके अन्तर्यामी हैं)। क्षीरोदशायीके साथ ही जीवका साक्षात् सम्बन्ध है; अन्तर्यामीके उपासक योगीगण साधारणतः इन जीवान्तर्यामी क्षीरोदशायीकी ही उपासना करते हैं—ऐसा प्रतीत होता है। ये एक स्वरूपसे क्षीरोद सागरमें और एक स्वरूपसे प्रत्येक जीवके हृदयमें अवस्थान करते हैं।

आत्माराम-योगी इत्यादि—योगमार्गमें परमात्माके उपासकगण दो प्रकारके होते हैं।

'सगर्भ, निर्गर्भ' एइ हय दुइ भेद।
एक-एक तिनभेदे छय विभेद ॥१०६॥

वे भेद सगर्भ, निर्गर्भ तथा इन नामोंसे जाने जाते।
फिर एक-एकके तीन भेद कर छः विभेद माने जाते ॥

परमात्माके उपासकगण दो प्रकारके हैं :—सगर्भ और निर्गर्भ।

जो शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी प्रादेश-प्रमाण चतुर्भुज परमात्मा पुरुषको अपने हृदयके अन्दर धारणा करके उनमें मनका संयोग करें, उनको **सगर्भयोगी** कहते हैं। नीचेका 'केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे' श्लोकमें इसका उल्लेख है। और जो परमात्माका अपने हृदयके भीतर चिन्तन नहीं करते, परन्तु हृदयके बाहर (क्षीरोद समुद्रमें) शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज पुरुषका चिन्तन करके उनमें मनका संयोग करें, उनको **निर्गर्भ-योगी** कहते हैं।

परमानन्द-मूर्त्ति श्रीविष्णुके स्मरणसे योगीगण भी आनन्द समुद्रमें निमग्न हो जाते हैं, उनको भी अश्रु-कम्पादि सात्विक भावोंका उदय होता है। भक्तोंको भी इस प्रकार होता है। तो भी योगी और भक्तमें अन्तर यही है कि ध्यानके प्रभावसे योगीगणका चित्त जब परमानन्द मूर्त्ति विष्णुमें निविष्ट होता है, तब वे प्रचुर आनन्द ही उपभोग करते हैं, किंतु इसके बाद वे थोड़ा-थोड़ा करके मनको श्रीविष्णुसे वियुक्त कर डालते हैं (**तच्चापि चित्त-वडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते।**); किंतु भक्त कभी भी भगवान्के पाससे चित्तको दूर नहीं हटाता। योगीके लिये परमात्माका ध्यान फल प्राप्ति पर्यन्त होता है, किंतु भक्तका ध्यान नित्य होता है। उपास्य विषयमें भी अन्तर है—भक्तके उपास्य स्वयं भगवान् हैं और योगीके ध्येय स्वयं भगवान्के अंश-कलारूपी विष्णु। परमात्मा हैं मायाशक्ति-प्रचुर चिच्छक्तिके अंश विशिष्ट और भगवान् हैं परिपूर्ण सर्वशक्ति विशिष्ट। **"अन्तर्यामित्व-मय-मायाशक्ति-प्रचुर-चिच्छक्त्यंश-विशिष्टं परमात्मेति।**

परिपूर्ण-सर्व-शक्ति-विशिष्टं भगवानिति (भक्तिसन्दर्भ। ७)॥" भगवान्के रूपगुणादिके माधुर्याधिक्यसे योगियोंके उपास्य परमात्माका मन भी चञ्चल हो जाता है।

सगर्भ योगी

तथाहि श्रीमद्भागवते (२।२।८)—

केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे
प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्।
चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशङ्ख-
गदाधरं धारणया स्मरन्ति ॥५१॥

संस्कृतटीका—तामेव धारणां सविशेषमाह केचिदिति षड्भिः। केचित् विरलाः स्वदेहस्य अन्तर्मध्ये यत् हृदयं तत्र योऽवकाशस्तस्मिन् वसन्तम्। प्रादेशस्तर्जन्यङ्गुष्ठयोर्विस्तारः स एव मात्रा प्रमाणं यस्येति हृदयपरिमाणं तत्रोपचर्यते। कञ्जं पद्मम्। रथाङ्गं चक्रम्। स्वामी।

अन्वय— केचित् (कोई-कोई) स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे (अपनी देहके भीतर हृदयावकाशमें) वसन्तं (अवस्थित) चतुर्भुजं (चतुर्भुज) कञ्ज-रथाङ्ग-शङ्ख-गदाधरं (पद्म-चक्र-शङ्ख-गदाधारी) प्रादेशमात्रं (प्रादेश—तर्जनी और अङ्गुष्ठके विस्तार परिमित—एक बित्ता भर) पुरुषं (पुरुषको) धारणया (धारणासे—ध्यानद्वारा) स्मरन्ति (स्मरण—चिन्तन—करते रहते हैं)।

अनुवाद—(अल्पसंख्यक) कुछ महात्मा अपनी देहके भीतरके हृदयाकाशमें अवस्थित प्रादेश (तर्जनी और अङ्गुष्ठके विस्तार) परिमित चतुर्भुज एवं पद्म-चक्र-शङ्ख-गदाधारी पुरुषका धारणासे चिन्तन करते रहते हैं।

परमात्मा शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज रूपसे एवं एक प्रादेश परिमाण चिन्मय देहसे प्रत्येक जीवके हृदयमें अवस्थान करते हैं। जो अपने-अपने हृदयमें परमात्माके इस स्वरूपका चिन्तन करते हैं, उनको सगर्भ योगी कहते हैं।

पूर्व पयारोक्त सगर्भ योगी विषयक प्रमाण यह श्लोक है।

तथाहि श्रीमद्भागवते (३।२८।३४)--

एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो
भक्त्या द्रवद्धृदय उत्पुलकः प्रमोदात् ।
औत्कण्ठ्यवाष्पकलया मुहुरर्द्यमान-
स्तच्चापिचित्तवड़िशं शनकैर्वियुङ्क्ते ॥५२॥

संस्कृतटीका—समाधिमाह एवमिति द्वाभ्याम् । निर्वीजः सवीजश्चेति द्विविधो योगः तत्र निर्वीजयोगे --

"यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥" गीता ६।२६

इति गीताद्युपमार्गेण क्रियमाणोऽपि दुष्करः समाधिः। सवीजे तु सूकरः। तत्र हि परमानन्दमूर्तौ हरौ ध्यायमानेऽयत्नत एव चित्तोपरमो भवति। तदुक्तम्—'हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्तिरनिच्छतो मे गतिमन्वीं प्रयुङ्क्त' इति। अतः स एवोपक्षिप्तः योगस्य लक्षणं वक्ष्ये सवीजस्येति। तदेवा यत्नसिद्धत्वं दर्शयति। एवं ध्यानमार्गेण हरौ प्रतिलब्धो भावः प्रेमा येन, भक्त्या द्रवत् हृदयं यस्य, प्रमोदादुद्गतानि पुलकानि यस्य, उत्कण्ठ्यप्रवृत्ताश्रुकलया च मुहुरर्द्यमानः आनन्दसंप्लवे निमज्जमानः दुर्ग्रहस्य भगवतो ग्रहणे वड़िशं मत्स्यवेधनमिव उपायभूतं चित्तमपि ध्येयात् वियुङ्क्ते, तद्धारणे शिथिलप्रयत्नो भवतीत्यर्थः। स्वामी।

अन्वय—एवं (इस प्रकारसे) भगवति हरौ (भगवान् हरिमें) प्रतिलब्धभावः (योग मिश्रा भक्तिके अनुष्ठानद्वारा लब्धप्रेम) भक्त्या (श्रवण-कीर्त्तनादि भक्ति-अङ्गके अनुष्ठानके प्रभावसे) द्रवद्धृदयः (द्रवीभूत हृदय), प्रमोदात् (आनन्दवश) उत्पुलकः (पुलकिताङ्ग), औत्कण्ठ्य-वाष्पकलया (उत्कण्ठा प्रवर्त्तित अश्रु-राशिसे) मुहुः (बारम्बार) अर्द्यमानः (आनन्द समुद्रमें निमज्जमान), तत् च (उसी) चित्त-वड़िशम् अपि (चित्तरूपी मछली पकड़नेके काँटेको भी) शनकैः (क्रम-क्रमसे) वियुङ्क्ते (वियुक्त—अलग करते हैं)।

अनुवाद—इस प्रकार योग मिश्रा भक्तिके अनुष्ठानद्वारा जिन्होंने श्रीहरिमें भाव प्राप्त किया है, श्रवण-कीर्त्तनादिसे जिनका चित्त द्रवीभूत हुआ है, प्रमोदमें भरकर जिनके अङ्गमें पुलकका उदय होता है एवं उत्कण्ठा-प्रवृत्त अश्रुकणसे जो आनन्द सागरमें निमग्न हैं उनका वैसा चित्तरूपी वड़िश (मछली पकड़नेका कांटा) भी क्रम-क्रमसे ध्येय वस्तुसे अलग हो जाता है।

श्रीमद्भागवतके उक्त श्लोकके पूर्ववर्ती श्लोकोंकी आलोचनासे, विशेषतः उसी अध्यायके २३वें, २४वें श्लोकके 'हृदि कुर्यात्……' और ३३वें श्लोकके 'ध्यायेत् स्वदेहकुहरे……' वाक्योंकी आलोचनासे स्पष्टतः यह समझमें आ जायगा कि यह श्लोक भी सगर्भ योगियोंके लिये कहा गया है।

सगर्भ और निर्गर्भ योगोंके भेद

योगारुरुक्षु, योगारूढ़, प्राप्तसिद्धि आर।
दोंहे एइ तिन भेदे हय छय प्रकार ॥१०७॥

योगारुरुक्षु, योगाधिरूढ़, फिर प्राप्तसिद्धि नामोंसे इन।
दोनोंके करके तीन भेद छः लिये विभेद गये हैं गिन॥

सगर्भ योगी तीन प्रकारके होते हैं और निर्गर्भ योगी भी तीन प्रकारके होते हैं—सगर्भ-योगारुरुक्षु, सगर्भ-योगारूढ़, सगर्भ-प्राप्तसिद्धि; एवं निर्गर्भ-योगारुरुक्षु, निर्गर्भ-योगारूढ़, निर्गर्भ-प्राप्तसिद्धि; इस तरह ये छः प्रकारके योगी हुए।

विषयोंसे चित्तको खींचकर निश्चल भावसे परमात्मामें स्थापन करनेका नाम योग है। जो इस योग प्राप्तिके लिये चित्त शुद्धिजनक निष्काम कर्मादि करते हैं, वे हैं **योगारुरुक्षु**—योगारोहनमें इच्छुक। योगारुरुक्षु व्यक्तिका मन सम्यक रूपसे स्थिर नहीं हुआ है, मनको स्थिर करनेकी चेष्टा करते हैं। और जिनका मन स्थिर हो गया है, परमात्मामें जो मनको निविष्ट कर सकते हैं, उनको योगारूढ़ कहते हैं। भोग्यवस्तुमें एवं कर्ममें उनकी कोई आसक्ति नहीं रहती। वे सब

प्रकारसे वासनाका त्याग किये होते हैं। और जिनको अणिमादि-सिद्धि लाभ हो गयी है वे हैं **प्राप्त-सिद्धि** योगी। सगर्भ और निर्गर्भ—दोनों प्रकारके योगियोंकी ये तीनों अवस्थाएँ हो सकती हैं।

तथाहि श्रीभगवद्गीतायाम् (६।३-४)—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥५३॥

संस्कृतटीका—तर्हि यावज्जीवनं कर्मयोग एव प्राप्त इत्याशङ्क्य तस्यावधिमाह आरुरुक्षोरिति। ज्ञानयोगमारोढुं प्राप्तुमिच्छोः पुंसः तदारोहे कारणं कर्मोच्यते चित्तशुद्धिकारणत्वात्। ज्ञानयोगसमारूढस्य तु तस्यैव ज्ञाननिष्ठस्य शमः विक्षेपकर्मोपरमः ज्ञानपरिपाके कारणमुच्यते। स्वामी।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥५४॥

संस्कृतटीका—कीदृशोऽसौ योगारूढः यस्य शमः कारणमुच्यते इत्याह यदेति। इन्द्रियार्थेषु इन्द्रियभोग्यशब्दादिषु च कर्मसु यदा नानुसज्जते आसक्तिं न करोति तत्र हेतुः आसक्तिमूलभूतान् सर्वान् भोगविषयांश्च सङ्कल्पान् संन्यसितुं शीलं यस्य सः योगारूढ़ उच्यते। स्वामी।

अन्वय—योगं (योग पदवीमें) आरुरुक्षो (आरोहण करनेको इच्छुक) **मुनेः** (जनोंका) **कर्म** (कर्म ही) **कारणं** (आरोहणके लिये कारण) **उच्यते** (कहा गया है)। **योगारूढस्य** (योगारूढ़) **तस्य** (व्यक्तिके लिये) **शमः** (चित्त विक्षेपजनक कर्मसे उपरति) **एव** (ही) **कारणं** (कारण) **उच्यते** (कहा गया है)। **यदाहि** (जब) **[जनः]** (लोग) **सर्वसंकल्पसंन्यासी सन्** (सब प्रकार वासना परित्यागपूर्वक) **न इन्द्रियार्थेषु** (न इन्द्रिय भोग्य वस्तुमें) **न कर्मसु** (एवं न कर्ममें) **अनुसज्जते** (आसक्त होते हैं) **तदा** (तब) **[सः]** (वे) **योगारूढः** (योगारूढ़) **उच्यते** (कहे जाते हैं)। ५३-५४।

अनुवाद—ध्यान-निष्ठारूप योगपदवीमें आरोहण करनेके जो अभिलाषी हैं

उनके लिये कर्म ही इस आरोहणका कारण है क्योंकि कर्मद्वारा हृदय शुद्ध होता है। योगारूढ़ व्यक्तिके लिये चित्त विक्षेपजनक कर्मसे उपरति रूप शम ही ध्यानके विषयमें दृढ़ताका कारण है। जब योगाभ्यास-रत साधक, भोग और कर्म विषयक संकल्प परित्याग करके इन्द्रियोंके विषय शब्दादिमें एवं कर्ममें आसक्ति शून्य होते हैं, तब उनको योगारूढ़ कहते हैं।५३-५४।

इन दो श्लोकोंमें पूर्ववर्ती पयारोल्लिखित योगारुरुक्षु और योगारूढ़के लक्षण बताये हैं।

एइ छय योगी साधुसङ्गादिहेतु पाञा।
कृष्ण भजे कृष्णगुणे आकृष्ट हइया ॥१०८॥

ये छः प्रकारके योगीगण पा साधुजनोंका सङ्गादिक।
श्रीकृष्ण-भजनमें होते रत श्रीकृष्ण गुणोंके ऊपर बिक॥

पूर्वोक्त छः प्रकारके योगी ही साधु-सङ्गादिके प्रभावसे कृष्णगुणमें आकृष्ट होकर कृष्णभजन करते रहते हैं।

'च'-शब्दे अपि अर्थ इहाँओ कहय।
'मुनि, निर्ग्रन्थ'-शब्देर पूर्व्ववत् अर्थ हय॥

जायगा अर्थ 'च' का इस स्थलपर भी 'अपि' 'भी' अर्थात् किया।
'निर्ग्रन्थ' तथा 'मुनि' शब्दोंका पूर्ववत् जायगा अर्थ लिया ॥१०९॥

'आत्माराम' शब्दका योगी अर्थ करनेसे श्लोकोक्त अन्यान्य शब्दोंका किस प्रकार अर्थ होगा, वह बता रहे हैं। 'च'-शब्दे—यहाँ भी 'च' शब्दका अर्थ 'अपि', 'भी' या 'पर्यन्त' है। इहाँओ—यहाँपर भी। मुनि और निर्ग्रन्थ—दोनों शब्दोंका अर्थ भी पूर्ववत् होगा। अर्थात् मुनिका अर्थ—मननशील एवं निर्ग्रन्थका अर्थ—अविद्याग्रन्थिहीन या विधिहीन।

'उरुक्रम, अहैतुकी' काहाँ कौन अर्थ। एइ तेर अर्थ कैल परम समर्थ॥११०॥

'उरुक्रम', 'अहैतुकी' शब्दोंके पूर्ववत जायेंगे अर्थ लिये।
इस भाँति परम सामर्थ्यवान प्रभुने ये तेरह अर्थ किये॥

आत्मा शब्दका ब्रह्म अर्थ मानकर, एवं ब्रह्म शब्दका परमात्मा अर्थ मानकर, आत्माराम शब्दके छः प्रकारके अर्थ किये गये। जैसे--सगर्भ-योगारुरुक्षु आत्माराम, सगर्भ-योगारूढ़ आत्माराम, सगर्भ-प्राप्तसिद्धि आत्माराम, निर्गर्भ-योगारुरुक्षु आत्माराम, निर्गर्भ-योगारूढ़ आत्माराम एवं निर्गर्भ प्राप्तसिद्धि आत्माराम। इन छः अर्थोंमें-से प्रत्येकको अलग-अलग लेकर श्लोकका अर्थ करनेसे छः अर्थ होंगे। वे छः अर्थ इस प्रकार है :--

(८) श्रीहरिकी ऐसी ही परमाश्चर्य गुण-महिमा है जिससे कि (इन गुणोंमें आकृष्ट होकर) निर्ग्रन्थ (विधिहीन) होनेपर भी सगर्भ-योगारुरुक्षु आत्मारामगणपर्यन्त मननशील होकर उरुक्रम श्रीकृष्णमें अहैतुकी भक्ति करते रहते हैं।

(९) श्रीहरिकी ऐसी ही परमाश्चर्य गुण-महिमा है जिससे कि (इन गुणोंमें आकृष्ट होकर) निर्ग्रन्थ (कोई अविद्याग्रन्थिहीन, कोई विधिहीन) होनेपर भी सगर्भ-योगारूढ़ आत्मारामपर्यन्त मननशील होकर उरुक्रम श्रीकृष्णमें अहैतुकी भक्ति करते रहते हैं।

(१०) श्रीहरिकी ऐसी ही परमाश्चर्य गुण-महिमा है जिससे कि (इन गुणोंमें आकृष्ट होकर) निर्ग्रन्थ (अविद्याग्रन्थिहीन अथवा विधिहीन) होकर भी सगर्भ-प्राप्तसिद्धि आत्मारामगणपर्यन्त मनन-शील होकर उरुक्रम श्रीकृष्णमें अहैतुकी भक्ति करते रहते हैं।

(११) श्रीहरिकी ऐसी ही परमाश्चर्य गुण-महिमा है जिससे कि (इनगुणोंमें आकृष्ट होकर) निर्ग्रन्थ (विधिहीन) होनेपर भी निर्गर्भ-योगारुरुक्षु-आत्मारामगणपर्यन्त मननशील होकर उरुक्रम श्रीकृष्णमें अहैतुकी भक्ति करते रहते हैं।

(१२) श्रीहरिकी ऐसी ही परमाश्चर्य गुण-महिमा है जिससे कि (इन गुणोंमें आकृष्ट होकर) निर्ग्रन्थ (अविद्याग्रन्थिहीन, अथवा विधिहीन) होनेपर भी निर्गर्भ-योगारूढ़-आत्मारामगणपर्यन्त मनन-शील होकर उरुक्रम श्रीकृष्णमें अहैतुकी भक्ति करते रहते हैं।

(१३) श्रीहरिकी ऐसी ही परमाश्चर्य गुण-महिमा है जिससे कि (इन गुणोंमें आकृष्ट होकर) निर्ग्रन्थ (अविद्याग्रन्थिहीन अथवा विधिहीन) होनेपर भी निर्गर्भ-प्राप्तसिद्धि-आत्मारामगणपर्यन्त मनन-शील होकर उरुक्रम श्रीकृष्णमें अहैतुकी भक्ति करते रहते हैं।

उपरोक्त छः अर्थ और पूर्वके (९९ और १०४ पयारके) सात अर्थ--सब मिलाकर हुए तेरह प्रकारके अर्थ।

एइ सब शान्त जबे भजे भगवान्।
'शान्तभक्त' करि तबे कहि तार नाम ॥१११॥

ये शान्त भाववाले सब जब होते श्रीकृष्ण-भजनमें रत।
तब 'शान्त-भक्त'का नाम उन्हें मिलता ऐसा विद्वज्जन-मत ॥

एइ सब शान्त इत्यादि—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर–इन पाँच रसोंके पाँच प्रकारके भक्त होते हैं। ऊपर जो तेरह प्रकारके आत्मारामगणकी बात कही गयी, वे कृष्णगुणमें आकृष्ट होकर जब श्रीकृष्णभजन करते हैं तब वे उक्त पाँच प्रकारके भक्तोंमें-से कोई एक प्रकारके भक्त होंगे—यही इस पयारमें बता रहे हैं। वे शान्तरसके भक्त होंगे। शान्तभक्तके लक्षण केवल श्रीकृष्णनिष्ठा ; 'शमो

मन्निष्ठताबुद्धेः' श्रीकृष्णमें जो बुद्धिकी निष्ठता है, निश्चल भावसे स्थिति है, उसीका नाम है 'शम'। यह शम जिनको है वे ही हैं शान्त। उक्त तेरह प्रकारके आत्माराम भक्तोंने श्रीकृष्णमें केवल निष्ठामात्र प्राप्त की हैं, किंतु ममता बुद्धि प्राप्त नहीं की। इसलिये वे व्रजेन्द्रनन्दनकी प्रेम सेवा नहीं पायेंगे—अर्थात् दास्य-सख्यादि चार भावोंसे श्रीकृष्णभजन नहीं कर सकेंगे। उनके उपास्य होंगे परम-व्योमाधिपति नारायण एवं वे परव्योममें सारूप्यादि चतुर्विधा मुक्ति पावेंगे।

मनोराम आत्माराम

'आत्मा'-शब्दे 'मन' कहे, मने जेइ रमे।
साधु सङ्गे सेइ भजे श्रीकृष्णचरणे ॥११२॥

'आत्मा'का 'मन' भी अर्थ, अतः जो मनोरामगण भक्त-वृन्द।
पा साधु-सङ्ग भजते हैं वे श्रीकृष्णचन्द्र-चरणारविन्द ॥

अब 'आत्मा' शब्दका अर्थ 'मन' करके श्लोकका अन्य अर्थ करते हैं। आत्मामें (मनमें) रमण करें जो, वे हैं आत्माराम (मनोराम)।

'मनमें रमण करना'—इसका अर्थ क्या हुआ ? 'मनमें रमण करना' इसका अर्थ यहाँपर हृदयस्थित जीवान्तर्यामीमें रमण करना है। परवर्ती श्लोकके **'हृदयमारुणयो'** अंशका ही अर्थ है **'मने जेइ रमे'** इसकी टीकामें चक्रवर्तीपादने लिखा है **'आरुणयस्तु हृदयं हृदयस्थित-जीवान्तर्यामिनं बुद्ध्यादिप्रवर्त्तनया ज्ञान शक्तिदायकं दहरं दुर्ज्ञेयत्वात् सूक्ष्मम्'** इत्यादि। इससे समझा जाता है कि जो अन्तर्यामीरूपसे प्रत्येक जीवके हृदयमें विराजमान हैं एवं जो प्रत्येक जीवकी बुद्धिशक्तिके प्रवर्त्तक हैं, उनका जो ध्यान करते हैं उन्हींको इस पयारमें 'मनमें रमणकारी' कहा गया है। आरुणि ऋषिगण हृदयस्थित इन सूक्ष्म ब्रह्मका ध्यान किया करते हैं।

इस पयारका अर्थ हुआ—बुद्धिशक्तिके प्रवर्त्तक हृदयस्थित अन्तर्यामी सूक्ष्म ब्रह्मका जो ध्यान करते हैं, वे भी साधु-कृपा प्राप्त होनेपर श्रीकृष्णभजन करते हैं।

तथाहि श्रीमद्भागवते (१०।८७।१८)—

उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशः
परिसरपद्धतिं हृदयमारुणयो दहरम्।
तत उदगादनन्त तव धाम शिरः परमं
पुनरिह यत् समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे ॥५५

संस्कृतटीका—एवं तावत् सर्वात्मके परमेश्वरे सर्वश्रुतिसमन्वयेन सद्भजनीयत्वमुक्त्वा अभक्तनिन्दया च तदेव दृढीकृत्य इदानीमनवागाह्यमहिमनि प्रथमं तावत् उपाध्यवलम्बनमुपासनमुदरं ब्रह्मेति शर्कराक्षा उपासते हृदयं ब्रह्मेति आरुणयो ब्रह्मा हैवैता उर्द्ध्वं त्वेवोदसर्पत् तच्छिरोऽश्रयत इत्याद्याः श्रुतयो विदधतीत्याह उदरमुपासत इति। ऋषिवर्त्मसु ऋषिणां सम्प्रदाय-मार्गेषु ये कूर्पदृशः ते उदरालम्बनं मणिपुरस्थं ब्रह्म उपासते ध्यायन्ति शर्कराक्षा इति श्रुतिपदस्य प्रतिपदं कूर्पदृश इति कूर्पं शर्करा रजो विद्यते दृक्षु अक्षिषु येषां ते तथा रजःपिहितदृष्टय स्थूलदृष्टय इति यावत् उदरस्य हृदयापेक्षया स्थूलत्वात् यद्वा कूर्पं सूक्ष्मं सूक्ष्मदृश इत्यर्थः। तथा हृदयस्थं सूक्ष्ममेव आलक्ष्य तत्प्रवेशाय प्रथममुदरस्थमुपासत इत्यर्थः। आरुणयस्तु साक्षात् हृदयस्थं दहरं सूक्ष्ममेवोपासते हृदयविशेषणं परिसरपद्धतिमिति परितः सरन्ति प्रसर्पन्ति परिसराः नाड्यस्तासां पद्धतिं मार्गं प्रसरणस्थान-मित्यर्थः सविशेषणस्य फलमाह तत इति। ततो हृदयात् भो अनन्त तव धाम उपलब्धिस्थानं सुषुम्नाख्यं परमं श्रेष्ठं ज्योतिर्मयं शिरोमूर्द्धानं प्रति उदगात् उदसर्पत् मूलाधारादारभ्य हृदयमध्याद्ब्रह्मरन्ध्रं प्रत्युद्गतमित्यर्थः। कथम्भूतं धाम यत्समेत्य प्राप्य पुनरिह कृतान्तमुखे मृत्युमुखे संसारे न पतन्ति तथाच श्रुतिः शतञ्चैका हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभि-निःसृतैका। तयोर्द्धमानयन्नमृतत्वमेति विष्कङ् अन्या उत्क्रमणे भवन्तीति। उदरादिषु यः पुंसां चिन्तितो मुनिवर्त्मभिः। हन्ति मृत्युभयं देवो हृद्गतं तमुपास्महे। स्वामी।

अन्वय—ऋषिवर्त्मसु (ऋषि सम्प्रदायके बीच) य (जो लोग) कूर्पदृशः (स्थूल

दृष्टि हैं, वे अपने) **उदरं** (उदर मध्यस्थ मणिपुर स्थित ब्रह्मका—अथवा क्रिया शक्तिदायक वैश्वानर अन्तर्यामीका) **उपासते** (ध्यान करते रहते हैं) ; **आरुणयः** (अरुणके पुत्र आरुणि ऋषिगण) **परिसरपद्धतिं** (देहमध्यस्थित नाड़ीसमूह जिस स्थानसे होकर विभिन्न ओर प्रसारित हुआ है, उस) **हृदयं** (हृदयस्थित) **दहरं** (सूक्ष्म-तत्त्वकी—ज्ञान शक्तिदायक जीवान्तर्यामीकी) **[उपासते]** (उपासना करते हैं)। **अनन्त** (हे अनन्त) ! **ततः** (वहाँसे उस हृदयसे) **तव** (तुम्हारा) **धाम** (उपलब्धि स्थान) **सुषुम्नाख्यं** (सुषुम्ना नामक नाड़ी) **परमं** (श्रेष्ठ—ज्योतिर्मय) **शिरः** (ब्रह्मरन्ध्र—ब्रह्मरन्ध्रके प्रति) **उद्‌गात्** (उद्‌गत हुई है)—**यत्** (जिस धामको या सुषुम्ना नाड़ीको) **समेत्य** (प्राप्त होनेपर) **पुनः** (पुनराय) **इह** (इस संसारमें) **कृतान्तमुखे** (मृत्यु-मुखमें) **न पतन्ति** (नहीं पड़ते)।

अनुवाद—ऋषि सम्प्रदायके बीच स्थूल दृष्टि ऋषिगण उदरके बीच मणिपुरस्थ ब्रह्मका (अथवा क्रिया-शक्ति-दायक वैश्वानर अन्तर्यामीका) ध्यान करते रहते हैं। अरुणके पुत्र आरुणि ऋषिगण—देह मध्यस्थित नाड़ी समूह जिस स्थानसे होकर विभिन्न ओर प्रसारित होता है, उसी हृदयमें स्थित सूक्ष्म-तत्त्वकी (ज्ञान शक्तिदायक जीवान्तर्यामीकी) उपासना करते हैं। हे अनन्त ! उसी हृदयसे ही ज्योतिर्मय सुषुम्ना नाड़ी ब्रह्मरन्ध्रमें उद्‌गत हुई है—जो सुषुम्ना नाड़ी तुम्हारा उपलब्धि स्थान है और जिस सुषुम्ना नाड़ीके प्राप्त कर लेनेपर फिर संसारमें मृत्यु मुखमें पड़ना नहीं पड़ता।

ऋषियोंमें जो स्थूल-दृष्टि हैं वे **उदरं उपासते**—उदरकी (पेटकी) उपासना (ध्यान) करते हैं। तन्त्रशास्त्रके मतसे उदरके अङ्गीभूत नाभिमें मणिपुर नामक एक पद्म है (यह षट् चक्रके अन्तर्गत एक चक्र है) ; ब्रह्म एक रूपसे इस पद्ममें भी अवस्थित हैं ; इस श्लोकमें 'उदरकी उपासना' द्वारा उदर मध्यस्थित मणिपुर नामक पद्ममें अवस्थित ब्रह्मकी उपासनाका ही लक्ष्य किया गया है। अथवा

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पच्याम्यन्नं चतुर्विधम्॥ (गीता १५।१४)॥

इन वचनानुसार स्पष्ट है कि भगवान् ही वैश्वानर रूपसे उदरमें अवस्थित रहकर चतुर्विध (चर्व, च्योष्य, लेह्य, पेय) अन्नका परिपाक कराकर क्रियाशक्ति

दान करते रहते हैं। 'उदरकी उपासना' कहनेसे इन क्रिया-शक्ति-दाता वैश्वानरकी उपासना भी समझी जा सकती है। हृदयकी अपेक्षा उदर स्थूलतर होनेसे उदरके उपासकगणको कूर्पदृशः अर्थात् स्थूल दृष्टि कहा गया है।

परिसरपद्धतिं—परितः (चारों ओर) सरन्ति (प्रसारित होती है) इति परिसराः ; नाड़ी समूह एक स्थानसे सब ओर प्रसारित होता है इसलिये नाड़ी समूहको परिसर कहते हैं ; उन्हीं नाड़ी समूहका पद्धति (मार्ग—रास्ता) स्वरूप है हृदय। गुह्य और लिङ्गके मध्यवर्ती दो अङ्गुल परिमित स्थानको तन्त्रशास्त्रके मतसे मूलाधार कहते हैं। यह मूलाधार ही शरीरस्थ समस्त नाड़ियोंका मूल स्थान है। नाड़ी समूह इस मूलाधारसे उठकर समस्त देहमें विस्तृत होकर रहता है। इसी नाड़ी समूहके बीच इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना ही श्रेष्ठ हैं। इड़ा और पिङ्गलाके मध्यस्थलमें सुषुम्ना रहती है। यह सुषुम्ना मेरुदण्डके बाहर अवस्थित है। मूलाधारसे आरम्भ करके हृदयके बीचसे होकर यह सुषुम्ना ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त प्रसारित है। इस प्रकार सुषुम्ना नाड़ीके (एवं अन्यान्य नाड़ियोंके भी गति पथमें पड़नेसे हृदयको नाड़ीका पद्धति (मार्ग या रास्ता) स्वरूप कहा गया है। ऐसा जो हृदय है, उसी **हृदयं**—हृदय स्थित नाड़ी समूहके प्रसरणके मार्ग स्वरूप हृदयमें अवस्थित **दहरं**—सूक्ष्म-तत्त्व, जीवान्तर्यामी हैं—जो अङ्गुष्ठ परिमित विग्रहसे जीवके हृदयमें अवस्थित रहकर बुद्धि-वृत्तिको प्रवर्त्तित करके ज्ञान-शक्ति दान करते हैं "**महान् प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैव प्रवर्त्तकः। अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः। इति श्रीमद्भागवत् १०।८७।१८ श्लोकके क्रमसन्दर्भधृत श्रुतिवचन॥**" हृदयस्थित जीवान्तर्यामी सूक्ष्म-तत्त्वको आरुणि ऋषिगण उपासना करते हैं। **ततः**—उसी हृदयसे होकर ; जो हृदयस्थित जीवान्तर्यामी आरुणि ऋषिगण कर्त्तृक उपासित होते हैं ; उसी हृदयसे होकर ; अर्थात् मूलाधारसे आरम्भ करके उसी हृदयके भीतरसे होकर भगवान् अनन्तके **धाम**—उपलब्धि स्थानस्वरूप **सुषुम्नाख्यं**—सुषुम्ना नामक नाड़ी ; इड़ा और पिङ्गलाकी मध्यवर्तिनी, मेरुदण्डके बहिर्देशमें अवस्थिता सुषुम्ना नाड़ी **परमं**—ज्योतिर्मय **शिरः**—मस्तक, मस्तकस्थ ब्रह्मरन्ध्र, ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त **उद्गात्**—उद्गत हुई है। सुषुम्ना नाड़ी मूलाधारसे आरम्भ करके हृदयके

भीतरसे होकर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त प्रसारित हुई है। **सत् समेत्य**—जिस सुषुम्ना नाड़ीको प्राप्त होनेपर, सुषुम्ना नाड़ीके योगसे उर्द्ध्वमें उत्थित हो सकनेपर फिर कृतान्त मुखमें पड़ना नहीं पड़ता। **"शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्द्ध्वमायन्नमृतत्त्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति॥ इति श्रीमद्भागवत १०।८७।१८ श्लोककी टीकामें श्रीधरस्वामिधृत श्रुतिवचन॥"** हृदयके संश्रवमें (संसर्गमें) एक सौ नाड़ियाँ हैं; उनमें केवल एक ही सुषुम्ना नाड़ी उर्द्ध्वकी ओर प्रसारित हुई है। इसी नाड़ीके योगसे उर्द्ध्वकी ओर गमन करनेसे उपासक मोक्षको प्राप्त कर सकता है; अन्यान्य सब नाड़ियाँ संसार भ्रमणका द्वार मात्र होकर रहती हैं। सुषुम्नाकी सहायतासे अमृतत्त्व या मोक्ष-प्राप्ति हो सकती है इसलिये सुषुम्नाको भगवदुपलब्धि स्थान कहा गया है।

हृदयका अर्थ मन; उक्त श्लोकसे जाना जाता है कि आरुणि ऋषिगण हृदयकी (हृदयस्थ सूक्ष्म-तत्त्वकी) उपासना करते हैं अर्थात् वे हृदयमें अथवा मनमें रमण करते हैं; अतः वे हुए मनमें रमणकारी या मनोराम—आत्मा (मनः) राम। पूर्ववर्ती पयारमें 'मनमें रमणकारी' आत्मारामकी बात कही गई है, उसका अस्तित्व ज्ञापक यह श्लोक है।

एहो कृष्णगुणाकृष्ट महामुनि हञा।
अहैतुकी भक्ति करे निर्ग्रन्थ हइया॥११३॥

यों होते हुए महामुनि भी, हो कृष्ण गुणोंसे आकर्षित।
निर्ग्रन्थ यदपि, करते अहैतुकी भक्ति कृष्णकी भावसहित॥

एहो—पूर्व पयारोक्त मनोराम। **महामुनि हञा**—कृष्णमननमें आसक्ति-युक्त होकर; यह श्लोकस्थ 'मुनयः' शब्दका अर्थ है। **निर्ग्रन्थ**—अविद्याग्रन्थिहीन या विधिहीन। इन दो पयारोंमें 'आत्माराम' शब्दका अर्थ 'मन' करके आत्माराम श्लोकका एक और अर्थ मिला।

(१४) **बुद्धिशक्तिका प्रवर्त्तक हृदयमध्यस्थित अन्तर्यामी सूक्ष्म ब्रह्मका जो ध्यान करते हैं (ऐसे मनोराम आत्मारामगण भी) वे**

भी साधु सङ्गके प्रभावसे, कोई अविद्याग्रन्थिहीन, कोई विधिहीन (निर्ग्रन्था) होकर भी श्रीकृष्णमननमें आसक्तियुक्त (मुनयः) होकर उरुक्रम श्रीकृष्णमें अहैतुकी भक्ति करते रहते हैं–ऐसी ही परमाश्चर्य श्रीहरिकी गुण-महिमा है। यहाँतक चौदह अर्थ पाये गये।

यत्नराम आत्माराम

'आत्मा' शब्दे 'यत्न' कहे, यत्न करिया।
'मुनियोऽपि' कृष्ण भजे गुणाकृष्ट हञा॥११४॥

'आत्मा'का अर्थ 'यत्न' भी है, जो यत्नशील अतएव सतत।
ऐसे मुनिगण भी गुणाकृष्ट हो होते कृष्ण-भजनमें रत॥

'आत्मा' शब्दका यत्न अर्थ मानकर और एक प्रकारका अर्थ करते हैं। **आत्माराम**—यत्नराम; जो अत्यन्त यत्नशील हैं; अत्यन्त आग्रहके साथ जो प्रारब्ध कार्य सम्पादनके लिये यत्न करते हैं, वे ही हुए 'यत्नराम'।

मुनयोऽपि कृष्ण भजे—मुनिगण भी कृष्णभजन करते हैं। पूर्वमें जो कई अर्थ किये गये हैं उनमें श्लोककी 'कुर्वन्ति' क्रियाका 'आत्मारामाः'को कर्त्ता कर दिया है। किंतु 'आत्मा' शब्दका 'यत्न' अर्थ मान करके श्लोकका अर्थ करते समय 'मुनयः' पदको ही 'कुर्वन्ति' क्रियाका कर्त्ता किया गया है। मुनि—तपस्वी।

तथाहि श्रीमद्भागवते (१।५।१८)—

तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो
न लभ्यते यद्भ्रमतामुपर्यधः।
तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखं
कालेन सर्वत्र गभीररंहसा॥५६॥

संस्कृतटीका—ननु स्वधर्ममात्रादपि कर्मणा पितृलोक इति श्रुतेः पितृलोकप्राप्तिः फलमस्त्येव तत्राह तस्येति। कोविदः विवेकी तस्यैव हेतोस्तदर्थं यत्नं कुर्यात् यत् उपरि ब्रह्मलोकपर्यन्तम् अधः स्थावरपर्यन्तञ्च भ्रमद्भिर्जीवैनलभ्यते षष्ठी तु पूर्ववत्। तं तु विषयसुखमन्यत एव प्राचीन-स्वकर्मणा सर्वत्र नरकादावपि लभ्यते। दुःखवत्, यथादुःखं प्रयत्नं विनापि लभ्यते तद्वत्। तदुक्तम्—अप्रार्थितानि दुःखानि यथैवायान्ति देहिनाम्। सुखान्यपि तथा मन्ये दैवमत्रातिरिच्यते इति। स्वामी।

अन्वय—उपर्यधः (ऊपरमें ब्रह्मलोक एवं नीचे स्थावर योनिपर्यन्त) **भ्रमतां** (भ्रमणकारी जीवगणको) **यत्** (जो) **न लभ्यते** (प्राप्त नहीं होता), **कोविदः** (बुद्धिमान व्यक्तिगण) **तस्य** (उसके) **एव** (ही) **हेतोः** (लिये) **प्रयतेत** (यत्न करते हैं)। **तत्सुखं** (वही विषय सुख) **गभीररंहसा** (महावेगवान्—अथवा अद्भुत शक्ति सम्पन्न) **कालेन** (कालके प्रभावसे—अथवा पूर्व कर्मफलसे) **दुःखवत्** (दुःखकी तरह) **अन्यतः** (अन्यसे—अपनी चेष्टाके बिना ही) **सर्वत्र** (सर्वत्र) **लभ्यते** (प्राप्त होता है)।

अनुवाद—ऊपरमें ब्रह्मलोक एवं नीचे स्थावर योनिपर्यन्त भ्रमण करके भी जीवगण जो प्राप्त नहीं कर सकते, वह (भक्ति सुख) प्राप्तिके लिये यत्न करना ही मनुष्यका कर्त्तव्य है। दुःखकी तरह विषय-सुख भी अद्भुत शक्ति-सम्पन्न **प्राक्तन** (पूर्व)-कर्म-फलसे—किसी भी प्रकारकी चेष्टाके बिना ही—अपने-आप ही सर्वत्र आ उपस्थित होता है (अतः इह लौकिक सुखके लिये चेष्टा करनेकी कोई आवश्यकता नहीं)।

दुःख प्राप्तिके लिये कभी कोई चेष्टा नहीं करता—चेष्टा तो दूरकी बात रही, इच्छा भी नहीं करता; तो भी जो दुःख आनेवाला है, पूर्व-कर्मफलसे वह आ ही पड़ता है; कोई उसको रोक नहीं सकता। सुखके लिये—विषय सुखके लिये लोग यथासाध्य चेष्टा करते रहते हैं; किंतु जिस सुखके लिये चेष्टा की जाती है वह सुख मिल ही जाता हो ऐसी बात नहीं है; पूर्व-कर्मफलसे—जो सुख आनेका है, वही आता है—जो सुख आनेका नहीं, वह नहीं आता। सुख आता है कर्मफलसे, जीवकी चेष्टाके फलसे नहीं; जीवकी चेष्टा सुखोद्गमकी उपलक्ष्य

मात्र है—कारण नहीं ; अतः प्राक्तन-कर्मके फलसे ही यदि सुखका आगमन होता है, तो सुखके लिये चेष्टा न करनेपर भी, प्राक्तन-कर्म-फलसे सुख आवेगा ही ; कारणके वर्तमान रहनेसे कार्य होगा ही। किंतु भक्ति-सुख कोई कभी भी चेष्टाके बिना प्राप्त नहीं कर सकता—जो ब्रह्मलोकके अधिवासी हैं वे भी नहीं कर सकते। भक्ति-सुख पानेके लिये यत्नकी विशेष आवश्यकता है ; इसीसे जो बुद्धिमान् हैं—प्राक्तन-कर्म-फलसे दुःखकी तरह ही अनायास प्राप्त होनेवाले विषय-सुखके लिये यत्न न करके—वे लोग भक्ति-सुख प्राप्तिके लिये ही यथासाध्य चेष्टा करते रहते हैं।

इस श्लोकमें 'कोविदः' शब्दसे पूर्व पयारोक्त 'मुनयः—मुनिगणका, तपस्वी लोगोंका बोध होता है। मुनिगण जो यत्न करके श्रीकृष्णभजन (भक्ति-सुखलाभके निमित्त यत्न) करते हैं, उसीके प्रमाणमें यह श्लोक है।

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ (१।२।४७)—

सद्धर्मस्यावबोधाय येषां निर्बन्धिनी मतिः।
अचिरादेव सर्वार्थः सिध्यत्येषामभीप्सितः ॥५७॥

संस्कृतटीका—सद्धर्मस्य भगवदाराधनादिधर्मस्य **अवबोधाय** ज्ञातुम्।

अन्वय—सद्धर्मस्य (भागवतधर्मके निगूढ़ तत्त्वके) **अवबोधाय** (ज्ञानप्राप्तिके निमित्त) **येषां** (जिनकी) **निर्बन्धिनी** (आग्रहशालिनी) **मतिः** (बुद्धि होती है) **तेषां** (उनके) **अभीप्सितः** (अभीष्ट) **सर्वार्थः** (सब प्रयोजन) **अचिरात् एव** (अविलम्ब ही) **सिद्धति** (सिद्ध होते हैं)।

अनुवाद—भागवत-धर्मके निगूढ़ तत्त्वको जाननेके लिये जिनकी मति अतिशय आग्रहशालिनी होती है, उनके अभिलषित सभी प्रयोजन अविलम्ब सिद्ध हो जाते हैं।

पूर्व श्लोककी तरह यह श्लोक भी पूर्व पयारके प्रमाणमें है।

यत्नाग्रह बिना प्रेम उत्पन्न नहीं होता

'च'-शब्द-'अपि'-अर्थे, 'अपि'—अवधारणे।
यत्नाग्रह बिना भक्ति ना जन्माय प्रेमे॥११५॥

है 'च'का अर्थ 'अपि' लिया गया, 'अपि' का अवधारण अर्थ यहाँ।
होता न प्रेमका जन्म, भक्तिके साथ न आग्रह-यत्न जहाँ॥

'च' शब्दका अर्थ यहाँपर 'अपि' 'भी' है। और श्लोकका 'अपि' शब्द अवधारण बोध कराता है। **अवधारण**—निश्चयता। इस प्रकारके अर्थसे श्लोकका अन्वय होगा ऐसे—मुनयः च (अपि) आत्मारामाः (यत्नशीलाः) निर्ग्रन्था अपि उरुक्रमे अहैतुकीं भक्तिं कुर्वन्ति—हरिः इत्थम्भूतगुणः। अर्थ हुआ इस प्रकार—

(१५) मुनिगण भी यत्नशील एवं मायातीत (निर्ग्रन्था) होकर उरुक्रम श्रीकृष्णमें अहैतुकी भक्ति करते हैं—ऐसी ही परमाश्चर्य उनकी महिमा है।

यहाँतक सब मिलकर १५ अर्थ हुए।

यत्नाग्रह बिना इत्यादि—यत्नका अर्थ उद्योग ; आग्रहका अर्थ आसक्ति, उत्कण्ठा। बहिरिन्द्रियोंकी क्रियाओंके अर्थात् श्रवण-कीर्त्तनादि भक्ति अङ्गोंके अनुष्ठानमें जो एक प्रकारकी व्यस्तता है उसीको यत्न कहते हैं। और प्रेम प्राप्तिके निमित्त जो बलवती उत्कण्ठा है, उसीको आग्रह कहते हैं। **भक्ति**—साधन-भक्ति, भक्ति अङ्गके अनुष्ठान। साधन-भक्तिका अनुष्ठान करनेसे भी साधकका उसके लिये उद्योग एवं आग्रह यदि न रहे, तो प्रेमकी प्राप्ति नहीं होती।

इस पयारके पूर्वके दो श्लोकोंमें एवं पश्चात्के दो श्लोकोंमें साधकके यत्नकी आवश्यकताका प्रमाण दिया है। पूर्वोक्त ५६ संख्यक् श्लोकमें कहा है--इन्द्रिय भोग्य सुखके लिये चेष्टा करनेकी कोई भी आवश्यकता नहीं है ; पूर्व-कर्मके फलसे दुःख जैसे हमारी किसी भी प्रकारकी चेष्टाके बिना ही अपने आप आ

उपस्थित होता है, सुख भी वैसे ही अपने आप आ उपस्थित हो जाता है—'**चक्रवत् परिवर्त्तन्ते दुःखानि च सुखानि च**'। किंतु भक्ति कभी भी अपने आप आकर उपस्थित नहीं होतीं, भक्ति-लाभके लिये विशेष चेष्टा करना आवश्यक है। ५७ संख्यक श्लोकमें भी बताया है—"भक्ति-लाभके लिये जिनको विशेष यत्न और आग्रह है, शीघ्र ही उनका अभीष्ट सिद्ध हो जाता है"। पश्चात् के ५९ संख्यक श्लोकमें भी बताया है—"जो यत्न और आग्रहके सहित प्रीतिपूर्वक श्रीकृष्णका भजन करते हैं; श्रीकृष्ण ही कृपा करके उनके चित्तमें ऐसी बुद्धि स्फुरित कर देते हैं, जिससे वे श्रीकृष्णको प्राप्त कर सकते हैं"। नीचेके ५८ संख्यक श्लोकमें बताया है—"शुद्धा-भक्ति सहजमें प्राप्त होनेवाली चीज नहीं है, यह सुदुर्लभ है"। यह सुदुर्लभत्व दो प्रकारका होता है; एक—यह भक्ति किसी भी समय किसी प्रकार भी पाई नहीं जा सकती; दूसरा—यह भक्ति मिलती तो है, किंतु सहजमें नहीं। जिनको साधनमें आसक्ति नहीं, अर्थात् भक्ति प्राप्त करनेके लिये जिनके हृदयमें उत्कण्ठा नहीं, चेष्टासे किसी प्रकारका आग्रह दिखायी नहीं देता, जिस कौशलद्वारा भजन करनेसे चित्तमें प्रेमका उन्मेष हो सके वह कौशल जो नहीं जानते, उस कौशलको जाननेके लिये भी जिनका आग्रह नहीं है—शत-सहस्र साधन करनेपर भी वे किसी भी समयमें प्रेम-भक्ति प्राप्त नहीं कर सकेंगे।

बहुजन्म करे यदि श्रवण-कीर्तन।
तथापि ना पाय कृष्ण-पदे प्रेमधन॥ (चै० च० आ० ८।१५)॥

श्रवण-कीर्त्तनादि ही प्रेम-भक्तिका साधन है; किंतु यत्न और आग्रह शून्य होकर बहुत जन्मोंपर्यन्त श्रवण-कीर्त्तनादि अनुष्ठान करनेपर भी प्रेम-भक्ति नहीं मिलेगी—मुक्ति आदि मिल सकती है, किंतु प्रेम नहीं मिलेगा। ऐसे साधकके लिये हरि-भक्ति एकदम अलभ्य है। और जिनको भजनमें यत्न और आग्रह है, वे प्रेम प्राप्त कर सकते हैं—किंतु सहसा नहीं। जबतक चित्तमें भुक्ति-मुक्ति आदिके लिये वासना रहेगी, तबतक प्रेम नहीं मिल सकता।

कृष्ण यदि छुटे भक्ते भुक्ति-मुक्ति दिया।
कभु प्रेम-भक्ति ना देय राखे लुकाइया॥(चै० च० आ० ८।१६)॥

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ (१।२।२२)—

साधनौघैरनासङ्गैरलभ्या सुचिरादपि ।
हरिणा चाश्वदेयेति द्विधा सा स्यात् सुदुर्लभा ।।५८।।

संस्कृतटीका—हरिणाचाश्वदेयेत्यत्रासङ्गेऽपीतिगम्यते । अन्यथा द्वैविध्यानुपपत्तेः । द्विधा सुदुर्लभेति प्रकारद्वयेनापि दुर्लभत्वं तस्या इत्यर्थः। ***। सासङ्गत्वं नाम च तदर्थविनियोगात् पूर्ववन्नैपुण्येन विहितत्वमेव । तत्साहस्रैरपि सुदुर्लभेत्युक्तिस्तु साक्षात्तद्भजनमेव कर्त्तव्यत्वेन प्रवर्तयति। ** अनासङ्गैरिति यदुक्तं तत्र चासङ्गेन साधन-नैपुण्यमेव बोध्यते तन्नैपुण्यञ्च साक्षात्तद्भजने प्रवृत्तिः । श्रीजीव ।

अन्वय—**अनासङ्गैः** (आसङ्गरहित—साक्षाद्भजनमें प्रवृत्तिहीन) **साधनौघैः** (साधन समूहद्वारा) **सुचिरादपि** (सुचिर कालमें भी—अनेक जन्मोंमें भी) **अलभ्या** (अलभ्या है),—**हरिणा च** (एवं श्रीहरि कर्त्तृक) **आशु** (शीघ्र—जबतक चित्तमें भुक्ति-मुक्तिकी कामना वर्तमान रहती है तबतक) **अदेया** (अदेया—दिये जानेके अयोग्य है)—**इति द्विधा** (इन दो प्रकारसे) **सुदुर्लभा** (सुदुर्लभा) **सा** (हरिभक्ति) **स्यात्** (है)।

अनुवाद—आसङ्गरहित (अर्थात् साक्षात् भजनमें प्रवृत्तिहीन) बहुत-बहुत साधनाद्वारा सुचिर कालमें भी (अनेक जन्मोंमें भी) अलभ्या है एवं (सासङ्ग साधनसे भी—साक्षात् भजनमें प्रवृत्तियुक्त साधनसे भी) श्रीकृष्ण कर्त्तृक आशु (शीघ्र—जबतक चित्तमें भुक्ति-मुक्ति-कामना वर्तमान रहती है, तबतक) अदेया है,—हरि भक्ति इन दो प्रकारसे सुदुर्लभा है ।

अनासङ्ग—आसङ्गहीन । आसङ्गसे साधन-नैपुण्यका बोध होता है एवं यह साधन-नैपुण्य हुआ साक्षात् भजनमें प्रवृत्ति (श्रीजीव गोस्वामीपाद) । इस प्रकार साक्षात् भजनमें प्रवृत्तिहीन **साधनौघैः**—साधन समूहद्वारा, शत-सहस्र साधनद्वारा भी हरिभक्ति **सुदुर्लभा**—हरि-भक्ति नहीं मिलती । श्रवण-कीर्त्तनादि साधन भक्तिके अनुष्ठानसे यदि साक्षात् भजनमें प्रवृत्ति न रहे—अपने ईष्टदेवकी प्रीतिके उद्देश्यसे उनका साक्षात् ही मैं श्रवण-कीर्त्तनादि करता हूँ, इस प्रकारका भाव यदि मनमें न रहे,—तो साधनके फलसे भक्ति प्राप्त नहीं होती ।

"बहुजन्म करे यदि श्रवण-कीर्त्तन। तथापि न पाय कृष्णपदे प्रेमधन॥"

इस पयारमें वही बात बतायी गयी है। साधनके अनुष्ठानके समय मनमें भावना करनी होगी—मैं अपनी सेवोपयोगी सिद्धदेहसे अपने अभीष्ट लीला-विलासी श्रीकृष्णके साक्षात् उपस्थित रहकर उनकी प्रीतिके लिये श्रवण-कीर्त्तनादि करता हूँ। इस प्रकार भक्ति-अङ्गका अनुष्ठान करनेसे ही हरिभक्ति प्राप्त हो सकती है; किंतु वह भी सहजमें नहीं—जबतक हृदयमें भुक्ति-मुक्ति-वासना रहेगी, तबतक हरिभक्ति नहीं मिलेगी। साधन करते-करते भगवान्‌की कृपासे या भक्तकी कृपासे जब चित्तसे समस्त दुर्वासना दूरीभूत हो जायगी, तभी भक्तिराणी कृपा करके हृदय-आसनको ग्रहण करेगी। इस प्रकार भजन करनेके लिये मनके संयोगकी आवश्यकता है और मनके संयोगके लिये यत्न और आग्रहकी आवश्यकता है।

पूर्ववर्ती पयारकी टीकामें इस श्लोकका तात्पर्य द्रष्टव्य। पूर्व पयारके शेषार्द्धके प्रमाणमें यह श्लोक है।

तथाहि श्रीभगवद्गीतायाम् (१०।१०)—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥५६॥

संस्कृतटीका—एवम्भूतानाञ्च सम्यग्ज्ञानमहं ददामीत्याह तेषामिति। एवं सततयुक्तानां मय्यासक्तचित्तानां प्रीतिपूर्वकं भजतां तं बुद्धिरूपं योगं उपायं ददामि। तमिति कं येनोपायेन ते मद्भक्ताः मां प्राप्नुवन्ति। स्वामी।

ननु तुष्यन्ति च रमन्ति चेति त्वदुक्त्या त्वद्भक्तानां भक्त्यैव परमानन्दो गुणातीत इत्यवगतं किन्तु तेषां त्वत्साक्षात्प्राप्तौ कः प्रकारः स च कुतः सकाशात्तैरवगन्तव्य इत्यपेक्षायामाह तेषामिति। सततयुक्तानां नित्यमेव मत्संयोगाकाङ्क्षिणां तं बुद्धियोगं ददामि तेषां हृद्वृत्तिष्वमेव उद्भावयामिति स बुद्धियोगः स्वतोऽन्यस्माच्च कुतश्चिदप्यधिगन्तुमशक्यः किन्तु मदेकदेयस्तदेकग्राह्य इति भावः। मामुपयान्ति मामुपलभ्यन्ते साक्षान्मन्निकटं प्राप्नुवन्ति। चक्रवर्ती।

अन्वय—**सततयुक्तानां** (जो लोग मेरेमें सतत आसक्त-चित्त हैं) **प्रीतिपूर्वकं भजतां** (जो लोग प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करते हैं) **तेषां** (उनको) **तं बुद्धियोगं** (वैसा ही बुद्धियोग) **ददामि** (मैं प्रदान करता हूँ) **येन** (जिस बुद्धियोगके द्वारा) **ते** (वे लोग) **मां उपयान्ति** (मुझे प्राप्त होते हैं)।

अनुवाद—भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनके प्रति कहते हैं—मुझमें सर्वदा आसक्त-चित्त होकर जो लोग प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करते हैं, मैं उनलोगोंको उसी प्रकारका बुद्धियोग प्रदान करता हूँ, जिसके द्वारा वे लोग मुझको प्राप्त करते हैं।

बुद्धियोग—बुद्धिरूप योगका उपाय। जिस प्रकार भजन करनेसे, या जिस उपायके अवलम्बन करनेसे श्रीकृष्णसेवा प्राप्त की जाय, श्रीकृष्ण ही अन्तर्यामी रूपसे चित्तमें उसकी स्फुरणा कर देते हैं—यही इस श्लोकमें कहा गया है। अतएव, अन्तर्यामी रूपसे भी जो श्रीकृष्ण शिक्षागुरुका काम करते हैं, यह इस श्लोकसे प्रमाणित हुआ।

श्लोकमें 'अन्तर्यामी' शब्द नहीं है, तो भी यह श्लोक अन्तर्यामीपरक कैसे हुआ ? 'बुद्धियोग' शब्दकी ध्वनिसे, यह अन्तर्यामीका कार्य है—यह समझा जाता है। बुद्धिका उद्भव चित्तमें होता है, अतएव जो चित्तमें अधिष्ठित हैं, अर्थात् जो अन्तर्यामी हैं, वे ही इस बुद्धिकी स्फुरणा करते हैं।

श्रीकृष्णको प्राप्त करनेका अर्थ है—श्रीकृष्णकी सेवा प्राप्त करना। जिस रूपयेको हम यथोपयुक्त भावसे व्यवहार न कर सकें, हमारे घरमें रहनेपर भी उस रुपयेको हमारा रुपया नहीं कहा जा सकता, यह रुपया मैंने पाया है—यह बात भी ठीक कही नहीं जा सकती। अधिकार उत्पन्न होनेपर ही प्राप्ति कहा जा सकता है। उसी प्रकार श्रीकृष्णमें यदि हमारा स्वरूपानुरूप स्वत्व या सम्बन्ध उत्पन्न हो, तभी हमको श्रीकृष्ण-प्राप्ति सिद्ध हो सकती है। श्रीकृष्णमें जीवका स्वरूपानुरूप स्वत्व क्या है ? जीव स्वरूपतः कृष्णदास है ; दासका कर्त्तव्य होता है सेवा ; प्रभुके निकट दासके लिये प्राप्य भी सेवा ही है ; अतएव सेवामें ही दासका स्वत्व है। श्रीकृष्णकी सेवामें ही कृष्णदास जीवका स्वत्व है ; अतएव श्रीकृष्णसेवा-प्राप्तिसे ही जीवको कृष्ण-प्राप्ति सिद्ध होती है।

पूर्व पयारकी टीका देखिये। यह श्लोक भी पूर्व पयारके प्रमाणमें है।

धैर्यशील आत्माराम

'आत्मा'-शब्दे–'धृति' कहे धैर्य्य जेइ रमे।

'धैर्य्यवन्त एव' हञा करये भजने ॥११६॥

'आत्मा'का 'धृत्ति' भी अर्थ, अतः जो रमण धैर्यमें करते जन।

वे धैर्यवान होकर भी हैं करने लगते श्रीकृष्ण-भजन ॥

'आत्मा' शब्दका 'धृति' अर्थ पकड़कर श्लोकका एक और अर्थ करते हैं। धृति--धैर्य। आत्माराम—धैर्यमें रमण करते हैं जो ; धैर्यशील।

'मुनि'-शब्दे-पक्षी, भृङ्ग; 'निर्ग्रन्थ'—मूर्खजन।

कृष्णकृपाय साधुकृपाय दोहार भजन ॥११७॥

'मुनि'का होगा 'खग', 'भृङ्ग' अर्थ, 'निर्ग्रन्थ' मूर्खजनका वाचक।

दोनों ही करते भजन ; कृष्ण या साधुकृपा होती प्रेरक ॥

इस पयारमें 'आत्मा' शब्दके 'धृति' अर्थके साथ मेल मिलाकर 'मुनि' और 'निर्ग्रन्थ' शब्दके अर्थ करते हैं। मुनि शब्दसे पक्षी और भृङ्ग (भ्रमर) का बोध होता है। अगले **'प्रायो बताम्ब...'** श्लोकमें पक्षीको और **'एतेऽलिनस्तवः...'** श्लोकमें भ्रमरको मुनि बताया गया है। मननशीलताके कारण ही पक्षी और भ्रमरको मुनि कहा गया है। **निर्ग्रन्थः** का अर्थ यहाँ मूर्ख है। **दोहार भजन**—पक्षी-भ्रमरादि एवं मूर्खजन, ये दोनों ही कृष्णभजन करते हैं।

आगेके ६०, ६२, और ६३ संख्यक श्लोकोंमें पक्षीगणका, ६१ संख्यक श्लोकमें भ्रमरगणका और ६४ संख्यक श्लोकमें किरात, हूण, अन्ध्र, पुलिन्द, पुक्कस, आभीर, शुक्ष्म, यवन, खस प्रभृति जातीय मूर्खलोगोंका श्रीकृष्णभजन दिखाया है।

तथाहि श्रीमद्भागवते (१०।२१।१४)—

प्रायो बताम्ब मुनयो विहगा वनेऽस्मिन्
कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतम् ।
आरुह्य ये द्रुमभुजान् रुचिरप्रवालान्
शृण्वन्त्यमीलितदृशो विगतान्यवाचः ॥६०॥

संस्कृतटीका—भो अम्ब मातः अस्मिन वने ये विहगाः पक्षिणस्ते प्रायेन मुनयो भवितुमर्हन्ति । कुतः ? कृष्णेक्षितं कृष्णदर्शनं पुष्पफलाद्यन्तरं बिना यथा भवति तथा रुचिराः प्रवालो येषां तान् द्रुमभुजान् वृक्षाणां शाखा आरुह्य तेन श्रीकृष्णेनोदितं प्रकटितं कलवेणुगीतं केनापि सुखेन अमीलितदृशस्त्यक्तान्यवाचश्च सन्तो ये शृण्वन्तीति । तथाहि मुनयः श्रीकृष्णदर्शनं यथा भवति तथा वेदोक्तकर्मफलपरित्यागेन वेदद्रुमशाखारूढ़ा रुचिरप्रवालस्थानीयानि कर्माण्येवोपाददानाः सुखिनः सन्तु श्रीकृष्णगीतमेव शृण्वन्ति अतस्त एवैते भवितुमर्हन्तीति भावः । स्वामी ।

अन्वय—**अम्ब** (हे माता) ! **अस्मिन् वने** (इस वनमें) **ये** (जो समस्त) **पक्षिणः** (पक्षी हैं) [ते] (वे) **प्रायः** (प्रायः) **मुनयः** (मुनि) [भवितुम अर्हन्ति] (होनेके योग्य हैं) । [यतः ते] (क्योंकि, वे सब) **कृष्णेक्षितं** (श्रीकृष्ण दर्शन जिस प्रकारसे हो सके, उसी प्रकार— जिससे उनके श्रीकृष्ण दर्शनमें बाधा न हो, उसी प्रकार) **रुचिरप्रवालान्** (मनोहर पत्रयुक्त) **द्रुमभुजान्** (वृक्ष शिखापर) **आरुह्य** (आरोहण करके) **अमीलितदृशः** (निमीलित नयनसे) **विगतान्यवाचः** (अन्य वाक्यरहित होकर— निःशब्द होकर) **तदुदितं** (श्रीकृष्ण कर्त्तृक प्रकटित) **कलवेणुगीतं** (मधुर वेणुगीत) **शृण्वन्ति** (श्रवण करते हैं) ।

अनुवाद—हे माता ! इस वृन्दावनके जो पक्षीगण हैं, वे भी प्रायः मुनि लोग हैं, कारण (उनके आचरण मुनि तुल्य है, क्योंकि) वे सब श्रीकृष्ण दर्शनार्थ मनोहर पत्रयुक्त वृक्षशाखाओंपर आरोहण करके निःशब्द होकर एवं निमीलित नयनोंसे श्रीकृष्णद्वारा प्रकटित मधुर वेणुगीत श्रवण करते हैं ।

मुनिगण जिस प्रकार निमीलित नयनोंसे और निःशब्द होकर (अर्थात् मौन धारण कर) श्रीकृष्णका वेणु-गीत श्रवण करते हैं, उसी प्रकार श्रीवृन्दावनस्थ पक्षीगण भी कृष्णेक्षितं—श्रीकृष्ण दर्शन जिससे हो सके, ऐसे भावसे—वृक्षस्थ पत्र-पुष्प-फलादि जिससे उनके श्रीकृष्ण दर्शनमें बाधा न कर सके, ऐसे भावसे (अर्थात् ऐसी मुद्रासे), रुचिरप्रवालं—रुचिर (मनोहर) प्रवाल (पत्र) हैं जिनमें, ऐसे द्रुमभुजान—द्रुमके (वृक्षके) भुज (शाखा) समूहपर आरोहण करके, ऐसे शाखा समूहपर बैठकर मीलितदृशः— मीलित (निमीलित) हुए हैं दृक् (नयन) जिनके, ऐसे बनकर निमीलित नयनोंद्वारा एवं विगतान्यवाचः—विगत (विशेष रूपसे दूरीभूत हुए हैं) अन्यवाक्य (श्रीकृष्णके वेणु-गीतके अतिरिक्त अन्य शब्द) जिनसे —अन्य किसी भी प्रकारके शब्द जिनके मुखसे बाहर नहीं निकलते, जिनके कानमें प्रवेश नहीं करते, जिनके मनके ऊपर भी क्रिया नहीं करते, ऐसे बनकर—श्रीकृष्णके वेणु-गीतको छोड़कर अन्य किसी भी प्रकारके शब्दके साथ सम्यक् रूपसे सम्पर्क शून्य होकर एकाग्र चित्तसे श्रीकृष्णके कलवेणुगीतं—कल (मधुर) वेणु-गीत श्रवण करते हैं। इस प्रकार श्रीकृष्णके वेणु-गीतको सुनना भजनका ही एक अङ्ग है ; मुनियोंकी तरह आचरणशील होकर वृन्दावनस्थ पक्षीगण भी इस भजनाङ्गका अनुष्ठान करते हैं एवं श्रीकृष्णकी कृपा ही इसका एकमात्र हेतु है—नहीं तो पक्षीगणके लिये श्रीकृष्णके वेणु-गीतको सुननेके लिये इतना आग्रह और यत्न सम्भव नहीं।

अथवा, सनकादि-मुनिगण ही पक्षीरूप धारण करके वृन्दावनमें वृक्ष-शाखापर बैठकर श्रीकृष्णका वेणु-गीत श्रवण करते हैं (वैष्णव-तोषणी) ; इसीसे पक्षीगणको मुनयः—मुनिगण कहा गया है।

तथाहि श्रीमद्भागवते (१०।१५।६)—

एतेऽलिनस्तव यशोऽखिललोकतीर्थं
गायन्त आदिपुरुषानुपथं भजन्ते।
प्रायो अमी मुनिगणा भवदीयमुख्याः
गूढं वनेऽपि जहत्यनघात्मदैवम् ॥६१॥

संस्कृतटीका—हे अनघ ! वने गूढमपि त्वां न त्यजन्ति त्वयि मनुष्य-वेशेन निगूढ़े सति मुनयोऽप्यलिवेशेन निगूढ़ास्त्वां भजन्तीत्यर्थः। स्वामी।

अन्वय—**आदिपुरुष** (हे आदिपुरुष बल्देव) ! **एते** (ये सब) **अलिनः** (भ्रमर) **तव** (तुम्हारे) **अखिललोकतीर्थं** (अखिल-लोक-पावन) **यशः** (यशका) **गायन्तः** (गान करते-करते) **अनुपथं** (पथ-पथमें) **भजन्ते** (भजन करते हैं—तुम्हारा अनुगमन करते हैं)। **अनघ** (हे अनघ—परम कारुणिक) ! **अमी** (ये सब—ये भ्रमरगण) **प्रायः** (प्रायः ही) **भवदीयमुख्याः** (तुम्हारे भक्तोंमें श्रेष्ठ) **मुनिगणाः** (मुनिगण ही) **वने** (श्रीवृन्दावनमें) **गूढम् अपि** (गोपनीय भावसे अवस्थित) **आत्मदैवं** (अपने अभीष्टदेव तुमको) **न जहति** (त्याग नहीं करते)।

अनुवाद—हे आदिपुरुष बल्देव ! ये भ्रमरगण तुम्हारे अखिल-लोक-पावन यशका गान करते-करते पथ-पथमें तुम्हारा अनुगमन करते हैं। हे अनघ ! ये सभी प्रायः तुम्हारे सेवक प्रधान मुनिगण हैं, ये वृन्दावनमें गोपनीय भावसे विचरणकारी अपने अभीष्टदेव तुम्हारा त्याग नहीं करते हैं।

श्रीश्रीकृष्ण-बलराम वृन्दावनके वनमें विचरण करते हैं, उनके अङ्ग-सौरभसे आकृष्ट होकर भ्रमरगण गुन्-गुन् शब्द करते-करते उनका अनुसरण करते हैं ; उसको देखकर श्रीकृष्ण अपने अग्रज बल्देवसे कहते हैं—'ये भ्रमरगण गुन्-गुन् ध्वनिसे तुम्हारी यशराशिका कीर्त्तन करते हैं ; तुम्हारे सेवकश्रेष्ठ मुनिगण ही, हो सकता है कि भ्रमरका रूप धारण करके तुम्हारा यश-कीर्त्तन करते-करते तुम्हारा अनुसरण करते हैं ; तुम जैसे मानुषी-लीलाके आवरणमें गोपनीय भावसे विचरण करते हो, तुम्हारे सेवकगण भी उसी प्रकार गोपनीय भावसे भ्रमरके वेशमें तुम्हारी सेवा करते हैं।

अखिल-लोकतीर्थं—अखिल (समस्त) लोकोंमें तीर्थ सदृश (परम पावन), सकल लोक पावन ; श्रीबल्देवकी यशोराशि (महिमा) श्रवण करनेसे—तीर्थ स्पर्शसे जैसे लोग पवित्र होते हैं, वैसे—सभी लोग पवित्र हो सकते हैं इसलिये उनके यश अर्थात महिमाको अखिल-लोक-तीर्थ कहा गया है। ऐसी महिमाका कीर्त्तन करते-करते भ्रमरगण श्रीबल्देवके पीछे-पीछे अनुसरण करते हैं। **अनघ**—सेवकोंका अघ (अपराध) नहीं है जिनके निकट ; जो सेवकोंके अपराधको ग्रहण नहीं करते कृपावश

होकर ; अर्थात् जो करुण हैं वे ही अनघ हैं। यहाँ 'अनघ' शब्दसे श्रीबल्देवकी परम-कारुणिकता सूचित होती है। ये सब भ्रमर गुन्-गुन् रवद्वारा बल्देवका गुण-गान करते-करते, उनका अनुसरण करते हैं, उनके सम्बन्धमें श्रीकृष्ण बल्देवसे कहते हैं—ये भवदीयमुख्याः--तुम्हारे भक्तोंमें मुख्य (श्रेष्ठ) ; तुम्हारे स्वयं-रूपके भक्त भी हैं, तुम्हारे अन्यान्य-स्वरूपोंके भक्त भी हैं ; अन्यान्य स्वरूपोंकी अपेक्षा स्वयंरूप श्रेष्ठ होनेसे, अन्यान्य-स्वरूपके उपासककी अपेक्षा स्वयंरूपके उपासक भी श्रेष्ठ हुए ; ऐसे तुम्हारे भक्त-श्रेष्ठ—तुम्हारे स्वयंरूपके उपासक **मुनिगणाः**—मुनिगण ही (तुम्हारे भक्तश्रेष्ठ मुनिगण ही भ्रमरके वेशमें यहाँपर भी तुम्हारा गुण-कीर्त्तन रूप भजन करते हैं ; वे सब) इस **वने**—वृन्दावनमें **गूढ़म् अपि आत्मदैवं**—मनुष्य-लीलाके आवरणसे गूढ़ (गोपनीय) भावसे अवस्थित रहनेपर भी अपने आत्मदैवका (अभीष्ट देव तुमको) न जहति (छोड़ते नहीं)। तुम जैसे आत्मगोपन करके यहाँपर क्रीड़ा करते हो, वे भी उसी प्रकार भ्रमरके वेशमें आत्मगोपन करके तुम्हारी सेवा करते हैं—वे तुमको छोड़ते नहीं एवं आत्मगोपन करके रहनेपर भी उन्होंने तुमको पहचान लिया है।

पूर्व पयारमें बताया गया है कि भृङ्ग—भ्रमर भी श्रीकृष्णभजन करते रहते हैं ; इस श्लोकमें दिखाया गया कि भ्रमरगण भगवत् यशोगान रूप भजन करते रहते हैं ; इस प्रकार यह श्लोक पूर्व पयारके प्रमाणमें है।

तथाहि श्रीमद्भागवते (१०।१५।७)—

नृत्यन्त्यमी शिखिन ईड्य मुदा हरिण्यः
कुर्वन्ति गोप्य इव ते प्रियमिक्षणेन।
सूक्तैश्च कोकिलगणा गृहमागताय
धन्या वनौकस इयान् हि सतां निसर्गः ॥६२॥

संस्कृतटीका—इयान हि सतां निसर्ग इति। यदस्ति स्वस्मिस्तद्गृहमागताय महते महापुरुषाय समर्पयन्तीति। स्वामी।

अन्वय—ईड्य (हे स्तवनीय)! अमी शिखिनः (ये मयूरगण) मुदा (हर्षसे—आनन्दसे) नृत्यन्ति (नृत्य करते हैं)। हरिण्यः (हरिणीगण) गोप्य इव (गोपी-

गणकी तरह) **ईक्षणेन** (दृष्टिद्वारा), **कोकिलगणाः** (एवं कोकिलगण) **सुक्तैः** (मधुर शब्दद्वारा) **ते** (तुम्हारा) **प्रियं** (प्रिय कार्य) **कुर्वन्ति** (करती हैं) ; **[अतः एते]** (अतएव ये) **वनौकसः** (वनवासीगण) **धन्याः** हि (कृतार्थ हैं), **[यतः]** (क्योंकि) **इयान्** (ये सब—गृहागत व्यक्तिके लिये उनके सम्मानार्थ नृत्यादि प्रिय कार्य) **सतां** (साधुगणका) **निसर्गः** (स्वभाव होता है)।

अनुवाद—हे स्तवनीय ! ये मयूरगण आनन्दसे नृत्य करते हैं ; ये नृत्यद्वारा ही गृहागत तुम्हारा प्रिय साधन करते हैं। इसी प्रकार हरिणीगण भी गोपी-गणकी तरह दृष्टिद्वारा एवं कोकिलगण मधुर शब्दद्वारा तुम्हारा प्रिय साधन करती हैं। अतएव ये वनवासीगण धन्य हैं, कारण गृहागत व्यक्तिके लिये अपनी वस्तुके निवेदन करनेका आग्रह ही साधुगणका स्वभाव होता है।

श्रीश्रीकृष्ण-बलराम वनमें विचरण करते हैं, उनको देखकर मयूरगण आनन्दसे नृत्य करते हैं, कोकिलगण मधुर कुहु ध्वनि करती हैं एवं हरिणीगण उनकी ओर देखती रहती हैं—गोपीगण जिस प्रकार देखती रहती हैं, ठीक उसी प्रकार। अग्रज बल्देवसे श्रीकृष्ण कहते हैं—भैया ! यह वन ही इन सब मयूर, कोकिल और हरिणी-गणका घर है ; गृह-स्वामी जिस प्रकार गृहागत अतिथिके प्रति सम्मान प्रदर्शनार्थ नृत्य-गीतादि करते रहते हैं, प्रीतिपूर्ण नेत्रोंसे अतिथिके प्रति देखते रहते हैं—उसी प्रकार इन मयूर-कोकिलादिके गृहस्वरूप वनमें उनके अतिथिस्वरूप तुम उपस्थित हुए हो, इसलिये उन्हें अत्यन्त आनन्द हुआ है, इसीसे वे तुम्हारे प्रति सम्मान प्रदर्शनार्थ तुम्हारा प्रिय कार्य कर रहे हैं—तुम्हारे ही प्रति प्रीति प्रकाशनार्थ मयूर नृत्य करते हैं, कोकिल मधुर कुहु रव कर रही हैं एवं हरिणीगण प्रीतिपूर्ण दृष्टिसे तुम्हारे प्रति देख रही हैं।

तथाहि श्रीमद्भागवते (१०।३५।११)—

सरसि सारस-हंस-विहङ्गा
श्चारु-गीत-हृत-चेतस एत्य।
हरिमुपासत ते यतचित्ता
हन्त मीलित-दृशो धृतमौनाः ॥६३॥

संस्कृतटीका—तर्हि ये सरसि सारसा हंसा अन्ये च विहगास्ते चारुणा गीतेन हृतचेतस एत्य ततः आगत्य हरिमुपासत अभजन्त तत्समीपे उपविविशुर्वा। हन्तेति विषादे। स्वामी।

अन्वय—सरसि (सरोवरमें—सरोवर स्थित) सारस-हंस-विहङ्गाः (सारस-हंसादि जलचर पक्षीगण) चारुगीतहृतचेतसः (श्रीकृष्णके मनोहर वंशी-गीतसे आकृष्ट चित्त हैं); ते (वे) एत्य (सरोवरसे श्रीकृष्णके निकट आकर) यतचित्ताः (संयत चित्त), मीलितदृशः (निमीलित नेत्र), धृतमौनाः (मौनी) [सन्तः] (होकर) हरिं (श्रीहरिको) उपासत (उपासते—भजते हैं)।

अनुवाद—सरोवरस्थ सारस-हंसादि जलचर पक्षीगण श्रीकृष्णके मनोहर वंशी-गीतसे आकृष्ट चित्त होकर सरोवरसे श्रीकृष्णके निकट आकर मौन भावसे, संयत चित्तसे और निमीलित नयनोंसे श्रीकृष्णकी उपासना करते रहते हैं।

तथाहि श्रीमद्भागवते (२।४।१८)—

किरातहुणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा
आभीरशुह्मा यवनाः खसादयः!
येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः
शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥६४॥

संस्कृतटीका—भक्तेः परमशुद्धिहेतुत्वं दर्शयन्नाह। किरातादयो ये पापजातयः, अन्ये च ये कर्मतः पापरूपान्ते। यदपाश्रया भागवतास्तदाश्रयाः सन्तः। असम्भवनाशङ्कां परिहरति, प्रभविष्णवे प्रभवनशीलायेति। स्वामी।

अन्वय—किरात-हूणान्ध्र-पुलिन्द-पुल्कसाः (किरात, हूण, अन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस), आभीरशुह्माः (आभीर, शुह्म), यवनाः (यवन) खसादयः(खस प्रभृति), ये (जो समस्त) पापाः (पाप जाति हैं) अन्ये च (एवं अन्य जो लोग) [पापाः] (कर्मवश पापात्मा हैं) [ते अपि] (वे भी) यदपाश्रयाश्रयाः (जिन भगवान्के भक्तगणके आश्रित) [सन्तः] (होकर) शुद्ध्यन्ति (पवित्र होते हैं), तस्मै प्रभविष्णवे (प्रभावशाली उन्हीं भगवान्को) नमः (नमस्कार है)।

अनुवाद—महाराज परीक्षितसे श्रीशुकदेवजी बोले—किरात, हूण, अन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, शुक्ष्म, यवन, खस प्रभृति जो समस्त पाप जातियाँ हैं और दूसरे जो कर्मवश पापात्मा हैं, वे भी जिन भगवान्के आश्रित भक्त-गणका आश्रय ग्रहण करके पवित्र होते हैं, उन प्रभावशाली भगवान्को प्रणाम करता हूँ।

पापाः—पाप-कर्म-वश जिन्होंने किरातादि हीन जातियोंमें जन्म-ग्रहण किया है। **अन्ये च**—अन्यान्य जो पापकर्म करते हैं। **यदपाश्रयाश्रयाः**—अप (यज्ञकर्म—भगवद्भजन रूप यज्ञकर्म ही) आश्रय (अवलम्बन है) जिनका, वे हैं अपाश्रय; भक्त। वे ही हैं आश्रय जिनके, अपाश्रयगणका आश्रय ग्रहण किया है जिन्होंने वे हैं अपाश्रयाश्रया; भक्तके आश्रित। **यत्** (जिन भगवान्के) अपाश्रय (भक्त)—यदपाश्रय; उनके आश्रयमें हैं जो, वे हुए यदपाश्रयाश्रयाः।

भगवद्भक्तगण पतित-पावन हैं। उनकी शरण ग्रहण करनेसे, भगवद्भक्तकी कृपासे भजनमें प्रवृत्ति होनेपर ही किरात-हूणादिके दुर्जातित्वजनक प्रारब्ध पाप विनष्ट हो जाते हैं, अतः उनका दुर्जातित्व फिर नहीं रहता; व्यावहारिक भावसे जातिरूपसे परिचित होनेपर भी पारमार्थिक भावसे तब वे परम् पवित्र हो जाते हैं; और उच्चकुलमें जन्म ग्रहण करके भी जो पापकर्मोंमें रत हैं, भक्तकी कृपासे उनकी भी पापकर्ममें प्रवृत्ति दूरीभूत हो जाती है, अतः वे भी पवित्र हो जाते हैं। जिनके भक्तकी ऐसी महिमा है उन भगवान्को इस श्लोकमें अद्भुत प्रभावशाली बताया है। उनके अद्भुत प्रभावशाली होनेसे ही, उनके भक्तोंकी पतित-पावनत्व रूप महिमा है।

'आभीर-शुक्ष्मा'की जगह **'आभीर-कङ्का'** पाठान्तर भी मिलता है—आभीर और कङ्का।

पूर्व पयारमें बताया है कि **'निर्ग्रन्था'**—मूर्ख-जन भी कृष्ण-कृपासे या साधु-कृपासे श्रीकृष्ण-भजन करते रहते हैं। इस श्लोकके किरात-हूणादि जातीय लोग ही मूर्ख-जन हैं। ये भी भगवद्भक्तकी कृपासे कृष्णभजन करते रहते हैं—यही इस श्लोकसे जाना गया। इस प्रकार यह श्लोक पूर्व पयारका प्रमाण हुआ।

किंवा 'धृति' शब्दे—निजपूर्णताज्ञान कय।
दुःखाभावे उत्तमप्राप्त्ये महापूर्ण हय ॥११८॥

'धृति' पदका यह भी अर्थ—ज्ञान निज परमपूर्णताका होना।
है महापूर्णता—श्रेष्ठ कृष्ण-रति पाना, दुःखोंको खोना॥

पूर्ववर्ती ११६वें पयारमें 'आत्मा' शब्दका 'धृति' अर्थ करके 'धृति' शब्दका 'धैर्य' अर्थ किया गया है। अब 'धृति' शब्दका अन्य अर्थ करते हैं।

धृति—भगवत् अनुभवसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह, उसके कारण दुःख-शून्यता एवं भगवत् सम्बन्धी प्रेम प्राप्त करनेका कठिन मनमें जो चञ्चलताका अभाव जन्मता है एवं उसके कारण जो पूर्णताका ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको भी धृति कहते हैं। यह धृति जिनको है—अप्राप्त वस्तुके लिये, अथवा नष्ट वस्तुके लिये उनको किसी भी प्रकारका दुःख नहीं होता।

निजपूर्णता-ज्ञान—अपनी पूर्णताका ज्ञान; अभावशून्यताका ज्ञान; मनकी स्थिरता। भगवत् अनुभूतिसे ही यह ज्ञान हो सकता है। इन्द्रिय-भोग्य वस्तुके संश्रवसे ही हमारे चित्तमें अभावका बोध एवं चञ्चलता उत्पन्न होती है। जिनको भगवत् अनुभूति हो गयी है, इन्द्रिय-भोग्य वस्तुमें उनकी और कोई भी आसक्ति नहीं रहती, अतः मनकी चञ्चलता भी नहीं रहती। उनका चित्त भगवान्के अनुभवजनित आनन्दसे सर्वदा परिपूर्ण रहता है। इस प्रकारके व्यक्तिको भी धृतिमान् कहते हैं।

दुःखाभावे इत्यादि—पूर्णता-ज्ञान कैसे होता है—यह बताते हैं। दुःखका अभाव एवं उत्तम वस्तुकी प्राप्ति—इन दो कारणोंसे पूर्णता ज्ञान होता है। मायिक वस्तुमें आसक्ति न रहनेसे दुःखाभाव होता है; और उत्तम वस्तु भगवत्-सम्बन्धी प्रेम लाभ होनेसे अभावशून्यता और प्रेमानन्द-पूर्णता होती है। ऐसे धृतिमान लोग जो हैं, उनको कोई भी अभाव न रहनेपर भी एवं हृदय प्रेमानन्दसे पूर्ण रहनेपर भी—वे श्रीकृष्णभजन करते हैं, ऐसी ही परम आश्चर्यमय श्रीकृष्णकी गुण-महिमा है।

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ (२।४।७१)—

धृतिः स्यात् पूर्णता ज्ञानदुःखाभावोत्तमाप्तिभिः ।
अप्राप्तातीतनष्टार्थानभिसंशोचनादिकृत् ॥६५॥

संस्कृतटीका—ज्ञानेन भगवदनुभवेन तथा भगवत्-सम्बन्धेन यो दुःखाभावस्तेन तथा उत्तमस्य भगवत्-सम्बन्धितया परमपुरुषार्थस्य प्रेम्नः प्राप्त्या च या पूर्णता मनसोऽचाञ्चल्यं सा धृतिरित्यर्थः । श्रीजीव ।

अन्वय—ज्ञानदुःखाभावोत्तमाप्तिभिः (ज्ञान, दुःखाभाव एवं भगवत् सम्बन्धीय प्रेमरूप उत्तम वस्तुकी प्राप्तिके हेतु) पूर्णता (पूर्णता या मनका अचाञ्चल्य) धृतिः (धृति) स्यात् (होता है) । अप्राप्तातीतनष्टार्थानभिसंशोचनादिकृत् (यह धृति—अप्राप्त, अतीत एवं नष्ट विषयके लिये अनुशोचनाका अभाव उत्पन्न करती है) ।

अनुवाद—ज्ञान, दुःखाभाव एवं भगवत् सम्बन्धीय प्रेम रूप उत्तम वस्तुकी प्राप्तिके हेतु मनके अचाञ्चल्यको धृति कहते हैं । अप्राप्त, अतीत एवं नष्ट विषयके लिये शोक न करना ही इसका अनुभाव है ।

ज्ञानदुःखाभावोत्तमाप्तिभिः—ज्ञान (भगवत् अनुभव स्वरूप ज्ञान), दुःखाभाव (आनन्द स्वरूप भगवान्‌के सम्बन्धवश जो दुःखका अभाव है, वह) एवं उत्तम वस्तुकी (भगवत् सम्बन्धीय प्रेम रूप उत्तम वस्तुकी) आप्ति (प्राप्ति या लाभ) के कारण जो **पूर्णता—**चित्तकी चाञ्चल्यहीनता, चित्तमें स्थिरता है, उसे धैर्य कहते हैं । यह हुआ धृतिका स्वरूप लक्षण । स्वरूप लक्षण बताकर अब तटस्थ लक्षण भी बताते हैं । **अप्राप्तातीतनष्टार्थानभिसंशोचनादिकृत्—**अप्राप्त (जो अभीष्ट वस्तु न मिले), अतीत (जो अभीष्ट वस्तु पूर्वकालमें थी अब नहीं है—अपने आप ही जो समाप्त हो गयी, अथवा भोगके द्वारा जो क्षयको प्राप्त हो गयी है) एवं नष्ट (जो भोगके पूर्व ही नष्ट हो गयी है—ऐसी) जो अर्थ (काम्य वस्तु है), उसके लिये **अनभिसंशोचनादि—न अभिसंशोचनादि** (शोकादि या अनुशोचनादि) **कृत्** (करे जो) ; अप्राप्तातीत अभीष्टवस्तुके लिये शोकका अभाव आदि उत्पन्न करे जो— वह हुई धृति ; अर्थात् जिनको धृति है, वे कभी भी अभीष्ट वस्तुके न मिलनेपर, अथवा अभीष्ट वस्तुके नष्ट

हो जानेपर, उसके लिये दुःखित नहीं होते; यह हुआ धृतिका तटस्थ लक्षण या कार्य या अनुभाव। पूर्व पयारके प्रमाणमें यह श्लोक है।

कृष्णभक्त दुःखहीन वाञ्छान्तरहीन।
कृष्णप्रेमसेवा पूर्णानन्द प्रवीण ॥११९॥

श्रीकृष्ण-भक्तको दुःख कहाँ? वाञ्छा न उसे कोई किञ्चित।
श्रीकृष्ण-प्रेमसेवा रूपी आनन्द पूर्णसे मन पूरित॥

एकमात्र श्रीकृष्ण भक्तोंमें ही पूर्व पयारोक्त धृति या पूर्णता रह सकती है, यह बता रहे हैं। कृष्णभक्त इत्यादि—श्रीकृष्णसेवाकी वासनाके अतिरिक्त कृष्णभक्तको और कोई भी वासना नहीं रहती (वाञ्छान्तरहीन) अतः ; अन्य वासनाकी अपूर्तिजनित दुःखादि भी उनको नहीं होते (वे दुःखहीन होते हैं)। और अत्यन्त प्रीतिके साथ श्रीकृष्णसेवा करते रहनेसे सेवानन्दसे उनका हृदय सर्वदा पूर्ण रहता है। सेवानन्दसे हृदय पूर्ण रहनेसे उनको किसी भी अभावका बोध नहीं होता—किसी भी वस्तुकी वे कामना नहीं करते ; अन्य वस्तु तो दूर रही, वे सालोक्यादि चतुर्विध मुक्ति पर्यन्तकी भी कामना नहीं करते। अतएव कृष्णभक्त ही वास्तवमें धृतिवान हैं। "कृष्णभक्त निष्काम अतएव शान्त। चै० च० म० १९।१३२॥"

किसी किसी ग्रन्थमें 'कृष्णप्रेम सेवा'की जगह 'कृष्णानन्द-सेवा' पाठ भी है।

पूर्णानन्द प्रवीण —पूर्णानन्दमें प्रवीण (श्रेष्ठ) ; पूर्णतम रूपसे आनन्दित।

इस पयारके प्रमाणमें नीचे दो श्लोक उद्धत हुये हैं।

तथाहि श्रीमद्भागवते (९।४।६७)--

मत्सेवया प्रतीतं ते सालोक्यादि-चतुष्टयम्।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत्कालविप्लुतम् ॥६६॥

संस्कृतटीका—तेषां निष्कामत्वस्य परमकाष्टामाह मत्सेवयेति। प्रतीतं स्वतः प्राप्तमपि कुतोऽन्यदिति सालोक्यादीनां कालेनाविप्लुतत्वं दर्शयति कालविप्लुतत्वं पारमेष्ठ्यादि। चक्रवर्ती।

अन्वय—**सेवया** (मेरी सेवाद्वारा) **पूर्णाः** (परिपूर्ण—पूर्ण मनोरथ हैं) **ते** (वे—मेरे भक्तगण) **मत्सेवया** (मेरी सेवाके प्रभावसे) **प्रतीतं** (अपने आप समागत) **सालोक्यादिचतुष्टयं** (सालोक्यादि मुक्ति चतुष्टयको) [अपि] (भी) **न इच्छति** (ग्रहणकरनेकी इच्छा नहीं करते) ; **कालविप्लुतं** (कालके प्रभावसे जो ध्वंसको प्राप्त हो, इस प्रकारके) **अन्यत्** (अन्य कुछ—स्वर्गादि) **कुतः** (किस निमित्त ग्रहण करेंगे) ?

अनुवाद—श्रीभगवान् वैकुण्ठनाथने दुर्वासाको कहा— मेरे सेवासुखसे परिपूर्ण मेरे भक्तगण—मेरी सेवाके प्रभावसे अनायास ही जो प्राप्त हो जाती है, उन सालोक्यादि मुक्तिचतुष्टयको भी जब ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं करते, तब जो कालप्रभावसे विनष्ट हो जाते हैं, ऐसी स्वर्गादि अन्य वस्तुएँ वे किस निमित्त ग्रहण करेंगे ?

जिसको जिस विषयका अभाव हो, उस विषयकी प्राप्तिके लिये उसको वासना उत्पन्न होती है ; जिसको कुछ भी अभाव न हो, उसके चित्तमें कोई भी वासना उत्पन्न नहीं हो सकती। भगवद्-भक्तोंका चित्त भगवत्-सेवा-सुखसे ही परिपूर्ण रहता है, उनको किसी भी विषयका कोई भी अभाव नहीं है ; इसलिये उनके चित्तमें किसी भी विषयके लिये कोई भी वासना उत्पन्न होनेकी सम्भावना नहीं। इसलिये ही भक्तगण सालोक्यादि-मुक्ति-चतुष्टय अनायास ही हस्तगत होनेपर भी ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं करते ; कारण, उसके लिये उनको कोई भी प्रयोजन-बोध नहीं होता। सालोक्यादि-मुक्तिचतुष्टय नित्य हैं, अविनश्वर हैं ; उनको भी जब वे नहीं चाहते, तब इहकालके-सुख-सम्पद् या परकालके स्वर्गादि—जो कालप्रभावसे विनष्ट हो जायेंगे, उनकी वे क्यों इच्छा करेंगे ? मोटामोटी बात यह है कि सेवा-सुखसे उनका चित्त सर्वदा परिपूर्ण रहनेके कारण भक्तगणको स्वसुख-वासनाका और अवकाश नहीं है।

सालोक्यादिचतुष्टय—सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य और सारूप्य—ये चार प्रकारकी मुक्ति हैं। **'कुतोऽन्यत् कालविप्लुतम्'** वाक्यमें सालोक्यादि मुक्ति चतुष्टय कालप्रभावसे क्षयको प्राप्त नहीं होती, यही ध्वनित होता है।

अन्य वस्तुकी बात तो दूर रही सालोक्यादि मुक्तिकी भी कृष्णभक्त कामना

नहीं करते—अतएव वे 'कृष्ण-प्रेम सेवा-पूर्णानन्द-प्रवीण' हैं—यही इस श्लोकसे जाना गया। इस तरह यह पूर्व पयारका प्रमाण हुआ।

तथाहि गोस्वामीपादोक्त श्लोकः—

हृषीकेशे हृषीकाणि यस्य स्थैर्यगतानि हि।
स एव धैर्यमाप्नोति संसारे जीवचञ्चले ॥६७॥

संस्कृतटीका—हृषिकाणि इन्द्रियाणि। जीवचञ्चले जीवः चञ्चलः यत्र तस्मिन्। चक्रवर्ती।

अन्वय—यस्य (जिनका) हृषीकाणि (इन्द्रिय समूह) हृषीकेशे (हृषीकेश श्रीकृष्णमें) स्थैर्यगतानि (स्थिरताको प्राप्त हुआ है) हि (निश्चित) स एव (वे ही) जीवचञ्चले (जीवचञ्चल) संसारे (संसारमें) धैर्यं (धैर्य) आप्नोति (प्राप्त करते हैं)।

अनुवाद—हृषीकेश-श्रीकृष्णमें जिनका इन्द्रियवर्ग स्थिरताको प्राप्त हुआ है (अर्थात् समस्त इन्द्रियोंको जिन्होंने एकमात्र श्रीकृष्ण-सेवामें नियोजित किया है) इस जीव-चञ्चल संसारमें वे ही धैर्य प्राप्त करते हैं।

हृषीकेश—हृषीक (इन्द्रिय) समूहके ईश (अधिपति) हैं जो, वे हृषीकेश श्रीकृष्ण। इन्द्रियसमूहके अधिपति हुए श्रीकृष्ण; अतः श्रीकृष्ण-सेवामें समस्त इन्द्रियोंको सम्यक रूपसे—अविचलित भावसे—नियोजित कर सकनेपर ही इन्द्रियसमूह श्रीकृष्णमें स्थिरताको प्राप्त हो सकता है; तब श्रीकृष्णको छोड़कर—श्रीकृष्णकी सेवा छोड़कर कोई भी इन्द्रिय अत्यल्प समयके लिये भी धावित नहीं होती। इस प्रकार जो कर सके हैं, इस जीवचञ्चले—जीव (कर्म-फल भोगके निमित्त सर्वदा विभिन्न योनियोंमें आने-जानेसे) चञ्चल (अस्थिर) हैं जहाँपर, ऐसे संसारमें वे ही धैर्य प्राप्त कर सकते हैं, दूसरा कोई नहीं कर सकता।

यह श्लोक भी पूर्व पयारके प्रमाणमें है।

'च'—अवधारणे इहाँ, 'अपि'—समुच्चये।
धृतिमन्त हञा भजे पक्षि-मूर्खचये ॥१२०॥

है 'च' पद यहाँ निश्चय-वाचक, 'अपि' तथा समुच्चयका बोधक।
होकर धृतियुक्त भजन करती विहगों-मूर्खोंकी टोलीतक॥

'आत्मा' शब्दके 'धृति' अर्थके साथ श्लोकोक्त 'च' और 'अपि' शब्दोंका क्या अर्थ होगा, यह बता रहे हैं। **च-अवधारणे**—'च' शब्दसे अवधारण या निश्चय समझा जाता है। **अपि-समुच्चये**—'अपि' शब्दसे समुच्चय समझा जाता है; अर्थात् 'मुनयो निर्ग्रन्था अपि' द्वारा मुनिगण एवं निर्ग्रन्थगण, सभी कृष्ण-भजन करते हैं, यही 'अपि'का समुच्चयार्थमें तात्पर्य है।

११६, ११७ और १२० पयारोक्त अर्थानुसार 'आत्माराम…' श्लोकका अर्थ इस प्रकार होगा :—

निर्ग्रन्थाः (मूर्खाः किरातादयः नीचाः) मुनयः (पक्षिणः भ्रमराः वा) अपि आत्मारामाः (धैर्यशीलाः सन्तः) च उरुक्रमे अहैतुकीं भक्तिं कुर्वन्ति—हरिः इत्थम्भूतगुणः।

उक्त अन्वयके अनुसार श्लोकका अर्थ इस प्रकार होगा :—

(१६) किरातादि नीच जातीय मूर्ख लोग एवं पक्षी-भ्रमरादि भी धैर्यशील होकर उरुक्रम श्रीकृष्णमें अहैतुकी भक्ति करते हैं,—ऐसे ही श्रीहरिके गुण हैं।

और ११८ पयारके अनुसार 'धृति' शब्दके पूर्णता अर्थसे अन्वयादि इस प्रकार होगा—

निर्ग्रन्थाः (मायातीताः) मुनयः (श्रीकृष्णमननशीलाःभक्ताः) अपि आत्मारामाः (आत्मनि धृतौ रमन्तः भगवदनुभववशतः दुःखाभावात् भगवत्-प्रेम-लाभतः पूर्णाः चाञ्चल्यरहिताः च सन्तः) च उरुक्रमे अहैतुकीं भक्तिं कुर्वन्ति इत्यादि।

(१७) अविद्याग्रन्थिहीन श्रीकृष्णमननशील भगवद्भक्तगण भी भगवत् सम्बन्ध लाभवश दुःखके अभाव हेतु एवं भगवत् प्रेमलाभ-प्रयुक्त पूर्णता-हेतु चाञ्चल्यशून्य होकर श्रीकृष्णमें भक्ति करते हैं, ऐसे ही हरिके गुण हैं।

बुद्धि विशिष्ट आत्माराम

'आत्मा'-शब्दे 'बुद्धि' कहे बुद्धिविशेष ।
सामान्यबुद्धियुक्त जत जीव अवशेष ॥१२१॥

है अर्थ 'बुद्धि' भी आत्माका, अभिप्रेत यहाँपर 'धी' विशेष ।
सामान्य बुद्धिवालोंको तज वर बुद्धियुक्त जो जीव शेष ॥

'आत्मा' शब्दका बुद्धि अर्थ मानकर श्लोकका और एक प्रकार अर्थ करते हैं। बुद्धि—सामान्य और विशेष भेदसे दो प्रकारकी है। विशेष बुद्धिमें जो रमण करें, जो विशेष-बुद्धि विशिष्ट हैं, वे ही हुए आत्माराम ।

सामान्य बुद्धि इत्यादि—देह-दैहिक वस्तुमें जिनको 'मैं-मेरा' बुद्धि है, उनकी बुद्धि ही सामान्य बुद्धि है । साधारण लोग मात्र ही ऐसी सामान्य-बुद्धि-विशिष्ट हैं। यहाँपर 'आत्माराम' शब्दसे ऐसे सामान्य बुद्धि विशिष्ट लोगोंकी तरफ लक्ष्य नहीं किया गया है ।

जतजीव अवशेषे—सामान्य बुद्धि विशिष्ट करके अलग जीवगणको विशेष-बुद्धि-विशिष्ट लोग ही ऐसे अर्थमें लेना होगा ।

बुद्ध्ये रमे 'आत्माराम' दुइ त प्रकार— ।
पण्डित मुनिगण, निर्ग्रन्थ मूर्ख आर ॥१२२॥

इन बुद्धि-रमण-कारी आत्मारामोंकी भी दो कोटि विदित ।
निर्ग्रन्थ-मूर्खजन एक ओर, दूसरी ओर मुनिगण पण्डित ॥

बुद्ध्ये रमे—बुद्ध्येका अर्थ यहाँ विशेष बुद्धिमें है । यह विशेष बुद्धि क्या है, यह अगले पयारमें बताया है । बुद्ध्ये रमे आत्माराम—'आत्मा' शब्दका विशेष बुद्धि अर्थ करनेपर 'आत्माराम'का अर्थ होगा—विशेष बुद्धिमें रमण करते हैं जो विशेष-बुद्धि-विशिष्ट। विशेष-बुद्धि-विशिष्ट आत्माराम दो प्रकारके हैं—एक पण्डित मुनिगण, और दूसरे निर्ग्रन्थ मूर्खगण। पण्डित मुनि—जिन मुनियोंको

शास्त्र-ज्ञान है। यह मुनयः शब्दका अर्थ हुआ। निर्ग्रन्थ मूर्ख—जो शास्त्र-ज्ञान-हीन हैं, अतएव मूर्ख। यह निर्ग्रन्थ शब्दका अर्थ हुआ। पूर्ववर्ती १३-१४ पयारका अर्थ पृष्ठ ८ पर देखिये।

कृष्णकृपाय साधुसङ्गे विचारे रतिबुद्धि पाय।
सब छाड़ि शुद्धभक्ति करे कृष्णपाय ॥१२३॥

जाता विचार हरि-कृपा, साधु-सङ्गतिसे रति-निष्टामय बन।
सब त्याग भक्ति शुद्धासे फिर करते श्रीकृष्ण-चरण-सेवन॥

कृष्णकृपाय इत्यादि—कृष्णकी कृपासे, अथवा साधुकी कृपासे साधुओंके सङ्गसे शास्त्र विचारादि सुनकर—पण्डित मुनिगण और निर्ग्रन्थ मूर्खगण—श्रीकृष्णमें रति (निष्ठा)-रूपा बुद्धि प्राप्त करते हैं। ऐसी बुद्धि प्राप्त होनेपर वे अन्य सब कुछ छोड़कर श्रीकृष्ण-चरणोंमें शुद्धा (अहैतुकी) भक्ति करते रहते हैं। श्रीकृष्णमें रति (निष्ठा)-रूपा बुद्धि ही विशेष-बुद्धि है। इस विशेष-बुद्धिकी प्राप्तिमें हेतु है कृष्ण-कृपा या साधु-सङ्ग। ऐसी विशेष-बुद्धि जिनको प्राप्त हो गयी है वे ही यहाँपर 'आत्माराम' हैं। **कृष्णपाय**—कृष्णके चरणोंमें। उक्त अर्थसे श्लोकका अन्वयादि इस प्रकार होगा—

मुनयः (पण्डिताः) निर्ग्रन्थाः (मूर्खाः) अपि च आत्मारामाः (श्रीकृष्ण-निष्ठारूपा-बुद्धिविशिष्टाः सन्तः) उरुक्रमे अहैतुकीं भक्तिं कुर्वन्ति—हरिः इत्थम्भूतगुणः।

(१८) पण्डितगण एवं मूर्खगण दोनों ही श्रीकृष्णमें निष्ठारूपा-बुद्धि-विशिष्ट होकर उरुक्रम श्रीकृष्णमें अहैतुकी भक्ति करते हैं, ऐसा ही श्रीहरिका गुण है।

यहाँतक अट्ठारह अर्थ हुए।

पण्डितगण जिस बुद्धि-विशेषसे युक्त होकर भजन करते हैं। उसके प्रमाणमें नीचेका ६८वाँ श्लोक है और मूर्खगण जिस बुद्धि-विशेषसे युक्त होकर भजन करते हैं उसके प्रमाणमें नीचेका ६९वाँ श्लोक है।

तथाहि श्रीभगवद्गीतायाम् (१०।८)--

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विता ॥६८॥

संस्कृतटीका--तथा च विभूतियोगयोर्ज्ञानेन सम्यक् ज्ञानावाप्तिं दर्शयति अहमिति चतुर्भिः। अहं सर्वस्य बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोह इत्यादि सर्वं मत्तः प्रवर्त्तते इत्येवं मत्वा अवबुध्य बुधा विवेकिनो भावसमन्विताः प्रीतियुक्ता मां भजन्ते। स्वामी।

अन्वय—अहं (मैं—श्रीकृष्ण) सर्वस्य (सबका) प्रभवः (उत्पत्ति स्थान हूँ), मत्तः (मुझसे) सर्वं (सब—सबका बुद्धिज्ञान-असम्मोहादि समस्त) प्रवर्त्तते (प्रवर्त्तित होता है)--इति (इस प्रकार) मत्वा (मान कर) भावसमन्विता (प्रीतियुक्त होकर) बुधाः (पण्डितगण) मां (मुझको) भजन्ते (भजते हैं)।

अनुवाद—अर्जुनके प्रति श्रीकृष्ण कहते हैं—मैं ही (प्राकृत और अप्राकृत वस्तु) सभीका उत्पत्ति स्थान हूँ और मैं ही सबका (बुद्धि, ज्ञान, असम्मोह प्रभृतिका) नियन्ता हूँ—ऐसा जानकर पण्डितगण प्रीति सहित मेरा भजन करते हैं।

पण्डित--मुनिगण जो श्रीकृष्णभजन करते हैं उसके (१२२-१२३ पयारोक्तिके प्रमाणमें यह श्लोक है।

तथाहि श्रीमद्भागवते (२।७।४६)--

ते वै विदन्त्यतितरन्ति च देवमायां
स्त्रीशुद्रहूणशवरा अपि पापजीवाः।
यद्यद्भुतक्रमपरायणशीलशिक्षा-
स्तिर्यग्जना अपि किमु श्रुत धारणा ये ॥६९॥

संस्कृतटीका—किं बहुना, सत्सङ्गेन सर्वेऽपि विदन्ति इत्याह—ते वा इति। अद्भुताः क्रमाः पादन्यासाः यस्य हरेस्तत्परयणास्तदभक्तास्तेषां शीले शिक्षा येषां ते तथा यदि भवन्ति, तर्हि तेऽपि विदन्तीत्यर्थः। श्रुते भगवतो रूपे धारणा मनोनियमनं येषां ते विदन्तीति किमु वक्तव्यम्। स्वामी।

अन्वय—**स्त्री-शूद्र-हूण-शबराः** (स्त्री, शूद्र, हूण, एवं शबरगण एवं) **पापजीवाः** (पापजीवगण—शास्त्रविरुद्धाचारी जीवगण) **अपि** (भी) **तिर्यगजनाः अपि** (पशु-पक्षी प्रभृति निकृष्ट प्राणीवर्ग भी) **यदि** (यदि) **अद्भुतक्रम-परायण-शील शिक्षाः** (जिनका पाद विन्यास अद्‌भुत है, ऐसे भगवान्‌के भक्तगणके चरित्र विषयमें शिक्षा प्राप्त) [भवन्ति] (हो सकते हैं) [तदा] (तब) **ते वै** (वे भी) **देवमायां** (देवमायाको) **विदन्ति** (जान सकते हैं) **अतितरन्ति च** (एवं उत्तीर्ण हो सकते हैं)—**किमु** (उनकी बात ही क्या कही जाय) **ये** (जो लोग) **श्रुतिधारणाः** (भगवान्‌के रूपमें और तत्त्वमें अपने मनको नियोजित कर चुके हैं)।

अनुवाद—श्रीनारदजीके प्रति ब्रह्माजी कहते हैं—जिनका पादविन्यास अद्‌भुत है (अर्थात् जिन्होंने पाद विक्षेपद्वारा त्रिलोकीको आक्रमण किया था), उन भगवान्‌के भक्तगणके चरित्र विषयमें यदि शिक्षा प्राप्त कर सकें, तो (वैदिक कर्ममें अधिकारहीन) स्त्री, शूद्र, एवं हूण-शबरादि शास्त्र विरुद्धाचारी जीवगण भी—यहाँतक कि पशु, पक्षी प्रभृति निकृष्ट प्राणी वर्ग भी देवमायासे अवगत एवं उत्तीर्ण हो सकते हैं। अतएव जो लोग वेदार्थ आलोचना करके भगवत् रूपमें चित्तको लगाये हैं, वे भगवत् तत्त्वसे अवगत होकर मायासे उत्तीर्ण हो सकें, इसमें और विचित्रता क्या है?

अद्भुतक्रम—उरुक्रम श्रीभगवान्; इस परिच्छेदके छठे श्लोककी टीका पृष्ठ १२ पर देखिये। **अद्भुतक्रमपरायणशीलशिक्षाः**—अद्‌भुतक्रममें (उरुक्रम भगवान्‌में) परायण (पर—श्रेष्ठ—एकमात्र अयन है जिनका—भगवान् ही एकमात्र आश्रय हैं जिनके, ऐसे ऐकान्तिक भक्तगण), उनके शीलकी (चरित्रकी—चरित्र विषयमें) शिक्षा प्राप्त हुई है जिनको—भक्तगणके चरित्र विषयमें शिक्षा प्राप्त करके तद्रूप आचरण (अर्थात् भजन) जो करते हैं वे, अर्थात् भगवद्‌भजन कर सकनेपर स्त्री-शूद्रादि सभी देवमायासे उत्तीर्ण हो सकते हैं। **श्रुतधारणाः**—श्रुतमें (भगवान्‌में) धारणा—भगवान्‌के रूप-गुणादिमें या भगवत् तत्त्वमें चित्तकी धारणा जन्मी है जिनकी।

'अद्भुत-क्रम-परायणशील-शिक्षा' से साधुसङ्ग सूचित होता है; क्योंकि साधुजनोंके (भक्तोंके) चरित्र विषयमें कुछ जाननेके लिये, उनका सङ्ग जरूरी है,

साधु-सङ्गके बिना साधुजनोंके चरित्र विषयकी शिक्षा नहीं मिलती। साधुसङ्गके प्रभावसे निर्ग्रन्थ मुनिगण भी कृष्णभजन करते रहते हैं, पूर्वोक्त ऐसी दो पयारोक्ति-के प्रमाणमें यह श्लोक है।

विचार करिया जबे भजे कृष्णपाय।
सेइ बुद्धि देन तारे जाते ताँरे पाय ॥१२४॥

श्रीकृष्ण-चरण-जलजात भजन करते विचारपूर्वक जन जब।
हो जाय प्राप्ति उनकी, ऐसी देते हैं बुद्धि उन्हें वे तब॥

पूर्व पयारमें जो विचारकी बात बतायी गयी है, उस विचारके फलस्वरूप किस प्रकार रति-बुद्धि प्राप्त होती है, सो बतला रहे हैं।

विचारके द्वारा जब समझ लिया जाय कि श्रीकृष्ण ही एकमात्र सेव्य हैं,—केवल उत्तमा भक्तिके निमित्त ही नहीं, जीवकी अन्य वासना पूर्तिके लिये भी श्रीकृष्ण ही एकमात्र सेव्य हैं, यह ज्ञान जब हो जाता है—तब जीव श्रीकृष्ण-भजन करता रहता है। प्रीतिके साथ भजन करते रहनेसे, श्रीकृष्ण कृपा करके उसको ऐसी बुद्धि देते हैं, जिसके द्वारा श्रीकृष्णको पाया जा सकता है। इसका प्रमाण निम्न श्लोकमें है।

तथाहि श्रीभगवद्गीतायाम् (१०।१०)—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥७०॥

श्लोक ७० का अन्वय अनुवाद आदि पृष्ठ १८६ पर इसी ग्रन्थके ५६वें श्लोकमें देखिये। पूर्व पयारके प्रमाणमें यह श्लोक है।

सत्सङ्ग, कृष्णसेवा, भागवत नाम।
व्रजे वास,—एइ पञ्च साधन प्रधान ॥१२५॥

सतसङ्ग, कृष्ण-सेवा, श्रीमद्भागवत, नाम-जप संकीर्तन।
व्रजवास-पाँच सबसे प्रधान हैं रति-निष्ठा-दायक साधन॥

एइ पञ्चमध्ये एक स्वल्प करय।
सद्बुद्धिजनेर हय कृष्णप्रेमोदय॥१२६॥

इनमें-से किसी एकका भी, बस, अल्पमात्र ही अवलम्बन।
सद्बुद्धियुक्त जो जन उनमें करता श्रीकृष्ण-प्रेम-प्रकटन॥

श्रीकृष्णमें रतिरूपा बुद्धि प्राप्त करनेका साधन दो पयारोंमें बताते हैं—सत्सङ्ग आदि भजनके पाँच प्रधान अङ्गोंमें-से किसी भी एक अङ्गकी अल्पमात्रासे भी सद्-बुद्धि-जनोंको कृष्ण-प्रेम उत्पन्न हो सकता है।

मध्यलीला २२वें परिच्छेदके ७४-७५ पयारोंकी टीका देखिये।

सद्बुद्धिजन—श्रीकृष्ण ही एकमात्र सत्-वस्तु, मुख्य सत्-वस्तु, अन्य निरपेक्ष सत्-वस्तु हैं, अतएव श्रीकृष्ण ही एकमात्र सेव्य वस्तु हैं—यह ज्ञान जिनको है, वे ही सद्बुद्धिजन हैं।

तथाहि श्रीभक्तिरसामृतसिन्धौ (१।२।११०)—

दुरूहाद्भुतवीर्येऽस्मिन् श्रद्धा दूरेऽस्तु पञ्चके।
यत्र स्वल्पोऽपि सम्बन्धः सद्धियां भावजन्मने॥७१॥

संस्कृतटीका— सद्धियां निरपराधचित्तानाम्। श्रीजीव।

अन्वय—दुरूहाद्भुतवीर्ये (दुर्ज्ञेय एवं अद्भुत प्रभावशाली) अस्मिन् (इन) पञ्चके (पाँच भजनाङ्गोंमें) श्रद्धा (श्रद्धा) दूरे (दूर) अस्तु (रहे), यत्र (जिनमें—जिन पाँच अङ्गोंमें) स्वल्पः अपि (अति अल्प भी) सम्बन्धः (सम्बन्ध) सद्धियां (निरपराध-चित्त व्यक्तियोंके) भाव जन्मने (भावके—कृष्णप्रेमके उत्पन्न होनेके लिये यथेष्ट है)।

अनुवाद— (साधुसङ्ग, नाम-कीर्त्तन, भागवत् श्रवण, मथुरावास और श्रद्धाके साथ श्रीमूर्ति-सेवन—ये पाँच) दुर्ज्ञेय और अति प्रभावशाली भजनाङ्गोंमें श्रद्धा न

रहनेपर भी, अत्यल्प सम्बन्ध रहनेपर भी निरपराध व्यक्तिगणके चित्तमें अविलम्ब भावका उदय हो जाता है।

सद्भियां —'निरपराध व्यक्तियोंके' कहनेका तात्पर्य यह है कि जिनके चित्तमें अपराध है उनके चित्तमें प्रेमका आविर्भाव नहीं होगा—जबतक अपराध रहेगा तबतक नहीं होगा।

पूर्व दो पयारोंके प्रमाणमें यह श्लोक है।

उदारा महती जार सर्व्वोत्तमा बुद्धि।
नाना कामे भजे, तबु पाय भक्तिसिद्धि॥१२७॥

जिन लोगोंकी होती उदार, महती, सर्वोत्तम तथा बुद्धि।
वे भजें कामना नाना ले चाहे, पर पाते भक्ति-सिद्धि॥

उदारा महती इत्यादि—सद्बुद्धिजनोंकी बात बताते हैं। उदारा—सरल; कुटिलताशून्य। महती—श्रेष्ठ; सर्वापेक्षा महत् वस्तु श्रीकृष्ण सम्बन्धिनी होनेसे महती। **सर्व्वोत्तमा**—दूसरे सबकी बुद्धिसे श्रेष्ठ। **नानाकामे**—नाना प्रकारकी कामनाकी सिद्धिके लिये; भुक्तिमुक्ति आदिके निमित्त। **भक्तिसिद्धि**—शुद्धाभक्तिकी सिद्धि अथवा फल।

जिनकी बुद्धि अत्यन्त सरल है, 'श्रीकृष्ण सभीकी सब वासना पूर्ण करनेमें समर्थ हैं'—ऐसी उत्तमा बुद्धि जिनकी है, वे यदि अन्य वासना पूर्तिके उद्देश्यसे भी श्रीकृष्णभजन करें, तो भी वे शुद्धाभक्तिका फल जो श्रीकृष्णप्रेम है, वही प्राप्त करते हैं। यह किस प्रकार होता है, सो अगले पयारमें बताते हैं।

तथाहि श्रीमद्भागवते (२।३।१०)—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥७२॥

संस्कृतटीका—अकामः एकान्तभक्तः। उक्तानुक्त-सर्वकामो वा पुरुषं पूर्णं परं निरुपाधिम्। स्वामी।

अन्वय—अकामः (स्वसुख-वासनादिशून्य एकान्त भक्त), **सर्वकामः** (धनादि सब विषयोंका कामनाकारी व्यक्ति) **मोक्षकामः वा** (अथवा मोक्षकाम) **उदारधीः** (सुबुद्धि होनेपर) **तीव्रेन** (तीव्र—ऐकान्तिक) **भक्तियोगेन** (भक्तियोगके सहित) **परं पुरुषं** (परम-पुरुष श्रीकृष्णको) **यजेत** (भजते हैं)।

अनुवाद—महाराज परीक्षितको श्रीशुकदेवजी कहते हैं—महाराज! सुखवासनादि-शून्य एकान्त भक्त, अथवा धनादि-सर्वकाम कर्मी, अथवा मोक्षकाम ज्ञानी—कोई भी क्यों न हो, यदि वे उदारबुद्धि (अर्थात् सुबुद्धि) हों, तो ऐकान्तिक भक्तिके साथ परमपुरुष भगवान्‌को भजते हैं।

पूर्व पयारके प्रमाणमें यह श्लोक है।

भक्ति-प्रभावे सेइ काम छाड़ाइया।
कृष्णपदे भक्ति कराय गुणे आकर्षिया ॥१२८॥

अपने प्रभावसे भक्ति छुड़ा देती उनकी कामना सकल।
हो गुणाकृष्ट करने लगते श्रीकृष्ण-पदोंमें भक्ति विमल॥

भक्तिप्रभावे—भक्तिकी स्वरूपगत शक्तिसे। काम - भुक्ति-मुक्ति-सिद्धि-आदिकी वासना। आत्मेन्द्रिय प्रीतिकी या आत्मदुःख निवृत्तिकी वासना।

भुक्ति-मुक्ति आदिके लिये यदि कोई श्रीकृष्णभजन करें, तो भी भक्तिकी ऐसी शक्ति है कि इस भजनके प्रभावसे उनके चित्तसे अन्य वासना दूरीभूत हो जायगी, एवं श्रीकृष्णके गुण चित्तमें स्फुरित होंगे और श्रीकृष्णगुण स्फुरित होनेपर, उन गुणोंसे मुग्ध होकर वे श्रीकृष्णचरणोंमें शुद्धाभक्तिका अनुष्ठान करने लगेंगे।

तथाहि श्रीमद्भागवते (१।७।१०)—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्व्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥७३॥

श्लोक ७३ के अन्वय अनुवाद इसी परिच्छेदके दूसरे श्लोकमें पृष्ठ ३ पर देखिये।

तथाहि श्रीमद्भागवते (५।१६।२७)--

सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां
नैवार्थदो यत् पुनरर्थिता यतः ।
स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छता-
मिच्छाप्रधानं निजपादपल्लवम् ।।७४।।

संस्कृतटीका—तत्रापि निष्कामाः कृतार्था इत्याहुः सत्यमिति। प्रार्थितः सन् अर्थितं ददातीति सत्यं तथापि परमार्थदो न भवत्येव। यद् यस्मात् यतो दत्तादनन्तरं पुनरपि अर्थिता भवति। ननु नार्थितश्चेत् किमपि न दद्यात् इत्याशङ्क्याहुः ; अनिच्छतां निष्कामानान्तु इच्छानां पिधानं आच्छादकं सर्वकामपरिपूरकः निजपादपल्लवं स्वयमेव सम्पादयति। स्वामी।

अन्वय—[श्रीभगवान्] (श्रीभगवान्) **अर्थितः** (प्रार्थित होकर) **नृणां** (मनुष्योंको) **अर्थितं** (प्रार्थित विषय) **दिशति** (दान करते हैं)—**सत्यं** (यह सत्य है) ; **[तथापि]** (तथापि—प्रार्थित वस्तु देकर भी) **न एव अर्थदः** (वे परम-अर्थके दाता नहीं हुए), **यत्** (इसलिये) **यतः** (इसके पश्चात् भी—प्रार्थित वस्तु देनेके पश्चात् भी) **अर्थिता** (वह व्यक्ति प्रार्थनाकारी हुआ रहता है)। **अनिच्छतां** (भगवत्-चरण-प्राप्तिकी कामनाहीन) **[अपि]** (होकर भी) **भजतां** (भजनकारीकी) **इच्छापिधानं** (अन्य कामनाके आच्छादक) **निजपादपल्लवं** (अपने चरण-पल्लव) **स्वयं** (भगवान् स्वयं—भजनकर्त्ताकी इच्छा न रहनेपर भी) **विधत्ते** (दान करते हैं)।

अनुवाद—श्रीकृष्णको लक्ष्य करके देवताओंने कहा—श्रीभगवान् प्रार्थित होकर (अर्थार्थी) मनुष्योंके प्रार्थित विषय दान करते रहते हैं—यह बात सत्य है (इसमें कभी भी अन्यथा नहीं होता) ; तथापि (प्रार्थित विषयके दानद्वारा) वे परमार्थदाता नहीं होते ; इसलिये (देखनेमें आता है कि एकबार) प्रार्थित वस्तु पानेके बाद भी वही व्यक्ति फिर भी (अन्य वस्तुके लिये) प्रार्थना करता रहता है। तब क्या भगवान् किसीको भी परमार्थ दान नहीं करते ?— ऐसे प्रश्नकी आशङ्का

करके बताते हैं) जो लोग भगवान्‌का भजन करते हैं और श्रीकृष्णचरण-प्राप्तिके निमित्त इच्छा नहीं करते, भगवान् स्वयं उनको अन्य कामनाके आच्छादक अपने पादपल्लव देते रहते हैं।

पूर्व पयारके प्रमाणमें ये श्लोक हैं।

स्वभाव-जात आत्माराम

'आत्मा'-शब्दे 'स्वभाव' कहे, ताते जेइ रमे।
'आत्माराम' जीव जत स्थावर जङ्गमे॥१२९॥

'आत्मा'का एक 'स्वभाव' अर्थ, जो रमण करे उसके भीतर।
वह भी फिर आत्मा हुआ, हो चाहे जङ्गम या स्थावर॥

१२९, 'आत्मा' शब्दका 'स्वभाव' अर्थ करके श्लोकका और एक प्रकार अर्थ करते हैं।

स्वभाव—'स्व'-एव भाव अर्थात स्वरूपका भाव। जीवका स्वरूप है—कृष्णका नित्यदास ; अतएव जीवका स्वभाव हुआ—कृष्णदास अभिमान। कृष्ण कृपादि हेतुसे जब कृष्णदास-अभिमान रूप स्वभाव स्फुरित होता है, तब इस अभिमानमें जो रमण करें, अर्थात् 'मैं कृष्णका दास हूँ'—इस प्रकारके अभिमानमें जो आनन्दानुभव करते हैं, वे ही यहाँ 'आत्माराम' हैं।

आत्माराम जीव जत इत्यादि—स्थावर-जङ्गमादि जितने जीव हैं, कृष्ण-कृपा आदिके प्राप्त होनेपर सभी इस प्रकार आत्माराम हो सकते हैं ; अर्थात् सभीको कृष्णदासाभिमान स्फुरित हो सकता है। आगेके ७५, ७६ और ७७वें श्लोकोंमें स्थावरोंके ७६, ७८वें श्लोकोंमें जङ्गमोंके आत्मारामत्वका प्रमाण दिया है। श्रीमन्महाप्रभुके वृन्दावन गमनके समय, झारिखण्डके सिंह, व्याघ्र आदि हिंसक जन्तु एवं तरु, गुल्म आदिने भी प्रभुकी कृपासे कृष्णप्रेम प्राप्त किया था। शिवानन्द सेनके कुत्तेने भी 'कृष्ण-कृष्ण' कहा था।

जीवेर स्वभाव—कृष्णदास अभिमान ।
देहे 'आत्मा'-ज्ञाने आच्छादित सेइ ज्ञान ॥१३०॥

यह जीव-स्वभाव कि हो उसको अभिमान 'कृष्णका मैं सेवक' ।
मानता देहको आत्मा पर, इसलिये ज्ञान वह जाता ढक ॥

जीवेर स्वभाव इत्यादि—जीव स्वरूपतः श्रीकृष्णका दास है ; अतएव कृष्णदास-अभिमान ही उसका स्वभाव है। **देहे आत्मज्ञाने** इत्यादि—मायिक उपाधिको अङ्गीकार किये होनेसे—मायिक देहको 'मैं' बोलकर एवं देह सम्बन्धीय वस्तुमें 'मेरी वस्तु' बोलकर जीवका ज्ञान बन गया है ; इस भ्रान्त ज्ञानके वश जीवका 'कृष्णदास अभिमान' रूप स्वभाव प्रच्छन्न हो गया है। **आच्छादित**—ढक गया है ; दब गया है ; स्फुरित नहीं होता।

कृष्ण-कृपादि हेतु हैते स्वभाव-उदय ।
कृष्णगुणाकृष्ट हञा कृष्णेरे भजय ॥१३१॥

श्रीकृष्ण-कृपासे किसी जीवमें जाता जब स्वभाव यह जग ।
खिंचकर श्रीकृष्ण-गुणोंसे वह श्रीकृष्ण-भजनमें जाता लग ॥

कृष्णकृपादि—कृष्णकी कृपा, भक्तकी कृपा और भक्तिकी कृपा। **स्वभाव उदय**—कृष्ण कृपादिके प्रभावसे जीवकी देहमें आत्म-बुद्धि दूर होती है। यह आत्म-बुद्धि दूरीभूत होनेपर ही कृष्णदास-अभिमान रूप स्वभाव स्फुरित होता है। भस्मके नीचे स्वर्णका टुकड़ा छिपा हुआ रहनेपर जैसे स्वर्ण दिखायी नहीं देता, भस्म दूर कर देनेपर जैसे फिर स्वर्ण दीखने लगता है, उसी प्रकार देहात्म-बुद्धिके अन्तरालमें कृष्णदासाभिमान छिपा रहता है, कृष्णकृपावश देहात्म-बुद्धि दूर होनेपर ही जीवके चित्तमें कृष्णदासाभिमान स्फुरित होता है।

कृष्णगुणाकृष्ट इत्यादि—देहात्म-बुद्धि तिरोहित होनेपर ही चित्तमें

कृष्णदासाभिमान स्फुरित होता है ; एवं शुद्ध सत्वका आविर्भाव होता है ; सत्वोज्ज्वल चित्तमें कृष्णगुण स्फुरित होता है ; तभी जीव कृष्णगुणमें मुग्ध होकर श्रीकृष्णभजन करता है ।

'च'-शब्द एव-अर्थे—'अपि' समुच्चये ।
'आत्माराम-एव' हञा श्रीकृष्ण भजये ॥१३२॥

हैं 'च' का यहाँपर 'एव' अर्थ, अपि' गया सम्मुचय-वाचक बन ।
बस, आत्माराम' 'एव' होकर ही होता है श्रीकृष्ण-भजन ॥

'आत्मा' शब्दके 'स्वभाव' अर्थसे मेल रखते हुए श्लोकस्थ 'च' और 'अपि' शब्दोंका अर्थ करते हैं ।

'च'-शब्द—'च' शब्दका अर्थ एव (ही) ; निश्चय । **'अपि' समुच्चये**— समुच्चयके अर्थमें यहाँ 'अपि' शब्दका प्रयोग है । मुनयः निर्ग्रन्था अपि— मुनिगण एवं निर्ग्रन्थ (मूर्ख) गण सभी कृष्णभजन करते हैं—यही 'अपि'का तात्पर्य है ।

सेइ जीव सनकादि सब मुनिजन ।
'निर्ग्रन्थ' मूर्ख नीच स्थावर पशुगण ॥१३३॥

जो जीव कृष्णदासाभिमानमय, वे सब 'मुनि' सनकादि यथा ।
'निर्ग्रन्थ' मूर्ख जन, नीच-जन्मवाले, स्थावर, पशु विहग तथा ॥

इस पयारमें मुनयः और निर्ग्रन्थाः शब्दोंके अर्थ करते हैं । **सेइजीव**—जिस जीवको कृष्णदासाभिमान स्फुरित हो गया है, **सेइ जीव सनकादि मुनिजन**— सनक-सनातनादि, व्यास, शुक प्रभृति मुनिगण । यह मुनयः शब्दका अर्थ है । **निर्ग्रन्थ**—शास्त्र-ज्ञान-हीन, अतः मूर्ख, किरातादि नीच-जातीय लोग, पशु-पक्षी प्रभृति एवं तृण-लतादि स्थावर जातीय जीव सभी निर्ग्रन्थ हैं ।

ব্যাস-শুক-সনকাদ্যের প্রসিদ্ধ ভজন।
নির্গ্রন্থ-স্থাবরাদ্যের শুন বিবরণ ॥১৩৪॥

शुकदेव-व्यास-सनकादिकका है लोक-विदित, विख्यात भजन।
'निर्ग्रन्थ'-वाच्य स्थावर आदिकका सुनो कर रहा हूँ वर्णन॥

কৃষ্ণকৃপাদি-হেতু হৈতে স্বভাব-উদয়।
কৃষ্ণগুণাকৃষ্ট হঞা তাঁহারে ভজয় ॥১৩৫॥

श्रीकृष्ण-कृपाके द्वारा है जाता उनमें स्वभाव निज जग।
श्रीकृष्ण-गुणोंसे आकर्षित हो, जाते भजने उनको लग॥

व्यास-शुक-सनकादि मुनिगणने जो श्रीकृष्णभजन किया, उसको सभी जानते हैं (वह प्रसिद्ध है)। तृण-लतादि स्थावर जातीय प्राणिगणने जो कृष्णभजन किया, वह अनेक लोग नहीं जानते; उनके भजनकी बात निम्न श्लोकोंमें बतायी गयी है। कृष्णकृपा होनेपर उनको कृष्ण-दास-अभिमान रूप स्वभाव स्फुरित होनेपर वे भी कृष्णभजन करते हैं। उनके भजनमें कृष्णकृपा ही हेतु है।

तथाहि श्रीमद्भागवते (१०।१५।८)—

धन्येयमद्य धरणी तृणवीरुधस्त्वत्
पादस्पृशो द्रुमलताः करजाभिमृष्टाः।
नद्योऽद्रयः खगमृगाः सदयावलोकै-
र्गोप्योऽन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहा श्रीः ॥७५॥

संस्कृतटीका—तृणवीरुधश्च तव पादौ स्पृशन्तीति तथा करजाभिमृष्टा नखैः स्पृष्टाः। सदयैरवलोकनैः। श्रीरपि यस्मै स्पृहयति केवलं तेन भुजयोरन्तरेण वक्षसा गोप्यो धन्या इति। स्वामी।

अन्वय—अद्य (आज) इयं (यह) धरणी (पृथिवी) धन्या (धन्य है), त्वत्पाद-

स्पृशः (तुम्हारे चरण-स्पर्श प्राप्त) तृणवीरुधः (तृण-गुल्मगण) करजाभिमृष्टाः (कर-नख-स्पर्श प्राप्त करके) द्रुमलताः (वृक्ष-लतागण) सदयावलोकैः (तुम्हारे सकरुण अवलोकनसे) नद्यः (सब नदियाँ) अद्रयः (सब पर्वत) खगमृगाः (मृग-पक्षीगण) श्रीः (लक्ष्मीदेवी) यत्स्पृहा (जिसके लिये स्पृहावती हैं, वे) भुजयोः (तुम्हारे दोनों भुजाओंके) अन्तरेण (मध्यवर्ती वक्षःस्थलद्वारा—वक्षःस्थलके आलिङ्गनद्वारा) गोप्यः (गोपीगण—गोपी नामक श्यामलता समूह) [धन्याः] (धन्य हुए हैं)।

अनुवाद—श्रीकृष्ण अग्रज बल्देवको कहते हैंः—आज तुम्हारे चरण-स्पर्शसे यह पृथिवी एवं (तत्पृष्ठस्थ) तृण-गुल्मगण धन्य हुए हैं ; तुम्हारे कर-नखके स्पर्शसे वृक्ष और वृक्ष संलग्न लता समूह, तुम्हारी करुणापूर्ण दृष्टिद्वारा नदी-पर्वत और मृग-पक्षी सभी धन्य हुए हैं एवं स्वयं लक्ष्मी भी दोनों भुजाओंके मध्यवर्ती वक्षःस्थलके आलिङ्गनकी कामना करती हैं, तुम्हारे उस आलिङ्गनको प्राप्त करके गोपीगण भी (गोपी नामक लता समूह) धन्य हुए हैं।

श्रीबल्देवके साथ श्रीकृष्ण जब वन भ्रमण कर रहे थे, तब श्रीकृष्णने बल्देवजीके प्रति ये सब स्तुतिवाक्य कहे थे।

श्रीः यत्स्पृहा—श्री (लक्ष्मी भी) जिसके (जिस आलिङ्गनके) लिये स्पृहावती हैं ; इसके द्वारा श्रीबलदेवजीके वक्षःस्थलकी और दोनों भुजाओंकी परम रमणीयता सूचित होती है। **गोप्यः**—गोपीगण ; श्रीवृन्दावनके वनमें एक प्रकारकी श्याम लता है—उसको साधारणतया गोपी या गोपीलता बोला जाता है ; श्रीबल्देवने कौतुकवश उन लता समूहोंका दोनों बाहुओंद्वारा वेष्टन करके आलिङ्गन किया था—वही इस जगह सूचित होता है।

श्रीबलदेवके श्रीअङ्गका स्पर्श पाकर तृण-गुल्मादि स्थावर जीवगणके धन्य—कृतार्थ—होनेकी बात ही इस श्लोकसे जानी जाती है ; उनकी कृतार्थताद्वारा ही श्रीअङ्गस्पर्शादिके निमित्त उनकी उत्कण्ठा सूचित होती है। भगवत्स्पर्श प्राप्तिके निमित्त उत्कण्ठा ही जीवस्वरूपका स्वभाव है एवं श्रीकृष्ण-बलरामकी कृपासे ही यह स्वभाव उद्बुद्ध (उत्पन्न) हुआ है ; इस प्रकार १३४ पयारोक्त निर्ग्रन्थ-स्थावरादिके श्रीकृष्णभजनके प्रमाणमें यह श्लोक है।

तथाहि श्रीमद्भागवते (१०।२१।१६)—

गा गोपकैरनुवनं नयतोरुदार-
वेणुस्वनैः कलपदैस्तनुभृत्सु सख्यः।
अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणां
निर्योगपाशकृतलक्षणयोर्विचित्रम् ॥७६॥

संस्कृतटीका—हे सख्यः! इदन्तु अतिचित्रम्। गोपैः सम वने वने गाः सञ्चारयतोस्तयो रामकृष्णयोर्मधुरपदैर्महावेणुनादैः। शरीरिषु ये गतिमन्तस्तेषामस्पन्दनं स्थावरधर्मः तरूणां पुलको जङ्गमधर्म इति। निर्युज्यन्ते गावः आभिरिति निर्योगः पादबन्धनरज्जवः, अधस्यगवां कर्षणार्थाः पाशाश्च तैः कृतं लक्षणं चिह्नं ययोः। शिरसि निर्योगवेष्टनेन स्कन्धस्थापनेन च गोप-परिवृढश्रिया विराजमानयोरिति। स्वामी।

अन्वय—सख्यः (हे सखीगण)! गोपकैः (गोप बालकोंके सङ्गमें) अनुवनं (वन-वनमें) गाः नयतः (गोचारणकारी) निर्योग-पाशकृतःलक्षणयोः (मस्तक-पर गायोंके पैर बान्धनेकी रज्जु धारण करनेवाले और कन्धेपर दुर्दान्त गायोंको बान्धनेवाली रज्जु धारण करनेवाले) [राम-कृष्णयोः] (श्रीराम-कृष्णके) कलपदैः (मधुर-पद विशिष्ट) उदार-वेणुस्वनैः (श्रवण-सुखकर वेणुरव श्रवण करके) तनुभृत्सु (देहधारी प्राणीगणके मध्य) गतिमतां (जङ्गम प्राणियोंके) अस्पन्दनं (निश्चलता रूप स्थावर-धर्म) तरूणां (स्थावर वृक्षसमूहके) पुलकः (पुलकरूप जङ्गम धर्म)—[इति] (यह) विचित्रम् (अति विचित्र है—अद्भुत है)।

अनुवाद—श्रीकृष्णको लक्ष्य करके कोई एक गोपी अपनी सखीगणसे कह रही है—

हे सखीगण! जो गोप बालकगणके सङ्गमें वन-वनमें गोचारण कर रहे हैं और जिन्होंने मस्तकपर निर्योग (दूध दुहनेके समय गायोंके पैरमें बान्धनेकी रस्सी) एवं कन्धेपर (दुर्दान्त गो समूहके) बन्धन-पाश धारण कर रखे हैं, उन श्रीकृष्णके और श्रीबलरामके, मधुर-पद विशिष्ट श्रवणानन्ददायक वेणु-रव श्रवण करके—देहधारी प्राणीगणके मध्य जङ्गम प्राणीगण जो अस्पन्दनरूप

स्थावर धर्मको और वृक्षादि स्थावर देहीगण जो पुलकरूप जङ्गम धर्मको प्राप्त हुए हैं यह अतीव विचित्र है।

निर्योग—दूध दुहनेके समय किसी-किसी गायके पिछले दोनों पैर बांधकर रखने पड़ते हैं ; जिस रज्जुके द्वारा इस प्रकार गायके पैर बांधे जाते हैं उसको निर्योग कहते हैं। **पाश**--रज्जु ; दुर्दान्त गायोंके बान्धनेकी साधारण डोरी। गोचारणके लिये जाते समय कृष्ण-बलराम ये रस्सियाँ साथ ले जाया करते—निर्योगको माथेपर बांध लेते एवं पाशको कन्धेपर डाल लिया करते ; यह निर्योग और पाश उनके गोचारणके लक्षण (चिन्ह) होते—उनके मस्तकपर निर्योग और कन्धेपर पाश देखते ही यह समझा जाता कि वे गोचारणको जा रहे हैं। इसीलिये उनके सम्बन्धमें कहा गया है—**निर्योग-पाश-कृतलक्षणयोः**—निर्योग एवं पाशद्वारा कृत हैं लक्षण (गोचारण-चिन्ह) जिनके, उन राम-कृष्णके। **कलपदैः**—कल (मधुर) पद समूह हैं जिसमें ; मधुर-पद-विशिष्ट **उदारवेणुस्वनैः**—श्रवणानन्ददायक वेणुरवके द्वारा। श्रीकृष्णकी वेणुध्वनि सुनकर स्तम्भ नामक सात्विक भावके उदय होनेसे जङ्गम प्राणिसमूहमें अस्पन्दनरूप स्थावरत्व एवं पुलक नामक सात्विक भावके उदय होनेपर स्थावर वृक्षादिमें भी पुलक और सिहरन रूप जङ्गमत्व प्रकाश पाया था—स्तम्भके उदय होनेपर मृग पक्षी प्रभृति जङ्गम प्राणिगण प्रतिमाकी तरह स्पन्दनशून्य-सम्यकरूपसे अचल होकर रहे थे। और स्थावरोंकी अवस्था भी विचित्र थी ; साधारणतया देखा जाता है कि मनुष्य मृगादि जङ्गम प्राणियोंकी देहमें ही पुलकका उद्गम होता है ; वृक्षादि स्थावर जीवोंकी देहमें कभी भी पुलक देखनेमें नहीं आता ; किंतु आश्चर्यका विषय है कि श्रीकृष्णकी वंशीध्वनिके प्रभावसे वृक्षादि स्थावर प्राणीके देहमें भी पुलकका उदय हुआ था।

तथाहि श्रीमद्भागवते (१०।३५।६)--

वनलतास्तरव आत्मानि विष्णुं
व्यञ्जयन्त इव पुष्पफलाढ्या।
प्रणतभारविटपा मधुधाराः
प्रेमहृष्टतनवो ववृषुः स्म ॥७७॥

संस्कृतटीका—नदीनामनादिसिद्धानामचेतनत्वेऽपि देवतारूपाणां का वार्ता। श्वः परश्वोऽदृष्टजन्मनामतिनिकृष्टानामपि जड़ानां रसिकतां वेनुश्रवणहेतुकां पश्यतेतान्या आहुः। अनुचरैर्गोपैः। आदिपुरुषो नारायण इव निश्चलश्रीः। तदपि वनचरः वन्यजीवेष्वनुरागादिति भावः। तदा गृहस्थवैष्णवाः सस्त्रीका यथा सङ्कीर्तनश्रवणेन भाववन्तो भूत्वा प्रणमन्ति तथैव वनलताः स्त्रियः तरवस्तत्पतयः। आत्मनि मनसि विष्णुं स्फुरन्तं व्यञ्जयन्त्यः ज्ञापयन्त्य इव अश्रुतुल्या मधुनो मकरन्दस्य धाराः ससृजुर्मुमुचुः। ववृषुरिति पाठे अश्रुणामाधिक्यम्। पुष्पफलाढ्याः पुष्पेण हर्षसञ्चारिणा फलेन रतिस्थायिना च विराजमानाः। प्रणतभारेण विटपा शाखा यासामित्यनुभावः। प्रणामः प्रेम्ना हृष्टा रोमहर्षयुक्तास्तनवो येषां ते इति रोमाञ्चः। चक्रवर्ती।

अन्वय—पुष्पफलाढ्याः (पुष्प-फलसे-परिपूर्ण) प्रणतभारविटपाः (भारवश नम्र-शाखा) प्रेमहृष्टतनवः (प्रेम पुलकित देह) वनलताः (सब वन लताएँ) तरवः (एवं सब तरु) आत्मनि (अपने मध्यमें) विष्णुं (भगवान् विष्णुकी) व्यञ्जयन्तः (सूचना करके ही) इव (मानो) मधुधाराः (मधुधाराको) ववृषुः (वर्षण किये थे), स्म (कितना आश्चर्य है)!

अनुवाद—फल-पुष्प-परिपूर्ण, अतएव नम्र शाखा एवं पुलकित-देह वनलता सब अपनेमें विष्णु विराज कर रहे हैं मानो इस बातको प्रकाश करके ही आनन्दसे मधुधारा वर्षण कर रही हैं एवं उन लताओंके पति तरुगण भी लताओंकी तरह आनन्द प्रकाश कर रहे हैं।

इस श्लोकमें भी तरु-लतादि स्थावर जीवोंके अश्रु और पुलक नामक सात्विक भावकी बात कही गई है।

स्तम्भ, अश्रु, पुलकादि भक्तिके विकार हैं—चित्त स्थित भक्तिके बहिर्लक्षण हैं; उपरोक्त दोनों श्लोकोंमें वृक्ष-लतादि-स्थावर जीवोंके सात्विक विकारका उल्लेख होनेसे कृष्णकृपासे उनके भगवद्भजनकी बात जानी जाती है। इस प्रकार ये दो श्लोक भी पूर्वोक्त दो पयारोंके प्रमाण हैं।

तथाहि श्रीमद्भागवते (२।४।१८)—

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा
आभीरसुह्मा यवनाः खसादयः ।
येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः
शुद्‌ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥७८॥

श्लोक ७८ का अन्वय-अनुवादादि इसी परिच्छेदके ६४वें श्लोकमें पृष्ठ १९७ पर देखिये ।

इस श्लोकमें मूर्ख-नीचादिकी कृष्णभजनकी बात बतायी गयी है । यह १३३वें पयारका प्रमाण है ।

आगे तेर अर्थ कैल, आर छय एइ ।
उनविंशति अर्थ हैल-मिलि एइ दुइ ॥१३६॥

पहले थे तेरह अर्थ किये, छः अर्थ अब किये इधर ।
उन्नीस अर्थ इस भाँति हुए, षट तथा त्रयोदश वे मिलकर ॥१३६॥

आत्मारामादि-शब्दोंके उपर्युक्त अर्थानुसार श्लोकका अन्वय इस प्रकार होगा :—

मुनयः (सनकादयः) निर्ग्रन्थाः (मूर्खनीचादयः स्थावरादयः वा) अपि आत्मारामाः (आत्मनि कृष्ण-दासोऽहं इति अभिमानात्मके स्वभावे रमन्ते ये तादृशाः सन्तः) च (एव) उरुक्रमे अहैतुकीं भक्तिं कुर्वन्ति—हरिः इत्थम्भूत गुणः ।

(१९) सनकादि मुनिगण एवं नीच जातीय मूर्खजनगण, पशु-पक्षी-आदि जीवगण या तृण-गुल्मादि स्थावरगण भी—कृष्ण-कृपादिवश 'मैं श्रीकृष्णका दास' इस प्रकार (स्वभाव-जात) अभिमान प्राप्त करके ही उरुक्रम श्रीकृष्णमें अहैतुकी भक्ति करते हैं, ऐसे ही श्रीहरिके गुण हैं ।

आरम्भमें तेरह अर्थ—पूर्वके ९९,१०४,११० पयारोंकी टीकामें आत्माराम-श्लोकको तेरह अर्थोंकी बात कही गयी है। **और छः अर्थ**—और ११३,११५, १२०,१२३,१३६ पयारोंकी टीकामें छः अर्थोंका उल्लेख किया गया है। इस प्रकार यहाँतक सब मिलाकर उन्नीस अर्थ हुए। **मिलि एइ दुइ**—तेरह और छः, ये दोनों मिलकर।

देहराम आत्माराम

एइ उनइश अर्थ कैल, आगे शुन आर।
'आत्मा' शब्दे 'देह' कहे चारि अर्थ तार ॥१३७॥

अब और सुनाता अर्थ, सुनो, उन्नीस अर्थ कर इस प्रकार।
है 'देह' अर्थ भी 'आत्मा'का, इस 'देह' शब्दके अर्थ चार ॥

'आत्मा' शब्दका 'देह' अर्थ करके श्लोकके और चार प्रकारके अर्थ करते हैं।

'आत्मा' शब्दका अर्थ देह होनेपर 'आत्माराम' शब्दका अर्थ होगा—देहराम (देहमें रमण करे जो)। **चारि अर्थ तार**—देह शब्दके चार प्रकारके तात्पर्य हैं, जो आगेके चार पयारोंमें दिखाते हैं।

'देहारामी' देहे भजे—देहोपाधि ब्रह्म।
सत्सङ्गे सेहो करे कृष्णेर भजन ॥१३८॥

है देहोपाधिक ब्रह्म-भजन करते जो देहाराम व्यक्ति।
सत्सङ्ग प्राप्त करके वे भी करने लगते श्रीकृष्ण-भक्ति ॥

देहारामी—देहमें (आत्मामें) रमण करे जो। किसी-किसी ग्रन्थमें 'देहे-रमे' इस प्रकारका पाठान्तर है। 'देह-राम' की जगह 'देहारामी' शब्द व्यवहृत हुआ है। देहमें आराम या आनन्द अनुभव करे जो वह देहारामी। **देहे भजे**—अपनी देहके बीच भजन करे। देहोपाधि-ब्रह्म—देहरूप उपाधिके बीच ब्रह्मको

भजन करे। नीचेके ७९वें श्लोकके मर्मानुसार प्रतीत होता है कि जो लोग उदर-मध्यस्थ क्रियाशक्तिके प्रवर्त्तक वैश्वानर अन्तर्यामीको भजते हैं एवं जो हृदय-मध्यस्थ बुद्धि शक्तिके प्रवर्त्तक जीवान्तर्यामीको भजते हैं, उन्हींका इस पयारमें लक्ष्य किया गया है। इनमें-से हृदयमध्यस्थ जीवान्तर्यामीके भजनकी बात पुर्वोल्लिखित चौदहवें अर्थमें (इसी परिच्छेदके ११३वें पयारकी टीका पृष्ठ १८२ पर देखिये) बतायी जा चुकी है ; अतः उदरमध्यस्थ वैश्वानर अन्तर्यामीका भजन जो लोग करते हैं, केवल उन्हींको इस पयारमें देहारामी कहा गया है, ऐसा प्रतीत होता है।

सत्सङ्गे—साधुसङ्गके प्रभावसे ऐसे देहारामीगण श्रीकृष्णभजन करते हैं।

तथाहि श्रीमद्भागवते (१०।८७।१८)—

उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशः
परिसर पद्धतिं हृदयमारुणयो दहरम्।
तत उदगादनन्त तव धाम शिरः परमं
पुनरिह यत् समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे ॥७९॥

श्लोग ७९का अन्वय-अनुवादादि इसी परिच्छेदके श्लोक ५५ में पृष्ठ १७९ पर देखिये। पूर्व पयारके प्रमाणमें यह श्लोक है।

देहारामी-कर्म्मनिष्ठ याज्ञिकादिजन।
सत्सङ्गे कर्म्म त्यजि करये भजन ॥१३९॥

जन कर्म-निष्ठ, यज्ञादि-निरत, भी देहाराम-कहे जाते।
सत्सङ्ग प्राप्तकर, त्याग कर्म आनन्द भजनमें ही पाते॥

अब दूसरे प्रकारके देहारामीकी बात बताते हैं।

कर्म्मनिष्ठ याज्ञिकादिजन—यज्ञादि कर्मकाण्डके अनुष्ठानमें है निष्ठा जिनकी। इस प्रकारके कर्मनिष्ठ लोगोंको ही इस पयारमें 'देहारामी' कहा गया है। कारण, कर्मानुष्ठानके फलसे स्वर्गादि भोग प्राप्त होते हैं। ये समस्त

भोग लौकिक सुख और दैहिक सुख ही हैं। इन दैहिक-सुख प्रापक कर्मादिका अनुष्ठान करनेवाले होनेसे कर्मनिष्ठ लोगोंको 'देहारामी' कहा गया है।

साधुसङ्गके प्रभावसे ये लोग भी कर्मानुष्ठान त्याग करके श्रीकृष्णभजन करते हैं।

तथाहि श्रीमद्भागवते (१।१८।१२)—

कर्मण्यस्मिन्ननाश्वासे धूमधूम्रात्मनां भवान्।
आपाययति गोविन्दपादपद्मासवं मधु ॥८०॥

संस्कृतटीका—किञ्च अस्मिन् कर्मणि सत्रे अनाश्वासे अविश्वसनीये। वैगुण्यं बाहुल्येन फलति निश्चयाभावात्। धूमेन धुम्रः विवर्ण आत्मा शरीरं येषां तानस्मान्। कर्मणि षष्ठी। आसवं मकरन्दं मधु-मधुरम्। स्वामी।

अन्वय—**अस्मिन्** (इन) **अनाश्वासे** (अविश्वसनीय—अधिकांशमें विघ्नवश फलप्राप्तिके विषयमें अनिश्चितताके कारण विश्वासके अयोग्य) **कर्मनि** (कर्मोंमें—सत्रयागमें) **धूमधूम्रात्मनां** (धूम्रसेवनसे धूम्रवर्णदेह) **[अस्माकम्]** (हमलोगोंको) **भवान्** (आप) **मधु** (मधुर) **गोविन्द-पाद-पद्मासवं** (गोविन्द-पाद-पद्म-मधु) **आपाययति** (पान कराते हैं)।

अनुवाद—शौनकादि मुनिगण महात्मा सूतजीसे कहते हैं—हे सूतजी! (बहुतसे विघ्नोंके कारण फलप्राप्तिके विषयमें अनिश्चितता होनेसे) अविश्वसनीय सत्र-यागादि धूम-सेवनसे जिन हमलोगोंका शरीर विवर्ण होने लगा, उन हम-लोगोंको आपने सुमधुर गोविन्द-पादपद्म-मधुपान कराकर आश्वास प्रदान किया।

सत्र याग कर्मकाण्डके अन्तर्भुक्त है। शौनकादि ऋषिगण बहुत कालपर्यन्त नैमिषारण्यमें सत्र यागादि अनुष्ठान करते रहे। बहुत कालपर्यन्त यज्ञोत्थित धूम सेवन करते-करते उनके शरीरका वर्ण भी धूम्रवर्ण हो चला। उनके देहके धूम्रवर्णद्वारा—वे लोग बहुत कालतक उक्त यज्ञका अनुष्ठान करते रहे, यह सूचित होता है। किंतु इतने कालपर्यन्त यज्ञानुष्ठान करनेपर भी यज्ञकी फल प्राप्तिके विषयमें उनके मनमें विशेष भरोसा नहीं था ; कारण, कर्मकाण्डके अनुष्ठानमें अनेक विघ्नोंकी आशङ्का है—इसमें देश-काल-पात्रादि विचार है, मन्त्रादिके

उच्चारणमें शुद्धि अशुद्धिका विचार है, उच्चारणके स्वरका विचार है—इत्यादि ; इस प्रकार अनेक त्रुटियोंकी सम्भावना है। त्रुटिहीन कर्मानुष्ठानकी आशा विडम्बना मात्र है। इसीसे कर्ममार्गमूलक सत्र-यागके फलप्राप्ति सम्बन्धमें शौनकादि ऋषि-गणको यथेष्ट सन्देह था ; कारण, अनुष्ठानके समयमें किसी भी प्रकारकी त्रुटि रह जानेसे फिर फल नहीं मिलता। ऐसी स्थितिमें महात्मा सूतजीने उनके पास जब श्रीमद्भागवत-कथा-कीर्त्तन किया, तब उन्होंने परम आनन्दका अनुभव किया और कर्मकाण्डका त्याग करके भक्तिमार्गमें भजनके निमित्त प्रलुब्ध हुए। श्रीसूतजीके सङ्गके प्रभावसे और उनकी कृपासे उनकी मतिमें यह परिवर्तन हुआ।

पूर्व पयारके प्रमाणमें यह श्लोक है।

तपस्वि प्रभृति जन 'देहारामी' हय।
साधुसङ्गे तप छाड़ि श्रीकृष्ण भजय ॥१४०॥

जो देहाराम तपस्यादिक रूपी साधनमें रत रहते।
पा साधुसङ्ग, तज तप वे भी श्रीकृष्ण-भजन-रसमें बहते॥

तीसरे प्रकारके 'देहरामी' की बात बताते हैं। तपस्वी--तपपरायण, चान्द्रायणादि कष्ट साध्य अनुष्ठान जो करते हैं। तपस्याका फल भी देहका सुख है ; इसलिये तपस्वीको भी देहारामी कहा गया है। साधुकृपाके फलसे तपस्वी देहारामी भी श्रीकृष्णभजन करते रहते हैं।

तथाहि श्रीमद्भागवते (४।२१।३१)--

यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्विना-
मशेषजन्मोपचितं मलं धियः।
सद्यः क्षिणोत्यन्वहमेधती सती
यथा पदाङ्गुष्ठविनिःसृता सरित् ॥८१॥

संस्कृतटीका—किञ्च जीवानां मोक्षदः परमेश्वर एव न अर्वाग्देवताः, तासामपि जीवत्वाविशेषादित्याशयेनाह त्रिभिः। यस्य पादयोः सेवायाः

अभिरुचिः तपस्विनां संसारतप्तानां अशेषैर्जन्मभिः संवृद्धं धियो मलं सद्यः क्षपयति, तस्येव भजतेति तृतीयोनान्वयः। कथम्भूता? अहन्यहनि वर्द्धमाना, सती सात्त्विकी। तत्पादसम्बन्धस्यैव एष महिमेति दृष्टान्तेनाह यथेति। स्वामी।

अन्वय—यत्पादसेवाभिरुचिः (जिनकी-चरणसेवाकी अभिलाषा) अन्वहं (प्रतिदिन) एधती (वृद्धिको प्राप्त होती रहती है) सती (एवं सात्त्विकी है--जो शुद्ध सत्व-स्वरूपा है, वह)—पदाङ्गुष्ठविनिःसृता (श्रीभगवान्‌के पदाङ्गुष्ठसे निःसृत) सरित् यथा (नदीकी तरह—गङ्गाके समान) **तपस्विनां** (तपस्वी लोगोंकी--बहुत तपस्यासे भी जिनके चित्तकी मलीनता दूर नहीं हुई, ऐसे तपस्वी लोगोंकी) धियः (बुद्धिकी) **अशेष-जन्मोपचित्** (अनेक जन्मोंकी सञ्चित) **मलं** (मलीनताको) सद्यः (तत्क्षण—महत्कृपा प्राप्ति मात्रसे ही) **क्षिणोति** (क्षय कर देती है) [तं भगवन्तं भजत] (उन भगवान्‌का भजन करते हैं)।

अनुवाद—महाराज पृथु सभ्यगणसे बोले—जिनके चरणोंकी सेवाके निमित्त सात्विक व शुद्ध सत्व-स्वरूप अभिलाष (जो महत्कृपाके फलसे उत्पन्न हुई है एवं जो) प्रतिदिन उत्तरोत्तर वर्द्धित होकर—(बहुत कालपर्यन्त तपस्याके फलसे भी जिनकी बुद्धिकी मलिनता दूर नहीं हुई, उन सब) तपस्वीगणकी बुद्धिकी मलिनताको (दुर्वासनाको) शीघ्र ही (—महत्कृपाकी प्राप्ति मात्रसे ही)—(श्रीभगवान्‌के) पदाङ्गुष्ठसे निकली हुई गङ्गाकी तरह—सम्पूर्ण रूपसे नष्ट कर देती है, (उन श्रीहरिका भजन करें)।

साधु-सङ्ग व महत्कृपाके फलसे जिन तपस्वीगणकी मलिनता भी दूर हो जाती है और दूर होनेके उपरान्त उनके चित्तमें भी वह शुद्ध-सत्व-स्वरूपा भक्तिका (सेवा-वासनाका) उदय होता है, वही इस श्लोकसे जाना गया। इस प्रकार यह पूर्व पयार १४०का प्रमाण हुआ।

'देहारामी' सर्व्वकाम, सब 'आत्माराम'।
कृष्णकृपाय कृष्ण भजे छाड़ि सब काम ॥१४१॥

जन देहाराम अनेककाम, हैं 'आत्माराम' सकल वे पर।
श्रीकृष्ण-कृपासे कृष्ण-भजन करते कामना सभी तजकर ॥

अब चौथे प्रकारके देहारामीकी बात बतलाते हैं। **सर्व्वकाम**—सब प्रकारसे दैहिक सुख ही जिनके लिये प्रार्थनीय है, वे हुए सर्वकाम-देहारामी। श्रीकृष्णकी कृपा होनेपर सर्वकाम-देहारामी भी समस्त कामनाका त्याग करके श्रीकृष्णभजन करते रहते हैं। इसका प्रमाण है—ध्रुव महाराज। उन्होंने पितृ-सिंहासनके लिये भजन किया था। श्रीहरिकी कृपासे सिंहासनका लोभ दूर हो गया। नीचेका श्लोक इसका प्रमाण है।

तथाहि श्रीहरिभक्तिसुधोदये (७।२८)--

स्थानाभिलाषी तपसि स्थितोऽहं
त्वां प्राप्तवान् देवमुनीन्द्र गुह्यम्।
काचं विचिन्वन्निव दिव्यरत्नं
स्वामिन् कृतार्थोऽस्मि वरं न याचे ॥८२॥

संस्कृतटीका— हे स्वामिन्! अहं स्थानाभिलाषी राजसिंहासनाभिलाषी सन् तपसि स्थितः देवमुनीन्द्रगुह्यं एतेषां अप्रापनीयं त्वां प्राप्तवान्। कीदृशं काचं विचिन्वन् अन्वेषयन् दिव्यरत्नमिव। कृतार्थोऽस्मि कृतकृतार्थो भवामि वरं स्थानं न याचे न प्रार्थयामि। श्लोकमाला १५।

अन्वय—**अहं** (मैं—ध्रुव) **स्थानाभिलाषी** (राजसिंहासनके लिये अभिलाषी होकर) **तपसि स्थितः** (तपस्यामें अवस्थित रहकर--तपस्या करके) **काचं** (काच) **विचिन्वन्** (अनुसन्धान करते-करते) **दिव्यरत्नं इव** (दिव्यरत्नकी तरह)—**देवमुनीन्द्रगुह्यं** (देव-मुनिगणको अप्राप्य) **त्वां** (आपको—भगवान्को) **प्राप्तवान्** (पाया है) ; **स्वामिन्** (हे प्रभो)! **कृतार्थः अस्मि** (मैं कृतार्थ हो गया हूँ), **वरं** (वर) **न याचे** (नहीं माँगता)।

अनुवाद— हे प्रभो! काचका अन्वेषण करते-करते लोग जैसे दिव्य रत्नको प्राप्त कर लेते हैं, मैंने भी उसी प्रकार पितृसिंहासन प्राप्त करनेके निमित्त तपस्या

करते-करते देवेन्द्र और मुनिन्द्रगणके लिये भी दुर्लभ आपके चरण प्राप्त किये हैं। स्वामिन्! मैं इससे कृतार्थ हो गया हूँ, अन्य कोई भी वर अब नहीं चाहता।

१४१वें पयारके प्रमाणमें यह श्लोक है।

एइ चारि अर्थ सह हैल तेइश अर्थ।
आर तिन अर्थ शुन परम समर्थ॥१४२॥

यों तेइस अर्थ हुए अबतक इन चारों अर्थोंको लेकर।
अब सुनो समाहित होकर तुम अर्थावलि तीन समर्थ अपर॥

१४२ श्लोकस्थ 'आत्माराम'—शब्दसे उक्त चार प्रकारकी अर्थ योजना करनेसे श्लोकके चार प्रकारके अर्थ होते हैं। नीचे इन चार प्रकारके अर्थोंका दिग्दर्शन दिया जाता है—

(२०) देहस्थित उदर-मध्यस्थ वैश्वानर अन्तर्यामीका जो लोग भजन करते हैं वे देहराम(आत्माराम)गण भी निर्ग्रन्थ एवं मननशील होकर उरुक्रम भगवान्‌की अहैतुकी भक्ति करते रहते हैं—ऐसी ही श्रीहरिकी गुण महिमा है (१३८ पयार देखिये)।

(२१) दैहिक सुख भोगार्थ यज्ञादि कर्मकाण्डका अनुष्ठान ही जिनकी निष्ठा है, ऐसे देहराम(आत्माराम)गण भी निर्ग्रन्थ एवं मननशील होकर भी उरुक्रम भगवान्‌की अहैतुकी भक्ति करते हैं—ऐसी ही श्रीहरिकी गुण महिमा है (१३९ पयार देखिये)।

(२२) दैहिक सुखभोगार्थ तपस्यादिका अनुष्ठान जो लोग करते हैं, ऐसे देहराम(आत्माराम)गण भी निर्ग्रन्थ एवं मननशील होकर भी उरुक्रम भगवान्‌की अहैतुकी भक्ति करते हैं—ऐसी ही श्रीहरिकी गुण महिमा है (१४० पयार देखिये)।

(२३) सर्वविध दैहिक सुख ही जिनके काम्य हैं, ऐसे देहराम (आत्माराम)गण भी निर्ग्रन्थ एवं मननशील होकर उरुक्रम भगवान्‌की अहैतुकी भक्ति करते हैं—ऐसी ही श्रीहरिकी गुण महिमा है (१४१ पयार देखिये)।

पहिले १९ प्रकारका अर्थ बताया जा चुका। ये चार अर्थ मिलाकर २३ अर्थ हो गये।

आर तिन अर्थ—अगले पयारोंमें और भी तीन प्रकारके अर्थ व्यक्त किये जा रहे हैं। श्लोकस्थ 'च' शब्दका समुच्चय अर्थ मानकर एक अर्थ, अन्वाचय अर्थ मानकर एक अर्थ और 'निर्ग्रन्थ' शब्दका व्याध अर्थ मानकर और एक अर्थ—इस प्रकार ये सब तीन अर्थ हुए।

'च'-शब्दे समुच्चये आर अर्थ कय।
'आत्मारामाश्च मुनयश्च' कृष्णेरे भजय॥१४३

अब 'च' का समुच्चय अर्थ मान हम अर्थ और भी हैं करते।
जन आत्माराम तथा मुनिगण भी कृष्ण-भजन-पथ अनुसरते॥

'च' शब्दका समुच्चय अर्थ मानकर श्लोकका अन्य एक प्रकारका अर्थ करते हैं। **च-शब्दद्वारा** जो कई शब्द युक्त होकर, सब शब्दोंका समभावसे ग्रहण सूचित होता है तब 'च'का समुच्चयार्थ होता है। जैसे 'रामश्च कृष्णश्च वने विहरतः—रामश्च कृष्णश्च वनमें विहार करते हैं। यहाँ 'च'का समुच्चयार्थ लेनेपर अर्थ इस प्रकार होगा—राम एवं कृष्ण दोनों ही समान भावसे वनमें विहार करते हैं। दोनोंके विहारका एक सङ्ग आरम्भ है और एक सङ्ग ही शेष। राम जिस भावसे विहार करते हैं कृष्ण भी ठीक उसी भावसे विहार करते हैं। एक जन मुख्य भावसे और एक जन गौण भावसे—राम विहार करते हैं कहनेसे ही कृष्ण विहार करते हैं, ऐसा अर्थ सूचित नहीं होगा।

मूल श्लोकका 'च' शब्द समुच्चयार्थमें लेनेसे **'आत्मारामाश्च मुनयः'** शब्दका

अर्थ होगा—आत्मारामाश्च मुनयश्च । आत्मारामगण एवं मुनिगण, ये दोनों ही समभावसे श्रीकृष्णभजन करते हैं—आत्मारामगण मुख्य भावसे और मुनिगण गौण भावसे, अथवा मुनिगण मुख्य भावसे आत्मारामगण गौण भावसे श्रीकृष्णभजन करते हैं ऐसा अर्थ नहीं समझा जा सकता।

'निर्ग्रन्थाः' हइया इहाँ 'अपि' निर्द्धारणे।
'रामश्च कृष्णश्च यथा विहरये वने' ॥१४४॥

'अपि'का 'निश्चय', 'निर्ग्रन्थ'-अर्थ ले पूर्वकथित, तद्वत होकर।
रामश्च कृष्णचन्द्रश्च यथा करते विचरण वनके भीतर॥

'च' शब्दके समुच्चयार्थके साथ मेल रखते हुए 'निर्ग्रन्थाः' और 'अपि' दोनों शब्दोंका अर्थ करते हैं।

निर्ग्रन्थाः—(पूर्व कथित) अविद्याग्रन्थिहीन, अथवा शास्त्रविधिहीन।

अपि—शब्द निर्द्धारणमें अथवा निश्चयार्थमें व्यवहृत हुआ है। आत्मारामगण एवं मुनिगण निर्ग्रन्था होकर भी कृष्णभजन करते हैं—यही 'अपि' शब्दका तात्पर्य है।

रामश्च कृष्णश्च—'च' शब्दका समुच्चयार्थ समझानेको एक उदाहरण देते हैं। पूर्व पयारका अर्थ देखिये।

'च' शब्दका समुच्चय अर्थ मानकर श्लोकका अर्थ इस प्रकार होगा :—

(२४) आत्मारामगण एवं मुनिगण निर्ग्रन्थ होकर भी (दोनों समभावसे) उरुक्रम श्रीकृष्णमें अहैतुकी भक्ति करते रहते हैं—ऐसी ही श्रीहरिके गुणोंकी महिमा हैं।

यहाँतक सब मिलाकर २४ अर्थ हुए।

'च'-शब्द—'अन्वाचये' अर्थ कहे आर।
'वटो! भिक्षामट गाञ्चानय' जैछे प्रकार॥१४५

'अन्वाचय' करके 'च' का अर्थ कह रहा और भी अर्थ अपर ।
'भिक्षामट वटो ! च गामानय' में 'च'का अर्थ जैसा लेकर ॥

'च' शब्दका अन्वाचय अर्थ मानकर श्लोकका अर्थ करते हैं। अन्वाचयका अर्थ है—'च' शब्दद्वारा जो दो शब्दोंका संयोग होता है, उनमें-से एकका प्राधान्य और दूसरेका अप्राधान्य सूचित होता है। जैसे—**"वटो! भिक्षामट गाञ्चानय"** (**गां च आनय**); इसका अर्थ यह है :—हे वटो ! तुम भिक्षाके लिये जाओ (**भिक्षाम् अट**); आनेके समय गायको ले आना (**गां च आनय**)। यहाँपर 'भिक्षाके लिये जाना' ही मुख्य है, 'गाय लाना' मुख्य नहीं है—गौण है। **'भिक्षामट'** एवं **'गां आनय'** ये दो वाक्य 'च' शब्दद्वारा युक्त हुए हैं। एकका (भिक्षाके लिये जाना) प्राधान्य एवं दूसरेका (गाय लाना) अप्राधान्य सूचित होना 'च' शब्दका अन्वाचय अर्थ हुआ । **वटो** ! शिक्षार्थी ब्राह्मणकुमारको वटु कहते हैं। वटु शब्दका सम्बोधन वटो होता है : हे वटो ! **भिक्षामट**—भिक्षां (भिक्षाके निमित्त) अट (गमन करो); भिक्षाके लिये जाओ। **गाञ्चानय**—गां च आनय। 'गां'का अर्थ गायको 'च'का अर्थ एवं या भी, 'आनय'का अर्थ आनयन करो। गाञ्चानयका अर्थ—एवं गायको आनयन करो अर्थात् गायको ले आना। **जैछे प्रकार**—जिस प्रकार; **'भिक्षामट गाञ्चानय'**—इस वाक्यमें 'च' शब्द जिस प्रकार (अन्वाचय) अर्थमें व्यवहृत हुआ है, (मूल श्लोकका भी उसी प्रकार अर्थ होगा)।

कृष्णमनन 'मुनि' कृष्णे सर्व्वदा भजय।
'आत्मारामा अपि' भजे गौण अर्थ कय॥१४६॥

जो कृष्ण-मनन-शाली वे 'मुनि', श्रीकृष्ण-भजनमें सदा निरत ।
'आत्मारामा अपि' भजते हैं, यह गौण अर्थद्वारा अवगत ॥

पूर्व पयारमें दृष्टान्तद्वारा 'च' शब्दका अन्वाचयार्थ समझाकर इस पयारमें मूल श्लोकमें 'च' शब्दका तात्पर्य बताते हैं। **'आत्मारामाश्च मुनयः निर्ग्रन्थाः अपि'** इत्यादिका अन्वय इस प्रकार होगा :—**मुनयः आत्मारामाः च निर्ग्रन्थाः**

(सन्तः) अपि भक्तिं कुर्वन्ति—मुनयः भक्तिं कुर्वन्ति, आत्मारामाश्च भक्तिं कुर्वन्ति। अर्थात् मुनयः भक्तिं कुर्वन्ति एव, आत्मारामाः अपि भक्तिं कुर्वन्ति—मुनिगण भक्ति करते ही हैं, आत्मारामगण भी भक्ति करते हैं। मुनिगणका प्राधान्य एवं आत्मारामगणका अप्राधान्य या गौणत्व सूचित होता है। श्रीनारदादि मुनिगण सर्वदा ही (प्रथमावधिसे ही—आरम्भसे ही) श्रीकृष्ण-भजन करते हैं,—यही मुख्यार्थ है ; और ब्रह्मोपासक प्रभृति आत्मारामगण भी साधु सङ्गादिके प्रभावसे अपनी-अपनी उपासना त्यागकर उसके बाद श्रीकृष्ण-भजन करते हैं—यह हुआ गौण अर्थ।

कृष्ण मनन--मुनि शब्दका अर्थ करते हैं ; मुनिका अर्थ मननशील, अर्थात् कृष्णमें (कृष्ण-रूप-गुणादिमें) मननशील जो हैं, वे ही मुनि हैं—श्रीनारदादि प्रसिद्ध कृष्णभक्त मुनिगण। **सर्व्वदा भजय**—जन्मावधि (जन्म भर) सब समय ही श्रीकृष्णभजन करते हैं ; किसी समय उनके कृष्णभजनमें बाधा नहीं होती। इसके द्वारा 'मुनि' शब्दका मुख्यत्व या प्राधान्य दिखाते हैं। **आत्मारामा अपि**—ब्रह्मोपासकादि आत्मारामगण भी। श्रीनारदादि मुनिगण जन्मावधि सर्वदा ही श्रीकृष्णभजन करते हैं ; इसमें कोई भी संदेह नहीं। ब्रह्मोपासक आत्मारामगण भी ब्रह्मोपासना त्यागके उपरान्त श्रीकृष्णभजन करते हैं। इससे भजन-व्यापारमें आत्मारामगणका गौणत्व या अप्राधान्य दिखाया गया।

'च'-एवार्थे, मुनय एव कृष्ण भजय।
'आत्मारामा' 'अपि'—'अपि'—गर्हा-अर्थ कय

यदि 'च' 'एव'का वाचक, तब मुनिजन ही करते श्रीकृष्ण-भजन।
'आत्मारामा अपि'में 'अपि'का 'भी' गौण अर्थ जाता है बन ॥१४७॥

च—एवार्थे इत्यादि—श्लोकके 'च' शब्दका तात्पर्य बताते हैं। **एवार्थे**—'एव' अर्थे ; 'एव' शब्दका जो अर्थ है उसी अर्थमें ; 'एव' शब्दका अर्थ 'ही' निश्चयात्मक। 'मुनयः च'का अर्थ 'मुनयः एव' अर्थात् मुनिगण ही कृष्णभजन करते हैं ; इससे भजन-विषयमें मुनिगणका प्राधान्य दिखाते हैं। **आत्मारामा**

अपि —आत्मारामगण भी (भजन करते हैं)। गहाँ अर्थ —गौण अर्थ ; अप्रधान अर्थ। 'आत्मारामा अपि'में 'अपि' शब्दसे कृष्णभजन विषयमें आत्मारामगणका गौणत्व या अप्राधान्य समझाते हैं।

निर्ग्रन्थ हइया' एइ दोंहार विशेषण।
आर अर्थ शुन जैछे साधुर सङ्गम ॥१४८॥

'होकर निर्ग्रन्थ' विशेषण यह दोनों पक्षोंको है ग्रहता।
किस भाँति भजन-प्रद साधु-सङ्ग अन्यार्थ एक ऐसा कहता॥

निर्ग्रन्थ हइया इत्यादि—श्लोकका 'निर्ग्रन्था' शब्द 'मुनयः' और 'आत्मारामाः' इन दोनों शब्दोंका विशेषण है। मुनिगण एवं आत्मारामगण ये दोनों ही निर्ग्रन्थ होकर श्रीकृष्णभजन करते हैं —यही तात्पर्य है। 'च' शब्दके अन्वाचय अर्थमें मूल श्लोकका अर्थ इस प्रकार होगा :—

(२५) (श्रीनारदादि कृष्ण-मनन-शील) मुनिगण निर्ग्रन्थ होकर भी (सर्वदा ही) श्रीकृष्णमें अहैतुकी भक्ति करते हैं ; (ब्रह्मोपासकादि) आत्मारामगण भी (साधुसङ्गादिके प्रभावसे ब्रह्मोपासनादि त्याग करके) निर्ग्रन्थ होकर श्रीकृष्णमें अहैतुकी भक्ति करते हैं—ऐसी ही श्रीहरिके गुणोंकी महिमा है।

यहाँ पर्यन्त सब मिलाकर 'आत्मारामाश्च·····' श्लोकके २५ प्रकारके अर्थ हुए।

एइ दोंहार—मुनयः (मुनिगण) एवं आत्मारामाः (आत्मारामगण)—इन दोनोंके। विशेषण—गुण प्रकाशक शब्द। आर अर्थ शुन—(१४८वें पयारमें उल्लिखित तीन अर्थोंमें-से) इन कई पयारोंमें दो अर्थ दिखाये गये ; अब एक और अर्थ करते हैं। जैछे साधुर सङ्गम—जिस अर्थमें साधुसङ्गकी महिमा जानी जाती है।

साधु-कृपाकी महिमा

'निर्ग्रन्थ'-शब्दे कहे—व्याध निर्धन ।
साधुसङ्गे सेहो करे श्रीकृष्ण भजन ॥१४९॥

'निर्ग्रन्थ' शब्दका अर्थ कहा जाता है 'निर्धन-व्याध-वधिक' ।
पा साधुसङ्ग वह भी जाता बन कृष्णपदाम्बुज-भजन-रसिक ॥

'आत्मारामाश्च…' श्लोकका और एक प्रकारका अर्थ करते हैं । इस अर्थमें मूल श्लोकका 'निर्ग्रन्थ' शब्द ही 'कुर्वन्ति' क्रियाका कर्त्ता है । निर्ग्रन्थगण श्रीकृष्ण-भजन करते हैं —आत्माराम एवं मुनि होकर **'निर्ग्रन्थ'-शब्दे** इत्यादि—'निर्ग्रन्थ' शब्दका अर्थ निर्धन ; दरिद्र । **व्याध निर्धन**—जो लोग इतने दरिद्र हैं कि जीविका निर्वाहके लिये अन्य उपाय न देखकर पशु हनन रूप व्याध-वृत्ति अवलम्बन करते हैं, वे लोग भी साधुसङ्गके प्रभावसे श्रीकृष्णभजन करते रहते हैं ।

'कृष्णरामाश्च एव' हय कृष्णमनन ।
व्याध हञा हय पूज्य भागवतोत्तम ॥१५०॥

तब 'आत्माराम' 'रसिक हरिका' ; 'मुनि' वह जो करता कृष्ण-मनन ।
होकर भी व्याध महान पूज्य भागवत परम जाता है बन ॥

'निर्ग्रन्थ' शब्दके 'निर्धन व्याध' अर्थके साथ मेल रखते हुए 'आत्मारामाः' और 'मुनयः' शब्दोंका अर्थ करते हैं । 'आत्मा' शब्दका 'कृष्ण' अर्थ मानकर 'आत्माराम' शब्दका 'कृष्णराम' अर्थ किया गया । आत्मामें (कृष्णमें) रमण (प्रीतिलाभ) करते हैं जो, वे आत्माराम (कृष्णराम) । **कृष्णरामाश्च**— आत्मारामाश्च ; श्रीकृष्णमें रमणशील (श्रीकृष्ण विषयमें प्रीतियुक्त) । कृष्णरामाश्च---कृष्णरामाः च । **च एव**—श्लोकस्थ 'च' शब्दका अर्थ यहाँ 'ही' है ; कृष्णरामाश्च—कृष्णराम (कृष्णमें प्रीतियुक्त) होकर ही वे श्रीकृष्णभजन करते हैं । **कृष्णमनन**—कृष्ण विषयमें मननशील ; यह श्लोकस्थ 'मुनयः' शब्दका अर्थ है । **व्याध हञा हय** इत्यादि —

घृणित व्याध होकर भी श्रीकृष्णभजनके प्रभावसे उत्तम भागवत रूपसे वे सबके पूजनीय होकर रहते हैं। इससे श्रीकृष्णभजनकी महिमा बताते हैं।

उक्त प्रकारके अर्थके अनुसार श्लोकके अन्वय आदि इस प्रकार होंगे।

अन्वय--निर्ग्रन्थाः (व्याधादयः) अपि आत्मारामाः मुनयः च (एव) (सन्तः) उरुक्रमे अहैतुकीं भक्तिं कुर्वन्ति—हरिः इत्थम्भूतगुणः।

(२६) निर्धन व्याधादि भी आत्माराम (श्रीकृष्णप्रीतियुक्त) एवं मुनि (श्रीकृष्ण विषयमें मननशील) होकर ही उरुक्रम श्रीकृष्णमें अहैतुकी भक्ति करते हैं—ऐसी ही श्रीहरिके गुणोंकी महिमा है।

यहाँतक सब मिलाकर २६ प्रकारके अर्थ हुए।

व्याध और नारदकी कथा

एक भक्त व्याधेर कथा शुन सावधाने।
जाहा हैते हय सत्सङ्ग महिमाज्ञाने ॥१५१॥

अब व्याध-भक्तकी एक कथा तुम श्रवण करो हो सावधान।
इसके द्वारा तुम जानोगे सतसङ्ग-लाभ-महिमा महान॥

साधुसङ्गके माहात्म्यसे प्राणि-हिंसक व्याधादिको भी श्रीकृष्णभजनमें रति उत्पन्न होती है, इसको एक व्याधके आख्यानद्वारा दिखाते हैं। इससे सत्सङ्गकी महिमाका ज्ञान होता है।

एक दिन श्रीनारद देखि नारायण।
त्रिवेणीस्नाने प्रयाग करिला गमन ॥१५२॥

कर बदरीवनमें एक दिवस श्रीनारद नारायण-दर्शन।
करनेको स्नान त्रिवेणीमें वे किये प्रयागकी ओर गमन॥

नारायण—वद्रिकाश्रमके श्रीनारायण। **त्रिवेणी स्नाने**—गङ्गा, यमुना और सरस्वती—इन तीन नदियोंके सङ्गम स्थानको त्रिवेणी कहते हैं। यह प्रयागमें अवस्थित है। भक्तगण इस त्रिवेणीमें स्नान किया करते हैं। **स्नाने**—स्नान करनेके निमित्त। **प्रयाग**—वर्तमान इलाहाबाद शहर।

एक दिन श्रीनारदने श्रीनारायणके दर्शन करके त्रिवेणी स्नानके लिये प्रयागके लिये प्रस्थान किया,

वनपथे देखे मृग आछे भूमें पड़ि।
बाणविद्ध भग्नपाद करे धड़फड़ि॥१५३॥

वनपथमें देखा एक हरिण, जो पड़ा हुआ था पृथ्वीपर।
वह तड़प रहा था, टूट गया था पैर बाणसे हत होकर॥

वाणविद्ध—व्याधके वाणसे विद्ध होकर। **भग्नपाद**—जिसका पैर टूट गया है।

रास्तेमें वन पथमें वाणविद्ध, टूटी हुई टांगवाले, तड़फड़ाते हुए भूमिपर पड़े हुए एक मृगको देखा,

आर कथोदूरे एक देखेन शूकर।
तैछे विद्ध भग्नपाद करे धड़फड़॥१५४॥

कुछ और दूर आगे जानेपर मिला एक उनको शूकर।
शर-विद्ध, भग्न-पद, तड़प रहा था वह भी वैसे ही भूपर॥

ऐछे एक शशक देखे आर कथोदूरे।
जीवेर दुःख देखि नारद व्याकुल अन्तरे॥१५५

फिर उसी दशामें एक शशक देखा कुछ और दूर जाकर।
नारदका उर अवलोक दुःख जीवोंका गया व्यथासे भर॥

तैछे—पूर्वोक्त प्रकार वाणविद्ध और भग्नपाद। शशक—खरगोश।

और कुछ दूरी पर उसी प्रकार वाणविद्ध टूटी हई टांगवाले तड़फड़ाते शूकरको और आगे चलकर वैसी ही हालतमें एक खरगोशको देखा। जीवोंके इस दुःखसे नारदका हृदय व्याकुल हो उठा और

कथोद्दूरे देखे व्याध वृक्ष ओत हैया।
मृग मारिबारे आछे बाण जुड़िया ॥१५६॥

कुछ दूर और चलनेपर तरुकी ओट दिखायी दिया व्याध।
करनेको और मृगोंका वध था रहा लक्ष्यपर बाण साध॥

वृक्षे ओत हैया—वृक्षपर चढ़कर वृक्षके शाखादिमें अपनी देहको सावधानीसे छिपाकर।

कुछ दूर आगे चलकर वृक्षकी ओटमें छिपे हुए मृगको मारनेको वाण ताने हुए व्याधको देखा।

श्यामवर्ण रक्तनेत्र महाभयङ्कर।
धनुर्व्वाण हस्ते जेन यमदण्डधर ॥१५७॥

काला शरीर था, लाल-लाल आँखें थीं, महा भयंकर था।
धनु-बाण लिये हाथोंमें था, हों दण्ड लिये यमराज यथा॥

इस पयारमें व्याधके आकारादिका वर्णन करते हैं। व्याधके शरीरका वर्ण श्याम है, उसकी दोनों आँखें खूब लाल (रक्त नेत्र) हैं, उसको देखते ही मनमें अत्यन्त भय उत्पन्न होता है (महाभयङ्कर)! व्याधने धनुष और वाण हाथमें ले रक्खे हैं; ऐसा लगता है मानो धनुष-वाण नहीं यम-दण्ड ही धारण कर रक्खा है।

यमदण्डधर—धनुष-वाणद्वारा पशुओंका बध किया जानेसे उसको यम-दण्ड-धारी कहा गया है।

पथ छोड़कर नारद उस व्याधके निकट चले। नारदको देखकर सब मृग भाग गये। इससे क्रुद्ध होकर व्याध उनको गाली देने लगा, किंतु नारदके प्रभावसे गाली मुखसे निकल नहीं सकी।

पथ छाड़ि नारद तार निकटे चलिल।
नारद देखिया सब मृग पलाइल ॥१५८॥

तज करके अपना सीधा पथ, नारद चल उसकी ओर पड़े।
नारदको आते हुए देख मृग हुए वहाँके भाग खड़े॥

क्रुद्ध हञा व्याध तारे गालि दिते चाय।
नारदप्रभावे गालि मुखे ना वाहिराय ॥१५९॥

तव चला व्याध नारदजीको गाली देने क्रोधित होकर।
नारद-प्रभावसे पर मुखसे गाली न निकल पायी बाहर॥

'गोसाञि! प्रमाणपथ छाड़ि केने आइला।
तोमा देखि मोर लक्ष्य मृग पलाइला ॥१६०॥

वोला, "क्यों आये आप इधर साधो! सीधा निज मार्ग त्याग।
जिनपर था मेरा लक्ष्य, सभी मृग गये आपको देख भाग"॥

प्रमाणपथ—लोगोंके आवागमन हेतु प्रसिद्ध पथ। किसी-किसी ग्रन्थमें 'प्रयाण-पथ' पाठ है। प्रयाण-पथका अर्थ—जानेका पथ। किसी ग्रन्थमें 'गोसाञि! प्रणाम, पथ छाड़ि केने आइला' पाठ है। अर्थ होगा—नारदको देखकर व्याध बोला—"गोसाञि! आपको प्रणाम करता हूँ। आप पथ छोड़कर इधर क्यों आये?"

तोमा देखि मोर लक्ष्य मृग—मैंने जिस मृगको बध करनेके निमित्त धनुष-वाणका लक्ष्य लगाकर रक्खा है वह मृग तुमको देखकर भाग गया।

नारद कहे–पथ भूलि आइलाङ् पूछिते ।
मने एक संशय हय, ताहा खण्डाइते ॥१६१॥

नारद बोले, "पथ भूल गया, पूछने उसे आ गया इधर ।
मनमें है संशय एक उठा, उसका तो निराकरण दो कर ॥

पथे जे शूकर, मृग, जानि तोमार हय ? ।
व्याध कहे--'जइ कह, सेइ त निश्चय' ॥१६२॥

जो पथमें पड़े हुए शूकर-मृग, मेरे जान तुम्हारे हैं ।
"है बात आपकी ठीक," व्याध बोला, "मैंने ही मारे हैं" ॥

नारदजीने व्याधसे कहा—"मेरे मनमें एक संशय (सन्देह) उत्पन्न हुआ है । तुमसे जिज्ञासा करके वह संशय दूर करनेके मिमित्त तुम्हारे पास आया हूँ । पथमें शूकर-मृग पड़े हैं क्या वे तुम्हारे हैं ?" व्याधने कहा—"जो आप कह रहे हैं, वह ठीक है अर्थात् ये शूकर-मृग मेरे ही हैं ।

नारद कहे–"यदि जीवे मार तुमि वाण ।
अर्द्धमारा कर केने न लओ पराण" ? ॥१६३॥

नारद बोले—यदि जीवोंको तुम आहत करते मार बाण ।
अधमरा छोड़ते क्यों उनको, हर लेते क्यों उनके न प्राण ॥

नारदका संशय क्या है ?—वह बताते हैं । नारदजीने कहा—"व्याध ! मैं देखता हूँ कि तुमने जीवोंको वाणविद्ध करके रख छोड़ा है ; किंतु इन जीवोंको सम्पूर्णरूपसे न मारकर उन्हें अधमरा करके क्यों रख छोड़ा है ?

व्याध कहे–शुन गोसाञि! मृगारि मोर नाम।
पितार शिक्षाते आमि करि ऐछे काम ॥१६४॥

बोला लुब्धक "सुनिये स्वामिन्! मेरा 'मृगारि' है पड़ा नाम।
जो मिली पितासे सीख मुझे, मेरा उसके अनुरूप काम॥

अर्द्धमारा जीव यदि धड़फड़ करे।
तबे त आनन्द मोर बाढ़ये अन्तरे ॥१६५॥

जिस समय जीव घायल होकर अधमरा तड़पता पृथ्वीपर।
तब देख-देख उसको जाता आनन्द हृदयमें मेरे भर"॥

नारदजीकी बात सुनकर व्याध बोला—"गोसाञि! मैं हूँ व्याध; पशुवध ही मेरा व्यवसाय है। मैंने अपने पितासे यही शिक्षा पायी है। इन जीवोंको सम्पूर्ण रूपसे मार डालनेपर भी मेरी वास्तवमें कोई क्षति नहीं है। किंतु अधमरे जीव जब यन्त्रणासे तड़फड़ाते हैं, तब उस तड़फड़ानेको देखकर मुझे अत्यन्त आनन्द होता है, इसीलिये मैं इनके प्राण हरण न करके इनको अधमरा करके रखता हूँ।" इसीसे समझा जा सकता है कि व्याधका अन्तःकरण कितना कठोर और कितना निष्ठुर है।

मृगारि—मृग (पशु) का अरि (शत्रु); व्याध।

नारद कहे—एक वस्तु मागि तोमा स्थाने।
व्याध कहे—मृगादि लेह जेइ तोमार मने॥

नारद बोले—"मैं एक वस्तु माँगूँ, यदि तुम देना चाहो"।
"लीजिये मृगादिक", कहा व्याधने, "जिसकी मनमें इच्छा हो ॥१६६॥

मृगछाल चाइ यदि, आइस मोर घरे।
जेइ चाह, ताहा दिब मृग-व्याघ्राम्बरे ॥१६७॥

मृगछालाकी यदि इच्छा हो, तब आप पधारें मेरे घर।
जो कुछ भी चाहेंगे दूँगा, मृगछाला अथवा व्याघ्राम्बर" ॥

नारदने कहा—"मैं तुमसे एक वस्तु माँगता हूँ।" व्याधने समझा कि ये कोई पशु या पशुका चर्म चाहते होंगे, इससे उसने कहा—"तुम जिस मृगको चाहो ले लो, अथवा मृगचर्म चाहो तो मेरे घर चलो, मृगछाल या व्याघ्राम्बर जो चाहोगे दूँगा।"

मृग-व्याघ्राम्बरे—मृगचर्म और व्याघ्र चर्म ; हरिणका चमड़ा और व्याघ्रका चमड़ा। कोई-कोई संन्यासी कपड़ेकी जगह मृगचर्म या व्याघ्रचर्म पहनते हैं। इसीलिये इस चर्मको अम्बर (वस्त्र) कहा गया है।

नारद कहे—इहा आमि किछुइ ना चाइ।
आर एक दान आमि मागि तोमा ठाञि ॥१६८॥

नारद बोले—"यह सब कुछ भी चाहिये नहीं मुझको, भाई !
और ही वस्तु तुमसे मनमें इस समय माँगनेकी आयी" ॥

कालि हैते तुमि जेइ मृगादि मारिबे।
प्रथमेइ मारिबे, अर्द्धमारा ना करिबे ॥१६९॥

नारदने कहा—"करो कलसे तुम जिन मृग आदिकको आहत।
दो मार प्रथम ही बार उन्हें, अधमरा बनाकर छोड़ो मत ॥"

नारदने कहा—"मुझे ये सब कुछ नहीं चाहिये। मैं तो तुमसे और ही दान माँगता हूँ। कलसे तुम जिन मृगादिको मारो उनको अधमरा न करके एकदम मार डालना।"

व्याध कहे—किवा दान मागिले आमारे?
अर्द्ध मारिले किवा हय, ताहा कह मोरे ॥१७०॥

तब कहा व्याधने, "भला, आपने दान कौन-सा माँगा यह।
अधमरा छोड़नेसे होता क्या? मुझे दीजिये मुनिवर कह" ॥

व्याधने कहा—"यह तुमने मुझसे क्या माँगा? अधमरा करनेसे क्या होता है?—यह मुझे बताओ।"

नारद कहे—अर्द्ध मारिले जीव पाय व्यथा।
जीवे दुःख दिछ, तोमार हइबे अवस्था ॥१७१॥

नारद बोले—"यन्त्रणा जीव पाता है अर्द्धमृतक होकर।
तुम दुःख प्राणियोंको देते, वैसी ही बीतेगी तुमपर ॥

नारदने कहा—"अधमरा करनेसे जीवको कष्ट होता है, जीवोंको दुःख देते हो, तो तुम्हारी भी वैसी ही अवस्था होगी।"

व्याध! तुमि जीव मार, ए अल्प पाप तोमार।
कदर्थना दिया मार, ए पाप अपार ॥१७२॥

तुम जीवोंकी हत्या करते यह व्याध! तुम्हारा पाप अल्प।
मारना यन्त्रणा दे-देकर पर पाप घोर है, है अनल्प ॥

नारदजीने कहा—तुम जातिसे व्याध हो इसलिये पशुहत्या तुम्हारा जातीय धर्म है; जातीय धर्म होनेपर भी इसमें पाप अवश्य होता है कारण जो पाप है, वह सबके लिये ही पाप है। जीवहत्या पाप कार्य है; यह ब्राह्मणके लिये भी पाप और व्याधके लिये भी पाप है।

अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता।
भूतप्रियहितेहा च धर्मोयं सार्ववर्णिकः ॥ श्रीम० भा० ११।१७।२१ ॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, काम-क्रोध-लोभ-राहित्य—ये सब प्राणी हितकर अतः प्रिय है। इस प्रकारके कार्यका यत्न सभी वर्णोंके लिये समान रूपसे सेव्य धर्म है।

अहिंसादि सभी वर्णोंके लिये—ब्राह्मणके लिये जिस प्रकार, व्याधके लिये भी उसी प्रकार—समान रूपसे सेव्य धर्म होनेसे अहिंसादिके विपरीत हिंसादि भी सब वर्णोंके लिये समान अधर्म और समान रूपसे पाप है। इस सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें स्पष्ट उक्ति पायी जाती है।

वृत्तिः सङ्करजातीनां तत्तत्कुलकृता भवेत्।
अचौराणांमपापानामन्त्यजान्तेवसायिनाम् ॥ ७।११।३०

इस श्लोककी टीकामें श्रीधर स्वामीपादने लिखा है—"तत्तं कुलकृता कुल-परम्पराप्राप्ता परम्पराप्राप्तमपि चौर्यं हिंसादिकञ्च निषेधति अचौराणाम-पापानाञ्च इति"। तत्प्रदर्शनार्थं कांश्चित प्रतिलोमविशेषानाह अन्त्यजेति।

रजकश्चर्मकारश्च नटवरुड़ एव च।
कैवर्तमेदभिल्लाश्च सप्तैते अन्त्यजा स्मृताः॥

अन्तेवसायिनश्च चण्डाल-पुक्कश-मातङ्गादयः तेषां परम्परया प्राप्तैव वस्त्रनिर्नेजनादि वृत्तिरित्यर्थः। इस श्लोकमें श्रीनारद ऋषिने प्रतिलोमज लोकगणको धर्मकी कथा बतायी थी। श्रीधर स्वामीकी (श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्त्तीकी भी) टीकानुसार उक्त श्लोकका तात्पर्य इस प्रकार है:—(रजक, चर्मकार, नट, वरुड़, कैवर्त्त, भेद और भिल्लादि) अन्त्यजवर्गके एवं (चण्डाल, पुक्कस, मातङ्गादि) अन्तेवासीवर्गके एवं सङ्करजातिवर्गके लिये कुल-परम्पराप्राप्त (जैसे रजकवर्गके लिये वस्त्र धोना, चर्मकारादिके लिये एवं अन्यान्यवर्गके लिये स्व-स्वजातीय व्यवसायादि) वृत्ति ही उनका धर्म है। किंतु चोर्य और हिंसादि उनके कुल-परम्परा-प्राप्त वृत्ति होनेपर भी, उसका त्याग करना होगा, कुल-परम्परा-प्राप्त होनेपर भी चोर्य-हिंसादि धर्म नहीं—अधर्म हैं। चक्रवर्तीपादने लिखा है—"अचौरत्वे सत्येर वृत्तिः कुलकृता विहिता पापाभावश्चोक्त इति भावः।—चोर्यविहीन होनेपर ही कुल-परम्परा-प्राप्ता वृत्ति पापशून्या होगी, अन्यथा नहीं।" अतः हिंसावृत्ति व्याधके लिये कुल-परम्परा-प्राप्त-वृत्ति होनेपर भी उसके लिये वह अधर्म है, पाप है। सभी वर्णोंके लिये

हिंसा चोर्यादि अधर्म है, पाप है। इस पापका गुरुत्व ब्राह्मणादि उच्च वर्णकी अपेक्षा व्याधादिके लिये कुछ कम हो, इसका कोई भी हेतु नहीं। पाप कार्यद्वारा सभीका चित्त समान भावसे कालिमा लिप्त होता है। जो भी हो, श्रीनारदजीने व्याधसे कहा—"जीवको प्राणोंसे न मारकर केवल कष्ट देना भी पाप है। तुम दोनों प्रकारके पापोंसे पापी हो। तुम इन पशुओंको अर्द्धमृत करके रख छोड़ते हो इससे वे अशेष यन्त्रणा भोग करते हैं। इस प्रकार यन्त्रणा देकर, उसके बाद तुम उनको प्राणोंसे मारते हो। यन्त्रणा न देकर अचानक मार डालनेसे जो पाप होता है, अशेष यन्त्रणा देकर, उसके बाद प्राणोंसे मारनेसे, उसकी अपेक्षा अधिक पाप होता है। इस पापकी तुलनामें बिना यन्त्रणाके प्राणिहत्याका पाप कम होता है।

ए अल्प पाप तोमार—जीवहत्या व्याधका जाति धर्म होनेसे उसमें कम पाप हो, ऐसी बात नहीं। कदर्थना (यन्त्रणा) देकर हत्या करनेसे जो पाप होता है, उसकी तुलनामें यह पाप कम है।

जो पाप है, वह जातीय धर्म होनेपर भी पाप है, वैदिक काम्य कर्मादिका अङ्गीभूत होनेपर भी पाप है। जीव-हत्या पाप है। सुरथ राजाने दुर्गापूजामें बकरेकी बलि दी थी तो भी उनको पापग्रस्त होना पड़ा था। मृत्युके बाद उसके द्वारा मारे गये बकरे एक-एक खड्ग हाथमें लेकर सुरथ राजाको आघात करनेके लिये खड़े हुए थे। भगवती पूजाके अङ्गरूप उन्होंने बकरोंकी हत्या की थी तो भी उनको जीव-हत्याका फल भोग करना पड़ा था।

कदर्थिया तुमि जत मारियाछ जीवेरे।
तारा तैछे तोमा मारिबे जन्म-जन्मान्तरे॥१७३

जितने भी जीवोंको तुमने मारा है तड़पा-तड़पाकर।
अगले जन्मोंमें उसी भाँति मारेंगे तुमको वे आकर"॥

तैछे—उसी प्रकार यन्त्रणा देकर तुमको मारेंगे। यन्त्रणा देनेके फलसे तुमको भी प्रत्येकके हाथसे उसी प्रकार यन्त्रणा भोग करनी होगी, एवं हत्या करनेके फलसे

तुमको भी उनके प्रत्येकके हाथसे उसी प्रकार मरना होगा। **जन्मजन्मान्तरे**—जितने जीवोंकी तुमने हत्या की है, उनमें-से प्रत्येक ही तुमको इसी प्रकार यन्त्रणा देकर तुम्हारी हत्या करेंगे। एकके हाथसे एक बार मरनेपर तुम्हारा एक जन्म पूरा होगा। इस प्रकार सबके हाथसे मरते-मरते तुम्हारे अनेक जन्म बीत जायेंगे। इस प्रकार अशेष यन्त्रणा भोगकर वाण-विद्ध होकर अनेक जन्मोंतक प्राण त्याग करना होगा।

नारदेर सङ्गे व्याधेर मन प्रसन्न हैल।
ताँर वाक्य शुनि मने भय उपजिल ॥१७४॥

पाकर नारदका सङ्ग व्याधके मनमें निर्मलता आयी।
सुन उनकी बातोंको उसके उर बीच भयाकुलता छायी॥

नारदजी परम भागवत हैं। उनके सङ्गके माहात्म्यसे विशेषकर नारदजी द्वारा व्याधकी मङ्गल कामना किये जानेसे, व्याधका मन निर्मल हो गया, इसीसे नारदजीकी बातोंको व्याध हृदयङ्गम कर सका। अपने कार्योंके भीषण परिणामकी बात सुनकर उसको अत्यन्त भय हुआ—"ओफ्! कितने शत-शत जीवोंकी मैंने हत्या की है; कितने शत-शत जन्मोंपर्यन्त मुझे भी इसी प्रकार वाण-विद्ध होकर असह्य यन्त्रणा भोग करके प्राण त्याग करने होंगे! कितनी भयानक बात है!" यह सोचकर व्याध मानो भयसे काँप उठा।

यदि व्याधको नारदके सङ्गलाभका भाग्य न होता, तो उसका चित्त भी निर्मल नहीं होता और इस प्रकारके उपदेशका मर्म भी व्याध ग्रहण नहीं कर पाता, बल्कि उपदेष्टाको उपहास करके भगा देता।

व्याध कहे—बाला हैते एइ आमार कर्म्म।
केमने तरिमु मुञि परम अधम? ॥१७५॥

बोला लुब्धक, "बचपनसे ही मेरा तो है यह कार्यक्रम।
होगा मेरा उद्धार, भला, कैसे? मैं हूँ पातकी अधम॥

एइ पाप जाय मोर केमन उपाय ? ।
निस्तार करह मोरे, पड़ों तोमार पाय ॥१७६॥

मैं कौन उपाय करूँ, जिससे धुल जायें मेरे पातक सब ?
हूँ पड़ा आपके चरणोंमें, निस्तार कीजिये मेरा अब" ॥

अपनी भावी दुर्दशाकी बात सोचकर व्याध अत्यन्त भयभीत हुआ, और उससे छुटकारा पानेको व्याकुल होकर श्रीनारदजीके चरणोंमें गिरकर कृपाभिक्षा चाहने लगा। व्याधने कहा —"बालकपनसे ही मेरा यह कर्म रहा है। मैं परम अधम हूँ। मेरा निस्तार कैसे होगा ? मेरे इन पापोंके नष्ट होनेका क्या उपाय है ? मैं आपके पैरों पड़ता हूँ, मेरा उद्धार कीजिये।"

नारद कहे—यदि धर आमार वचन ।
तबे से करिते पारि तोमार मोचन ॥१७७॥

नारद बोले—"यदि तुम मेरे वचनोंको मान चलो उनपर।
तो इन पापोंकी कारासे मैं ला सकता तुमको बाहर" ॥

नारदने कहा—"यदि मेरी बात मानो तो मैं तुम्हारा (संकटसे) मोचन कर सकता हूँ।"

व्याध कहे—जेइ कह, से-इ त करिब।
नारद कहे—धनुक भाङ्ग, तबे से कहिब॥

तब कहा व्याधने, "जो कुछ कुछ भी कहिये, प्रस्तुत करनेको सब" ।
नारद बोले "निज धनुष तोड़ दो पहले, बतलाऊँगा तब" ॥

व्याधने कहा—"आप जो कहेंगे, वही करूँगा।"

धनुक भाङ्ग—नारदजी बोले—"व्याध ! तुमने जितनी जीव-हत्या की है, वह अपने इस धनुषकी सहायतासे की है। अब यदि तुम जीव-हत्याके पापसे मुक्त होना चाहते हो, तो सबसे पहले अनर्थके मूल अपने धनुषको तोड़ डालो, उसके बाद मुक्तिका उपाय बताऊँगा।"

रोगकी चिकित्सा करके सद्वैद्य उसके मूलको नहीं रहने देते—मूलको भी उखाड़ डालते हैं, जिससे भविष्यमें किसी भी समय वह रोग फिर न उठ सके।

व्याध कहे—धनुक भाङ्गिले वर्त्तिब केमने ?
नारद कहे–आमि अन्न दिब प्रतिदिने॥१७९

तब कहा व्याधने, "धनुष तोड़कर कैसे पेट चलाऊँगा ?"
नारद बोले, "प्रत्येक दिवस मैं तुझे अन्न पहुँचाऊँगा" ॥

धनुप तोड़ डालनेकी बात सुनकर व्याध कुछ चिन्तित हुआ। व्याधने सोचा कि धनुष ही तो मेरी जीविका निर्वाहका एकमात्र सहारा है, इसीको तोड़ डालूँगा तो जीवित कैसे रहूँगा ? उसने नारदजीसे कहा—"ठाकुर ! धनुष तोड़ डालकर मैं जिऊँगा कैसे ?"

यही मायावद्ध जीवका चित्र है। किसी भी शुभ मुहूर्तमें किसी भी सौभाग्यवश कदाचित मायावद्ध जीवके चित्तमें श्रीकृष्ण बहिर्मुखता जन्य अनुताप हो जाय एवं उस कारणसे उसके चित्तमें श्रीकृष्णभजनके निमित्त कुछ आकांक्षा भी उत्पन्न हो जाय, तो भी कृष्ण विमुखताका प्रधान एवं एकमात्र परिपोषक एवं श्रीकृष्ण-भजनकी मुख्यतम बाधक जो विषयासक्ति व इन्द्रिय भोग्य वस्तुएँ हैं, उनको सहजमें छोड़ना नहीं चाहता। यदि हो सके तो अनेक उपायोंद्वारा भक्तिके रंगमें रञ्जित करके इन विषयासक्ति एवं इन्द्रिय भोग्य वस्तुओंकी रक्षा करनेकी चेष्टा करता है—ऐसी दृढ़तासे बंधी हुई भोग वासना जीवके चित्तमें होती है। किंतु यदि कोई महापुरुष उसपर कृपा करें तो वे उसी समय कहेंगे कि इन इन्द्रिय भोग्य वस्तुओंकी ओर ध्यान रखनेसे नहीं चलेगा, जिस अंगुलीमें साँपने काट खाया है उसको काट फेंकना ही होगा, नहीं तो समस्त देहका नाश हो जायगा, और अन्तमें मरना होगा।

परम कारुणिक श्रीनारदजीने व्याधसे कहा—"तुम धनुष तोड़कर फेंक दो। खाने-पीनेकी कोई भी चिन्ता नहीं, तुमको जो-जो वस्तु चाहियेगी, मैं प्रतिदिन तुम्हें दूँगा।"

धनुक भाङ्गि व्याध ताँर चरणे पड़िल।
तारे उठाइया नारद उपदेश कैल—॥१८०

फिर क्या था, तोड़ धनुषको गिर चरणोंमें उनके व्याध पड़ा।
उपदेश लगे नारद करने निज हाथोंसे कर उसे खड़ा॥

नारदजीके सङ्गके प्रभावसे व्याधका चित्त निर्मल हो गया, इसीसे नारदजीकी बातोंपर उसको आस्था हुई— उसको अनाहार रहना नहीं पड़ेगा—नारदजीके इन वाक्योंपर उसको विश्वास हो गया। उसने तुरत धनुष तोड़ फेंका और नारदजीके चरणोंमें आत्मसमर्पण कर दिया। नारदजीने उसको उठाकर उसके कर्त्तव्यके सम्बन्धमें उपदेश दिया। जिनसे हम भजन सम्बन्धमें उपदेश लेना चाहें, इसी प्रकार सर्वस्व त्यागकर उनके चरणोंमें सम्यक् आत्मसमर्पण करना आवश्यक है, तभी उनका उपदेश हमपर काम कर सकेगा। अपनी भोग-सुख-साधक वस्तुओंका त्याग किये बिना, यदि उनको भी साथ रक्खा जाय तो उनकी चिन्ता ही हमारे हृदयको घेरे रहेगी, गुरुके उपदेशके लिये हृदयमें स्थान कहाँ बचेगा?

घरे गिया ब्राह्मणे देह जत आछे धन।
एक-एक वस्त्र परि बाहिर हओ दुइजन॥१८१

"जितना धन पास तुम्हारे हो, दे दो विप्रोंको जाकर घर।
फिर एक-एक पट पहन उभय जन हो जाओ घरसे बाहर॥

नदीतीरे एकखानि कुटीर करिया।
तार आगे एक पिण्डि तुलसी रोपिया॥१८२

जा एक बना करके छोटी कुटिया वयस्विनीके तटपर।
रच उसके आगे एक मञ्च लेना तुलसी आरोपित कर॥

तुलसी परिक्रमा कर तुलसी-सेवन ।
निरन्तर कर कृष्णनाम सङ्कीर्त्तन ॥१८३

करना तुलसीकी परिक्रमा, उनकी सेवामें लगे रहो ।
चल पड़े निरन्तर कृष्ण-नाम-संकीर्तन, खण्डित तार न हो ॥

आमि तोमार बहु अन्न पाठाइब दिने दिने ।
सेइ अन्न निह, जत खाओ दुइजने ॥१८४

मैं पास तुम्हारे अन्न बहुत भिजवाऊँगा प्रत्येक दिवस ।
रखना उसमेंसे उतना ही, तुम दोनों खाओ जितना, बस" ॥

दुइजन—व्याध और उसकी पत्नी। चार पयारोंमें श्रीनारदजी व्याधको उपदेश देते हैं,—"व्याध! तुम घर जाओ और जाकर तुम्हारा जो कुछ है सब ब्राह्मणोंको दान कर दो, अपने लिये कुछ भी नहीं रक्खो। शरीरपर जो वस्त्र पहिने हो उन्हींको लेकर घरसे बाहर आ जाओ और तुम्हारी स्त्री भी जो कपड़ा पहिने है उसीको लेकर बाहर आ जाय, इसके अतिरिक्त और कपड़ा लानेकी आवश्यकता नहीं। दोनों जन इस प्रकार घरसे बाहर निकलकर, नदीके किनारे निर्जन स्थानमें एक कुटी तैयार करके उसके सामने एक तुलसी-मञ्च तैयार करो। इसी कुटीमें तुमलोग रहोगे और प्रतिदिन तुलसीकी सेवा और परिक्रमा करोगे और निरन्तर कृष्ण-नाम कीर्त्तन करोगे। खानेके लिये तुमको कोई चिन्ता या चेष्टा नहीं करनी होगी, मैं प्रतिदिन तुम्हारी आवश्यक वस्तुएँ प्रचुर परिमाणमें कुटीमें भेज दिया करूँगा—दोनो जनोंके लिये जितना आवश्यक हो, तुमलोग केवल उतना ही ग्रहण करोगे—अधिक भेजे जानेपर भी नहीं लोगे, सञ्चय नहीं करोगे।"

तबे सेइ तिन मृग नारद सुस्थ कैल ।
सुस्थ हञा तिन मृग धाञा पलाइला ॥१८५

उन तीनों घायल पशुओंको तब दिया स्वस्थ नारदने कर।
इस भाँति स्वस्थ होकर तीनों पशु गये भाग वनके भीतर॥

नारदजीने ऐसा उपदेश तो दे दिया, लेकिन अब व्याध क्या करे? सब कुछ ब्राह्मणको दान करनेको कह दिया और दोनों जनके लिये केवल दो कपड़े छोड़ और कुछ भी रखनेका आदेश नहीं। कुटी बनानेको कहा—वनसे तृणादि संग्रह करके कुटी भी बनाई जा सकती है, किंतु रोज-रोज खानेको भी तो चाहिये? नारदजीने तो कह दिया कि वे रोज खानेको भेज दिया करेंगे, किंतु क्या वे रोज खानेको दे सकेंगे? वे भी तो भिक्षुक हैं, स्वयं भिक्षा करके खाते होंगे, इसपर क्या वे हम दोनोंका खाना चला सकेंगे? व्याधके मनमें ऐसे विचारोंका उदय होना अस्वाभाविक नहीं था। इसीसे नारदजीने उसको कुछ ऐश्वर्य दिखाया, जिससे व्याधके मनमें उनके वाक्योंपर विश्वास हो सके। व्याधके पास आते समय नारदजीने एक मृग, एक शूकर और एक शशकको अर्द्धमृतावस्थामें छटपट करते देखा था, उन तीनों प्राणियोंको अपनी अलौलिक शक्तिके प्रभावसे सम्पूर्ण रूपसे स्वस्थ कर दिया। स्वस्थ होकर वे दौड़कर वनमें चले गये।

विषयासक्त जीवके विश्वासको दृढ़ करनेके निमित्त कुछ ऐश्वर्य और अलौकिक शक्तिका प्रकाश करना आवश्यक हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि जीवको यह बतानेके लिये ही श्रीमन्महाप्रभुने सार्वभौम भट्टाचार्यको षड़भुज रूप दिखाया था।

देखिया व्याधेर मने हैल चमत्कार।
घरे गेला व्याध गुरुके करि नमस्कार॥१८६

विस्मयसे भर मन गया व्याधका यह विलोक कर चमत्कार।
घर चला गया लुब्धक नारदरूपी गुरुको कर नमस्कार॥

नारदजीकी अलौकिक शक्ति देखकर व्याध चमत्कृत हुआ; उनके वाक्योंमें उसे आस्था हुई। जो मृत-प्राय जीवको बचा सकते हैं, अशेष यन्त्रणादायक

बाणके आघातको एक क्षणमें ठीक कर दे सकते हैं, वे प्रतिदिन दो जनोंके लिये आवश्यक अन्न दे सकें इसमें असम्भव क्या है ? तुरत अपने गुरुदेव नारदजीको नमस्कार करके उनके उपदेशको कार्यमें परिणत करनेके उद्देश्यसे व्याध अपने घर चला गया।

यथा स्थाने नारद गेला व्याध आइला घर ।
नारदेर उपदेश करिल सकल ॥१८७

नारद भी गये जहाँ जाना था, तथा व्याध निज घर आया ।
वह किया सभी कुछ उसने जो-जो नारदने था समझाया ॥

नारद अपने स्थानपर चले गये और व्याधने अपने घर आकर नारदके सब उपदेशोंका पालन किया।

ग्रामे ध्वनि हैल—व्याध वैष्णव हइला ।
ग्रामेर लोकसब अन्न आनि दिते लागिल॥

हो गया गाँव भरमें प्रचार, वह व्याध गया है वैष्णव बन ।
आ-आकर देने लगे अन्न उसको सब ग्राम-निवासी जन ॥१८८॥

गाँवमें प्रचार हो गया कि व्याध तो वैष्णव बन गया। गाँवके सबलोग आकर उसको अन्न देने लगे।

एकदिके सब अन्न आने दश बीश जने ।
दिने ततलय, जत खाय दुइ जने ॥१८९

ला-लाकर देने अन्न लगे दस-बीस व्यक्ति एकैक दिवस ।
जितनेसे दोका पेट भरे, लेता था वह उतना ही, वस ॥

एक-एक दिन दस-बीस आदमी अन्न लेकर आने लगे, किंतु व्याध सब स्वीकार न करके, केवल अपने दो जनकी आवश्यकतानुसार ही ग्रहण करता।

एक दिन कहिल नारद—शुनहे पर्व्वते।
आमार एक शिष्य आछे, चलह देखिते ॥१९०

बोले श्रीनारद एक दिवस पर्वत नामक ऋषिसे, मुनिवर !
है एक शिष्य मेरा, आओ, दोनों देखें उसको चलकर" ॥

पर्व्वते— पर्वत नामके ऋषि। 'एक दिन नारद गोसाञि कहिल पर्व्वते' इस प्रकार पाठान्तर भी है।

एक दिन नारदने पर्वत ऋषिसे कहा कि मेरा एक शिष्य है उसको देखने चलो।

तबे दुइ ऋषि आइला सेइ व्याध-स्थाने।
दूरे हैते व्याध पाइल गुरुर दर्शने ॥१९१

उस स्थलपर आ पहुँचे दोनों ऋषि, जहाँ व्याधकी थी कुटिया।
थे अभी दूर ही कुछ, तबतक गुरुको लुब्धकने देख लिया ॥

दुइ ऋषि—नारदजी और पर्वत ऋषि। गुरुर दर्शने—व्याधके गुरु नारदजीके दर्शन।

तब दोनों ऋषि (नारद और पर्वत) व्याधके स्थानपर आये। व्याधको दूरसे ही गुरुके दर्शन हुए।

आस्तेव्यस्ते धाञा आइसे—पथ नाहि पाय।
पथे पिपीलिका इतिउति धरे पाय ॥१९२

वह अस्त-व्यस्त ही दौड़ चला, पर मिल न रहा था सीधा मग।
था बिछा पिपीलिका जाल मार्गमें, इधर-उधर रखता था पग ॥

आस्ते-व्यस्ते—शीघ्रतासे। पिपीलिका—चींटियाँ। इति उति—इधर-उधर। गुरुको दूरसे देखकर, उनकी अभ्यर्थना करनेके लिये व्याध जल्दीसे कुटीके बाहर आया—बहुत शीघ्र जानेकी इच्छा थी, किंतु जल्दी जा नहीं सका ; क्योंकि मार्गमें चला नहीं जाता था। मार्ग तो था, किंतु उसपर चला नहीं जाता था। कारण, मार्गपर सर्वत्र चींटियाँ थीं, चलनेसे चींटियोंपर पैर पड़ेंगे, पैरोंसे दबकर वे मर न जायँ—इसी भयसे व्याध उन चींटियोंको बचाकर इधर-उधर पैर रखता था इसलिये शीघ्र नहीं जा सका।

दण्डवत् स्थाने पिपीलिकारे देखिया।
वस्त्रे स्थान झाड़ि, पड़े दण्डवत् हञा ॥१९३

देखा पिपीलिका-वृन्द पहुँच दण्डवत-योग्य दूरीपर भी।
निज पटसे उनको झाड़ किया फिर गिरकर दण्ड-प्रणाम तभी ॥

जब गुरुके समक्ष उपस्थित हुआ, तब उनको दण्डवत् प्रणाम करनेके लिये व्याधने चेष्टा की। किंतु सहसा वैसा कर न सका। दण्डवत्‌की जगह चींटियाँ थीं, शरीरसे दबकर मर जायँगी, इसीसे व्याधने अपने पहननेके कपड़ेसे जगहको झाड़कर चींटियाँ हटाकर, तब दण्डवत् की।

पड़े दण्डवत् हञा—दण्डके समान लम्बे होकर भूमिष्ठ हुआ।

नारद कहे—व्याध ! एइ नाहय आश्चर्य्य।
हरिभक्त्ये हिंसाशून्य हय साधुवर्य्य ॥१९४

नारद बोले—"कोई न व्याध ! इसमें होनेकी बात चकित।
कर हिंसाशून्य बना देती हरि-भक्ति साधुजनमें पूजित" ॥

एइ ना हय आश्चर्य्य—जिस व्याधका व्यवसाय ही पशुहत्या थी, आज वही व्याध चींटियोंकी हत्याके भयसे पथपर नहीं चल पा रहा है, गुरुको दण्डवत् नहीं कर पा रहा है। यह साधारण लोगोंके लिये आश्चर्यजनक होनेपर भी

भक्तके लिये आश्चर्यजनक नहीं। कारण, हरि-भक्तिका ऐसा ही प्रभाव है कि पशु-हत्यामें रत व्याध भी इनकी कृपासे हिंसा-शून्य हो जाता है एवं साधुगणमें श्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर सकता है। हरिभक्त्ये—हरि-भक्तिके द्वारा। साधुवर्य्य—साधुओंके लिये वरणीय; साधुओंमें श्रेष्ठ।

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ (१।२।१२८) स्कान्दवचनम्—

एते न ह्यद्भुता व्याध तवाहिंसादयो गुणाः।
हरिभक्तौ प्रवृत्ता ये न ते स्युः परतापिनः ॥८३॥

संस्कृतटीका—एत इति। हे व्याध तव एते अहिंसादयो गुणाः अद्भुता विस्मयजनका न हि यतो ये जना हरिभक्तौ श्रीकृष्णभजने प्रवृत्ता स्ते परितापिनः परपीड़का न स्युरिति।

अन्वय—व्याध (हे व्याध)! तव (तुम्हारे) एते (ये सब) अहिंसादयः (अहिंसादि) गुणाः (गुण) न हि अद्भुताः (निश्चय ही अद्भुत नहीं हैं—आश्चर्यमय नहीं हैं); [यतः] (क्योंकि) ये (जो लोग) हरिभक्तौ (हरिभक्तिमें—भक्तिमार्गके साधनमें) प्रवृत्ताः (प्रवृत्त हुए हैं), ते (वे लोग) परितापिनः (परतापी—पर-पीड़क) न स्युः (नहीं होते)।

अनुवाद—श्रीनारदने अपने शिष्य व्याधसे कहा—"हे व्याध! तुम्हारे ये अहिंसा आदि सब गुण कभी भी आश्चर्यके विषय नहीं हैं। कारण, जो हरि-भक्तिमें प्रवृत्त हुए हैं, वे लोग परतापी—पर-पीड़क होनेकी (दूसरोंको दुःख देनेकी) इच्छा नहीं करते।"

१६४ पयारके प्रमाणमें यह श्लोक है।

তবে সেই ব্যাধ দোঁহা অঙ্গনে আনিল।
কুশাসন আনি দোঁহা ভক্ত্যে বসাইল ॥১৬৫

दोनों ऋषियोंको लुब्धक वह तब आँगनमें निज ले आया।
लाकर कुशका आसन दोनोंको आदरपूर्वक बैठाया॥

दोंहा—नारद और पर्वत ऋषिको। अङ्गने—कुटीके सन्मुख स्थित आङ्गनमें। भक्त्ये—भक्तिपूर्वक।

तब व्याधने दोनों (नारद और पर्वत) ऋषियोंको अपने आंगनमें लाकर कुशासन अर्पण करके उनको भक्तिपूर्वक बैठाया।

जल आनि भक्त्ये दोंहार पाद प्रक्षालिल।
सेइ जले स्त्री-पुरुषे पिया शिरे निल ॥१९६

निर्मल जल लाकर दोनोंके चरणोंको धोया भक्तिसहित।
दम्पत्तिने पान किया जलका उस, उससे शीश किया सिञ्चित ॥

दोनों ऋषियोंके पाद प्रक्षालन करके वह पादोदक व्याध और उसकी स्त्रीने कुछ तो पान किया और कुछ मस्तकपर धारण किया। वैष्णवके पादोदकका असीम माहात्म्य है। ठाकुर महाशयने लिखा है—

'भक्त-पद-रज आर भक्त-पद-जल।
भक्त भुक्त अवशेष—एइ तिन साधनेर बल ॥

पादोदक प्रथम मुखमें और उसके बाद मस्तकपर धारण करनेकी विधि है। पाद प्रक्षालिल—पैर धोये। शिरे—मस्तकपर।

कम्प पुलकाश्रु हय कृष्ण-गुण गाञा।
ऊर्द्ध्वबाहु नृत्य करे वस्त्र उड़ाइया ॥१९७

सात्विक विकार पुलकाश्रु-कम्प आदिक छाये दम्पत्ति-तनपर।
वे लगे नाचने बाहु उठा, उड़ रहे वसन थे फहर-फहर ॥

गुरुके दर्शनसे, पर्वत ऋषिके दर्शनसे एवं गुरु-वैष्णवके पादोदक ग्रहणके फलसे, वैष्णव व्याध और उसकी स्त्रीके मुखमें कृष्ण-नाम, कृष्ण-गुण स्फुरित हुए और चित्तमें कृष्ण-प्रेम उदित हुआ। प्रेमसे वे कृष्ण-गुण कीर्त्तन करने लगे। प्रेमोदयके चिन्ह स्वरूप, उनके शरीरमें अश्रु-कम्प-पुलकादि सात्विक भावोंका उदय हुआ।

उद्भास्वर अनुभावका भी विकास हुआ —वे आनन्दसे वस्त्र उड़ाते हुए उद्धर्वबाहु हो नृत्य करने लगे।

देखिया व्याधेर प्रेम पर्व्वत महामुनि।
नारदेरे कहे—तुमि हओ स्पर्शमणि॥१९८॥

ऐसा अद्भुत अवलोक व्याधका दिव्य प्रेम पर्वत मुनिवर।
बोले नारदजीसे, "सचमुच हैं आप एक पारस पत्थर"॥

जो पूर्वमें व्याध था, उसका इस प्रकारका अपूर्व प्रेम देखकर पर्वत ऋषि अत्यन्त आनन्दित हुए और वे नारदजीसे बोले—"नारदजी! आप निश्चय स्पर्शमणि हैं, नहीं तो इस व्याध रूप लोहेको प्रेमी-भक्तरूप स्वर्णमें कैसे परिणत किया?" स्पर्शमणि—जिसके स्पर्शसे लोहा स्वर्ण हो जाय, ऐसी मणि विशेष (पारस मणि)।

तथाहि भक्तिरसामृतसिन्धौ (१३।१०) स्कान्द वचनम्—

अहो धन्योऽसि देवर्षे कृपया यस्य तत्क्षणात्।
नीचोऽप्युत्पुलको लेभे लुब्धकोरतिमुच्यते॥

संस्कृतटीका—नीचः परमपामरः लुब्धकः व्याधः रतिं तल्लक्षणां भक्तिम्। चक्रवर्ती।

अन्वय—अहो देवर्षे (हे देवर्षि)! धन्यः असि (आप धन्य हैं)—यस्य (जिनकी—अर्थात आपकी) **कृपया** (कृपासे) **तत्क्षणात्** (उसी क्षण—कृपा प्राप्त होते ही) **नीचः** (नीच जाति) लुब्धकः अपि (व्याध भी) उत्पुलक (पुलकान्वित कलेवर होकर) **अच्युते** (अच्युत—श्रीकृष्णमें) **रतिं** (रति) **लेभे** (लाभ की है—प्राप्त की है)।

अनुवाद—हे महर्षि! आप धन्य हैं, क्योंकि आपकी कृपासे अति नीच जाति व्याधने भी कृपा-प्राप्ति मात्रसे पुलकान्वित कलेवर होकर श्रीकृष्णमें रति-प्रेम प्राप्त किया है।

यह श्लोक, स्पर्शमणिकी तरह नारदजीकी अनिर्वचनीय शक्तिका परिचायक है। यह १९८ पयारका प्रमाण है।

नारद कहे—वैष्णव ! तोमार अन्न किछु आये।
व्याध कहे—जारे पाठाओ सेइ दिया जाये ॥

नारदने पूछा, "वैष्णव हे, क्या अन्न यहाँ कुछ आ जाता ?"
"जिससे भिजवाते आप, वही", बोला लुब्धक पहुँचा जाता ॥१९९॥

एत अन्न ना पाठाओ किछु कार्य्य नाञि।
सबे दुइ जनार योग्य भक्ष्यमात्र चाइ ॥२००॥

"भेजिये न इतना अन्न, नहीं इतनेकी है आवश्यकता।
बस, उतना ही चाहिये, पेट जितनेमें दोका भर सकता" ॥

नारदने पूछा—"हे वैष्णव ! तुम्हारे पास अन्न आता है क्या ?" व्याधने उत्तर दिया—"आप जिसको भेजते हैं वही दे जाता है। इतना अन्न न भेजा करें, इतनेकी आवश्यकता नहीं है, केवल दो जनोंके खाने योग्य अन्न चाहिये।"

नारद कहे—ऐछे रह तुमि भाग्यवान्।
एत बलि दुइजने कैला अन्तर्धान ॥२०१॥

'हो भाग्यवान्', नारद बोले, 'बस, इसी भाँति बीते जीवन'।
हो अन्तर्धान गये उससे इतना कहकर दोनों मुनिजन ॥

नारदने कहा—"तुम बड़े भाग्यवान हो जो ऐसे रहते हो।" इतना कहकर दोनों ऋषि अन्तर्धान हो गये।

एइ त कहिल तोमाय व्याधेर आख्यान।

जा शुनिले हय साधुसङ्ग-प्रभाव ज्ञान ॥२०२॥

मैंने तुमको इस भाँति सुनायी कथा व्याधसे सम्बन्धित।

सुननेसे जिसको साधु-सङ्गका होता अमित प्रभाव विदित ॥

श्रीमन्महाप्रभु सनातनसे कहते हैं—यह व्याधका आख्यान तुमको सुनाया, जिसको सुनकर साधुसङ्गके—साधुकृपाके प्रभावका ज्ञान होता है।

एइ आर तिन अर्थ गणनाते पाइल।

एइ दुइ मिलि छाब्बिस अर्थ हइल ॥२०३॥

कर तेइस अर्थ गिनाये हैं अब तीन अर्थ ये और इधर।

छब्बीस अर्थ हो गये पूर्वके—तेइस, ये तीनों मिलकर ॥

एइ आर तिन अर्थ—१४२वें पयारके उत्तरार्द्धमें जिन तीन अर्थोंका संकेत किया गया है और जो १४४वें, १४८वें और १५०वें पयारमें वर्णित है, वे तीन अर्थ एइ दुइ मिलि—१४२वें पयारके पूर्वार्द्धमें उल्लिखित तेइस अर्थ और १४४, १४८ और १५० पयारमें लिखित ये तीनों मिलकर छब्बीस प्रकारके अर्थ हुए।

भगवत्-रमण आत्माराम

आर अर्थ शुन, जाहा अर्थेर भाण्डार।

स्थूले दुइ अर्थ, सूक्ष्मे बत्रिश प्रकार ॥२०४॥

अब सुनो और भी अर्थ नये, यह तो अर्थोंका है आगर।

दो अर्थ दीखते स्थूल दृष्टिसे, सूक्ष्म दृष्टिसे बत्तिस पर ॥

'आत्मा' शब्दका 'भगवान्' अर्थ मानकर और नये अर्थ करते हैं। इन नये

अर्थोंमें साधारण रूपसे दो प्रकारके अर्थ प्रतीत होते हैं, किंतु विशेष रूपसे विचार करनेपर उनमें बत्तीस प्रकारके अर्थ देखनेमें लगते हैं।

अर्थेर भाण्डार—जिस अर्थमें अनेक प्रकारके अर्थ हैं। **स्थूले दुइ अर्थ**—साधारण रूपसे (स्थूल दृष्टिसे) दो प्रकारके ही अर्थ दीखते हैं। **सूक्ष्मे बत्रिश प्रकार**—विशेष रूपसे विचार करनेपर, उनके भीतर बत्तीस प्रकारके अर्थ दिखायी देंगे। इन बत्तीस प्रकारके अर्थोंमें भी और अनन्त प्रकारके अर्थ हैं। इसीसे इसको अर्थोंका भण्डार कहा गया है।

'आत्मा'-शब्दे कहे—सर्व्वविध भगवान्।
एक स्वयं भगवान्, आर भगवानाख्यान॥२०५

'आत्मा' का है 'भगवान्' अर्थ, इसमें सब भगवद्रूप निहित।
भगवान् कृष्ण तो स्वयं, तथा प्रभु-विग्रह जितने अन्य विदित॥

पूर्वोक्त दो स्थूल अर्थोंकी बात इस पयारमें बताते हैं।

'आत्मा'-शब्दे कहे इत्यादि—'आत्मा' शब्दका अर्थ 'भगवान्' (इसी परिच्छेदके ५६वें पयारकी टीका पृष्ठ ७६ पर देखिये)। **सर्व्वविध भगवान्**—स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण एवं स्वयं भगवान्‌के अतिरिक्त अन्यान्य भगवान्, जैसे श्रीरामचन्द्रादि भगवत्-स्वरूपगण—जिनकी भगवत्ता श्रीकृष्णकी भगवत्तापर निर्भर करती है। **भगवानाख्यान**—जिनकी भगवत्ता स्वयं भगवान् श्रीकृष्णकी भगवत्तापर निर्भर करती है एवं जिनको भी भगवान् कहा जाता है—वे श्रीरामचन्द्रादि। **आख्यान**—नाम।

ताँते जेइ रमे, सेइ सब 'आत्माराम'।
विधिभक्त, रागभक्त—दुइविध नाम॥२०६॥

वे भी हैं आत्माराम, रूपमें प्रभुके रम जो किसी रहे।
विधिभक्त तथा रागानुगीय दो जाते उनके भेद कहे॥

ताँते—पूर्व पयारोक्त आत्मामें ; स्वयं भगवान् श्रीकृष्णमें एवं श्रीरामचन्द्रादि भगवत्-स्वरूपमें।

ताँते जेइ रमे इत्यादि—स्वयं भगवान्में और श्रीरामचन्द्रादि भगवत्-स्वरूपमें जो रमण करते हैं (अर्थात् प्रीति अनुभव करते हैं), वे ही आत्माराम हैं। **दुइविध नाम**—ये आत्मारामगण दो प्रकारके हैं ; विधिभक्त और रागानुगीय भक्त। जो विधिमार्गसे भगवद्भजन करें, वे विधिभक्त ; और जो रागानुगीय मार्गसे भगवद्भजन करें, वे रागानुगीय भक्त। **रागभक्त**— जो रागानुगीय मार्गसे भजन करें।

राग—इष्ट वस्तुमें जो गाढ़ तृष्णा होती है, उसको राग कहते हैं।

गाढ़ तृष्णाके लक्षण—जलपानके लिये बलवती इच्छा, जल पानेके लिये विशेष चेष्टा ; जल न मिलनेतक प्राणोंकी छटपटाहट। अतएव इष्टमें गाढ़ तृष्णाके लक्षण—सेवाद्वारा श्रीकृष्णको सुखी करनेके लिये एक बलवती वासना, इस सेवाको पानेके लिये प्राणपणसे चेष्टा ; सेवा न मिलनेतक प्राणोंकी अस्वस्ति। संक्षेपमें—श्रीकृष्णसेवाके लिये प्राणोंकी एक स्वाभाविक टान, एक प्रबल व्याकुलता ; इस व्याकुलता और प्राणोंकी टानका हेतु है केवल सेवाद्वारा श्रीकृष्णको सुखी करनेकी इच्छा, अन्य कुछ नहीं ; इस प्रकारकी व्याकुलता ही **राग** है। जिसमें यह नहीं है उसको रागहीन व्यक्ति कहा जाता है।

दो प्रकारके लोग श्रीकृष्णभजन करते हैं, (१) रागयुक्त, (२) रागहीन। रागयुक्त लोग भजन करते हैं केवल श्रीकृष्णसेवाके लिये, सेवाद्वारा श्रीकृष्णको सुखी करनेके लिये। संसारसे उद्धार आदि उनके भजनका प्रवर्त्तक नहीं है। इस भावके भक्तको **रागानुभक्त** कहते हैं।

और रागहीन लोग भजन करते हैं, सेवाद्वारा श्रीकृष्णको सुखी करनेके उद्देश्यसे नहीं,—शास्त्रके शासनके भयसे। शास्त्रमें लिखा है—सबका श्रीकृष्ण-भजन कर्त्तव्य है ; श्रीकृष्णभजन न करनेसे नरक-यन्त्रणा भोग करनी होगी, नाना प्रकारकी आपद्-विपदमें पड़ना होगा। शास्त्रकथित इस नरक-यन्त्रणाके भयसे, आपद्-विपद्के भयसे जो लोग श्रीकृष्णभजन करते हैं उनको **विधिमार्गका भक्त** कहते हैं। शास्त्रविधिके शासनसे प्रवर्तित भक्तिको **वैधी भक्ति** कहते हैं।

'आत्मा' शब्दका 'सर्वविध भगवान्' अर्थ लेनेसे जो विधिमार्गसे इन सर्वविध भगवान्का भजन करते हैं वे एक आत्माराम ; और जो रागमार्गसे सर्वविध भगवान्का भजन करें, वे एक आत्माराम। स्थूल रूपसे ये दो प्रकारके आत्मारामगण श्रीकृष्णमें अहैतुकी भक्ति करते हैं। विधिभक्त आत्मारामगण श्रीकृष्णभजन करते हैं ; एवं रागभक्त-आत्मारामगण श्रीकृष्णभजन करते हैं—ये दो तो हुए श्लोकके स्थूल अर्थ। रागभक्त और विधिभक्तकी श्रेणीका विभाग करके विचार नहीं किया गया है, इसलिये ये अर्थ दोनों स्थूल कहलाये।

निम्न पयारोंमें बत्तीस प्रकारके अर्थ किये गये हैं, वे इन स्थूल अर्थोंका विशद विवरण हैं, इसीसे इन दो स्थूल अर्थोंकी पृथक गणना नहीं की गयी।

भक्तके भेद

दुइविध भक्त हय—चारि चारि प्रकार—।
पारिषद, साधनसिद्ध, साधकगण आर ॥२०७

इन दो प्रकारके भक्तोंके फिर भेद चार हैं पृथक्-पृथक्।
पारिषद, साधना-सिद्ध तथा तीसरे कहे जाते साधक॥

जाताजातरतिभेदे साधक दुइ भेद।
विधि-रागमार्गे चारि चारि अष्ट भेद ॥२०८

साधक भक्तोंके पुनः 'जातरति' हैं 'अजातरति' दो विभेद।
विधि-राग-पथाश्रित भक्तोंके ये चार-चार, यों आठ भेद॥

दुइविध भक्त—विधिभक्त और रागभक्त। चारि चारि प्रकार—विधिभक्त चार प्रकारके और रागभक्त चार प्रकारके। पारिषद इत्यादि—प्रत्येक प्रकारके भक्तके चार प्रकारके भेद बताते हैं :—पारिषद, साधनसिद्ध, जातरति साधक एवं अजातरति साधक। जो नित्यसिद्ध परिकर हैं, वे हुए पारिषद। जो साधन

द्वारा सिद्ध होकर परिकरत्व लाभ करते हैं, वे हुए साधनसिद्ध। साधन करते-करते जिन्होंने रति या प्रेमाङ्कुरपर्यन्त लाभ किया है, वे हुए जातरति साधक। और जो साधक भक्त अभीतक रति या प्रेमाङ्कुरप्राप्त नहीं कर सके हैं, वे हुए अजातरति साधक। जातरति और अजातरति साधकके भेद अभी नहीं खोले गये। विधि-राग-मार्गे इत्यादि—विधिमार्गके भी उक्त चार प्रकारके भक्त होते हैं और रागमार्गके भी उक्त चार प्रकारके भक्त होते हैं। इस प्रकार दोनों मार्गोंके सब मिलाकर आठ प्रकारके भक्त हुए।

विधिभक्तये नित्यसिद्ध 'पारिषद'—दास,।
सखा, गुरु, कान्तागण—चारि त प्रकाश ॥२०९

विधि-भक्ति-मार्गमें नित्यसिद्ध, पारिषद-जनोंके 'दास' तथा।
'कान्तागण', 'गुरुजन', 'सखा' चार इन भेदोंकी शास्त्रोक्त कथा ॥

'साधनसिद्ध'—दास, सखा, गुरु, कान्तागण।
'उत्पन्नरति साधक'–भक्त चारिविध जन ॥

साधन-सिद्धोंके 'सखा', 'दास', 'गुरुजन', 'कान्तागण' भेद चार।
जो तथा 'जातरति' साधकजन, उनमें भी ये चारों प्रकार ॥२१०॥

'अजातरति साधक'–भक्त ए चारि प्रकार।
विधिमार्गे भक्त षोड़शभेद प्रचार ॥२११॥

फिर जो 'अजातरति' साधक जन, उनमें भी हैं ये भेद चार।
विधि-पथानुगामी भक्तोंके इस भाँति हुए षोडश प्रकार ॥

पूर्व पयारोंमें विधिभक्तके चार प्रकार (पार्षद, साधनसिद्ध, जातरति साधक, अजातरति साधक) बताये हैं, उनमें-से प्रत्येक प्रकारमें—दास्य, सख्य, वात्सल्य

और मधुर—भाव भेदसे चार प्रकारके भक्त होते हैं—यह बात 'विधिभक्त्ये नित्यसिद्ध'……से लेकर 'षोड़श भेद प्रचार' पर्यन्त तीन पयारोंमें बतायी है।

विधिभक्तिसे नित्यसिद्ध पार्षदगणमें—नित्यसिद्ध दास हैं (श्रीहनुमानादि, श्रीजय-विजय-आदि); नित्यसिद्ध सखा हैं (श्रीविभीषण-सुग्रीवादि); नित्य-सिद्ध गुरुवर्ग पितामातादि हैं (श्रीकौशल्या-दशरथादि); एवं नित्यसिद्ध कान्तादि हैं (श्रीलक्ष्मी आदि, श्रीसीता आदि)।

इसी प्रकार विधिभक्तिमें साधनसिद्ध भक्तोंमें भी दास्य-सख्यादि चार भावके अनुगतसिद्ध भक्त हैं; अर्थात् साधनसिद्ध भक्तोंमें कोई नित्यसिद्ध दासगणके आनुगत्यसे दासभावका साधन, कोई नित्यसिद्ध सखादिके आनुगत्यसे सख्य भावका साधन, कोई नित्यसिद्ध पितामातादिके आनुगत्यसे वात्सल्यभावका साधन एवं कोई नित्यसिद्ध भगवत्-कान्तादिके आनुगत्यसे मधुरभावका साधन करके सिद्ध हुए हैं। अतः साधनसिद्ध भक्तोंमें भी चार भावोंके चार प्रकारके भक्त हैं।

विधिभक्तिके जातरति-साधकोंमें—कोई नित्यसिद्ध दासगणके आनुगत्यसे दासभावका, कोई नित्यसिद्ध सखागणके आनुगत्यसे सख्यभावका, कोई नित्य-सिद्ध पितामातादिके आनुगत्यसे वात्सल्यभावका एवं कोई नित्यसिद्ध भगवत्-कान्ताओंके आनुगत्यसे मधुरभावका साधन करके—प्रेमाङ्कुरपर्यन्त लाभ किये हैं। अतः उनमें भी चारों भावोंके चार प्रकारके साधक भक्त हैं।

और विधिभक्तिके अजातरति साधक भक्तोंमें—कोई नित्यसिद्ध दासगणके आनुगत्यसे दास्यभावका, कोई नित्यसिद्ध सखागणके आनुगत्यसे सखाभावका, कोई नित्यसिद्ध पितामातादिके आनुगत्यसे वात्सल्यभावका एवं कोई नित्यसिद्ध भगवत्-कान्ताओंके आनुगत्यसे मधुरभावका साधन करते हैं—किंतु अभीतक प्रेमाङ्कुर प्राप्त नहीं कर सके हैं। अतः उनमें भी चारों भावोंके चार प्रकारके साधक हैं।

(विधिमार्गके साधकके लिये प्राप्य धाम है परव्योम। परव्योम स्थित भगवत्-स्वरूपगणमें जो नरलीलावतार (जैसे श्रीरामचन्द्र) हैं, केवल उन्हींके साथ सख्य, वात्सल्य आदि भावके (कान्ताभावके भी) भक्त हो सकते हैं। जो नरलीला अवतार नहीं हैं, उनमें ऐश्वर्यका भाव पूर्ण रूपसे प्रकट रहता है, उनके सख्य-

वात्सल्यादि भावके परिकर रहना सम्भव नहीं ; जो ईश्वर हैं, उनके पिता-माता-रूप परिकर रहना सम्भव नहीं ; क्योंकि उनको यह ज्ञान रहता है कि ईश्वर जन्म रहित हैं। समान-समान भाव रहनेसे ही सख्यभाव रहना सम्भव है। ईश्वरके साथ समान भावके ज्ञानका कोई परिकर रहना सम्भव नहीं। अवश्य ही उनके भी कान्ता शक्ति लक्ष्मी होनेसे लक्ष्मीके सम्बन्धसे कान्ताभाव भी है ; किंतु इन लक्ष्मीगणके आनुगत्यसे भजनकी बात जानने सुननेमें नहीं आयी।)

इस प्रकार विधिमार्गके भक्तोंमें सब मिलाकर सोलह प्रकारके भक्त हुए। ये सोलह प्रकारके आत्माराम हैं।

राग मार्गे ऐछे भक्त षोड़श-विभेद।
दुइ मार्गे 'आत्माराम' बत्रिश-विभेद ॥२१२॥

फिर भक्तोंके रागानुगीय भी भेद चार-कम-बीस हुए।
यों 'आत्माराम' उभय पथके मिलकरके कुल बत्तीस हुए॥

विधिमार्गमें जैसे चार श्रेणियोंमें सोलह प्रकारके भक्त हैं, रागमार्गमें भी चार श्रेणियोंमें दास्य-सख्यादि चार भावके ठीक उसी प्रकार सोलह प्रकारके भक्त हैं। इस प्रकार रागमार्गके भी सोलह प्रकारके आत्माराम हैं। एकमात्र स्वयं भगवान्-व्रजेन्द्रनन्दनके भजनमें ही रागमार्ग सम्भव है।

दुइ मार्गे इत्यादि—विधिमार्गमें सोलह प्रकारके और रागमार्गमें सोलह प्रकारके, इस प्रकार सब मिलाकर बत्तीस प्रकारके आत्माराम हुए।

मूल श्लोकमें 'आत्माराम' शब्दकी जगह ये बत्तीस प्रकारके अर्थ अलग-अलग लगाये जायँ तो श्लोकके बत्तीस प्रकारके अर्थ मिलेंगे। (२७ से ५८)

विधिभक्तिके प्रकरणमें २०६ पयारकी टीकामें इसी परिच्छेदमें पृष्ठ २६१ पर बताया गया है कि शास्त्र-शासनके भयसे नरक-यन्त्रणासे उद्धार पानेके उद्देश्यसे जो भजनमें प्रवृत्त होते हैं, वे ही विधिमार्गके भक्त हैं। इस प्रकार जो भजनमें प्रवृत्त तो हुए हैं लेकिन जिनमें अभीतक प्रेमाङ्कुर पैदा नहीं हुआ, उन अजातरति भक्तोंको विधिभक्त कहा जा सकता है। किंतु जो जातरति हैं, उनके चित्तमें

शास्त्र-शासन या नरक-यन्त्रणाका भय नहीं रहता। और जो विधिमार्गसे सिद्ध होकर भगवत्-पार्षदत्व प्राप्त कर चुके हैं, किसी भी प्रकारका भय उनकी सिद्धावस्थामें भजनका प्रवर्त्तक नहीं हो सकता। तो भी उनको विधिमार्गका भक्त कहनेमें यह कारण है क्योंकि साधक अवस्थामें शास्त्र-शासनादिका भय ही उनके भजनका प्रवर्त्तक था। भजनके प्रभावसे उस भयके अन्तर्हित होनेपर भी, भगवान्के महिमाज्ञानके अन्तर्हित न होनेसे उनको विधिभक्त कहा गया है। नित्यसिद्ध पार्षदगणको विधिभक्त कहनेका हेतु यह है कि साधनसिद्ध विधिभक्तकी तरह उनको भी अनादिकालसे भगवन्महिमाका ज्ञान बना हुआ है।

नित्यसिद्ध और साधनसिद्ध विधिभक्तोंका श्रीकृष्णगुणमें आकृष्ट होनेका कारण है भक्तिका स्वभाव और कृष्णकृपा। जातरति और अजातरति विधिभक्तोंका कृष्णगुणमें आकृष्ट होनेका कारण है भक्ति-कृपा, या कृष्णकृपा, या भक्तकी कृपा।

'मुनि, निर्ग्रन्थ, च अपि' चारि शब्देर अर्थ।
जाहाँ जेइ लागे, ताहाँ करिये समर्थ ॥२१३॥

'निर्ग्रन्थ', 'च', 'अपि', 'मुनि' इन चारों शब्दोंके जो-जो अर्थ विहित।
उनको लेना चाहिये लगा जिस-जिस प्रसङ्गमें जो समुचित ॥

मुनि निर्ग्रन्थ—'मुनि','निर्ग्रन्थ', 'अपि' और 'च' शब्दोंके जो सब अर्थ पूर्वमें बताये गये हैं, उनमें 'आत्माराम' शब्दके इन बत्तीस प्रकारके अर्थोंमें-से, जिसके साथ जो अर्थ सङ्गत हो, वही मिलाकर अर्थ करना होगा।

जो निम्न प्रकारसे बनता है —

(२७) पारिषद दास विधिभक्त, (२८)पारिषद सखा विधिभक्त,
(२९) पारिषद गुरु विधिभक्त, (३०)पारिषद कान्ता विधिभक्त,
(३१) साधनसिद्ध दास विधिभक्त, (३२)साधनसिद्ध सखा विधिभक्त,
(३३) साधनसिद्ध गुरु विधिभक्त, (३४)साधनसिद्ध कान्ता विधिभक्त,
(३५) जातरति साधक दास विधिभक्त,

(३६) जातरति साधक सखा विधिभक्त,
(३७) जातरति साधक गुरु विधिभक्त,
(३८) जातरति साधक कान्ता विधिभक्त,
(३९) अजातरति साधक दास विधिभक्त,
(४०) अजातरति साधक सखा विधिभक्त,
(४१) अजातरति साधक गुरु विधिभक्त,
(४२) अजातरति साधक कान्ता विधिभक्त,
(४३) पारिषद दास रागभक्त,
(४४) पारिषद सखा रागभक्त,
(४५) पारिषद गुरु रागभक्त,
(४६) पारिषद कान्ता रागभक्त,
(४७) साधनसिद्ध दास रागभक्त,
(४८) साधनसिद्ध सखा रागभक्त,
(४९) साधनसिद्ध गुरु रागभक्त,
(५०) साधनसिद्ध कान्ता रागभक्त,
(५१) जातरति साधन दास रागभक्त,
(५२) जातरति साधक दास रागभक्त,
(५३) जातरति साधक गुरु रागभक्त,
(५४) जातरति साधक कान्ता रागभक्त,
(५५) अजातरति साधक दास रागभक्त,
(५६) अजातरति साधक सखा रागभक्त,
(५७) अजातरति साधक गुरु रागभक्त,
(५८) अजातरति साधक कान्ता रागभक्त,

इतने प्रकारके भगवान्में रमण करनेवाले आत्माराम एवं मुनिगण निर्ग्रन्थ होकर उरुक्रम भगवान्में अहैतुकी भक्ति करते हैं, ऐसी ही हरिके गुणोंकी महिमा है।

बत्रिशे छाब्बिशे मेलि अष्ट पञ्चाश ।
आर एक भेद शुन अर्थेर प्रकाश ॥२१४॥

पहलेके छब्बिस, बत्तिस ये, अट्ठावन अर्थ हुए मिलकर ।
अब सुनो प्रकाशित करता हूँ मैं एक नया ही अर्थ अपर ॥

१५०वें पयारतक पहले छब्बीस प्रकारके अर्थ हुए हैं और यहाँ बत्तीस प्रकारके अर्थ हुए । इस प्रकार अबतक अट्ठावन प्रकारके अर्थ हो गये । आर एक भेद इत्यादि—अब और एक प्रकारका अर्थ निम्न कई पयारोंमें करते हैं ।

इतरेतर समास निष्पन्न 'आत्माराम'

इतरेतर 'च' दिया समास करिये ।
आटान्नबार 'आत्माराम' नाम लइये ॥२१५॥

होनेसे 'च' का प्रयोग गया इतरेतर द्वन्द्व यहाँपर बन ।
जिससे कि 'आत्मारामाः' की आवृत्ति हो सकी अट्ठावन ॥

'आत्मारामाश्च आत्मारामाश्च' आटान्नबार ।
शेषे सब लोप करि, राखि एकबार ॥२१६॥

'आत्मारामाः' का 'च' के साथ आवृत्ति बार अट्ठावन कर ।
होगा करना, बस, एक ग्रहण उनमें-से, करके लुप्त अपर ॥

तथाहि पाणिनिः (१।२।६४)—
सिद्धान्तकौमुद्याम् अजन्तपुंलिङ्गशब्द प्रकरणे—
"सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ" उक्तार्थानामप्रयोगः इति ॥८५॥

श्लोक ८५ का अन्वय अनुवाद आदि इसी परिच्छेदमें ५०वें श्लोकमें पृष्ठ १६७ पर देखिये। २१६वें पयारके प्रमाणमें यह श्लोक है।

आटान्न च-कारेर सब लोप हय।
एक 'आत्माराम'-शब्दे आटान्न अर्थ कय॥

आवृत्ति 'च' की भी अट्ठावन होगी, विलुप्त होंगे सब पर।
होगा बस, 'आत्माराम' एक अट्ठावन अर्थोंका निर्भर॥२१७॥

पूर्वार्द्ध इतरेतर 'च' दिया इत्यादि—'च' लगाकर इतरेतर समास करके (इस परिच्छेदके १००-१०३ पयारकी टीका पृष्ठ १६५-१६७ पर देखिये) २१५ उत्तरार्द्धके 'आटान्नबार आत्माराम…'से लेकर २१७ उत्तरार्द्धके 'आटान्न अर्थ कय' पर्यन्त अढाई पयार हैं। आत्मारामाश्च इत्यादि रूपसे अट्ठावन बार 'आत्मारामाश्च' शब्द लेकर इतरेतर समास करनेसे सतावन 'आत्मारामाः' और अट्ठावन 'च' कार लोप होकर समास निष्पन्न पद रहेगा केवल 'आत्मारामाः'। यह शेष 'आत्मारामाः' शब्द ही अट्ठावन प्रकारके आत्मारामगणको (पूर्वमें अट्ठावन अर्थमें 'आत्माराम' शब्दके जो अट्ठावन प्रकारके अर्थ किये गये हैं, उन सबको ही) सूचित करता है।

तथाहि पाणिनिः (१।२।६४)—
सिद्धान्तकौमुद्याम् अजन्तपुंलिङ्गशब्द प्रकरणे—

अश्वत्थवृक्षाश्च वटवृक्षाश्च कपित्थवृक्षाश्च
आम्रवृक्षाश्च—वृक्षाः॥८६॥

अन्वय—सरल है। **अनुवाद**—अश्वत्थवृक्षाः, वटवृक्षाः, कपित्थवृक्षाः, आम्रवृक्षाः—ये सब शब्द इतरेतर समासमें वद्ध करनेसे समास निष्पन्न शब्द होगा 'वृक्षाः'; अश्वत्थ, वट प्रभृति शब्दोंका लोप हो जायगा।

परवर्ती पयारोक्त अर्थके समर्थनार्थ यह श्लोक उद्धृत हुआ है।

'अस्मिन् वने वृक्षाः फलन्ति' जैछे हय।
तैछे सब आत्माराम कृष्णे भक्ति करय ॥२१८

ज्यों 'अस्मिन् वने फलन्ति द्रुमाः' से सब द्रुमका फलना सूचित ।
त्यों 'आत्माराम' एक ही से सबका हरिको भजना सूचित ॥

एक दृष्टान्तद्वारा उक्त इतरेतर समास निष्पन्न 'आत्मारामाः' शब्दका अर्थ बताते हैं।

अस्मिन वने वृक्षाः फलन्ति—इस वनमें वृक्ष समूह फल धारण करते हैं। यहाँ 'वृक्षाः' शब्दसे जितने प्रकारके फल धारण करनेवाले उपयोगी वृक्ष हैं, सभी वृक्ष समझे जाते हैं। उसी प्रकार उक्त श्लोकमें 'आत्मारामाः' शब्दद्वारा भी, जितने प्रकारके आत्माराम हो सकते हैं वे सभी सूचित होते हैं। यहाँ 'वृक्षाः' शब्द इतरेतर समास निष्पन्न हैं; इसका अर्थ (व्यास वाक्यानुसार)—**अश्वत्थवृक्षाश्च, वटवृक्षाश्च, कपित्थवृक्षाश्च, आम्रवृक्षाश्च**। समासमें अश्वत्थ-वटादि वृक्षके उपजातिवाचक शब्द सब लुप्त हो जाते हैं, 'च' भी सब लुप्त हो जाते हैं और एकके अतिरिक्त बाकी सब 'वृक्ष' शब्द भी लुप्त हो जाते हैं, रह जाता है केवल एक 'वृक्ष' शब्द। उसी प्रकार **देहारामा आत्मारामाश्च, बुद्धिरामा आत्मारामाश्च, मनोरामा आत्मारामाश्च, ब्रह्मरामा आत्मारामाश्च** इत्यादि अट्ठावन प्रकारके आत्मारामगण-वाचक-शब्द इतरेतर समासमें आवद्ध होनेपर आत्माराम जातिके उपजातिवाचक देहाराम प्रभृति शब्द सब लुप्त हो जायेंगे, व्यास-वाक्यानुसार अट्ठावन 'च' कार लुप्त हो जायेंगे एवं सत्तावन 'आत्मारामाः' शब्द लुप्त होकर केवल एक 'आत्मारामाः' शब्द अवशिष्ट रहेगा। इस शेष 'आत्मारामाः' शब्दद्वारा अट्ठावन प्रकारके आत्मारामोंमें-से प्रत्येकको समान भावसे समझना होगा। श्रीमन्महाप्रभु यहाँपर बताते हैं कि मूल श्लोकके 'आत्मारामाः' शब्दको पूर्वोक्त प्रकारसे इतरे समासमें साधन करनेसे यह एक 'आत्मारामाः' शब्द ही पूर्वोक्त अट्ठावन प्रकारके आत्मारामगणको सूचित करेगा।

'आत्मारामाश्च' समुच्चये कहिये च-कार।
'मुनयश्च' भक्ति करे—एइ अर्थ तार ॥२१९॥

है अर्थ समुच्चय 'च' का यहाँ 'आत्मारामाश्च' पदान्तर्गत।
'मुनयश्च' तथा करता सूचित—मुनिजन भी होते भक्ति-निरत॥

अब मूल श्लोकके 'च' शब्दका अर्थ करते हैं। 'च'का अर्थ यहाँ 'समुच्चय' है। अर्थात् उक्त अट्ठावन प्रकारके आत्माराम-अर्थ पृथक्-पृथक् जोड़कर श्लोकका अर्थ नहीं करना होगा। (ऐसा करनेसे अट्ठावन प्रकारके स्वतन्त्र अर्थ हो जायेंगे); परन्तु इन अट्ठावन प्रकारके आत्मारामगणको एक ही श्रेणीमें गिनकर श्लोकका अर्थ करना होगा। यही समुच्चयका तात्पर्य है। समुच्चयार्थमें 'च' माननेसे अट्ठावन आत्मारामोंको मिलाकर श्लोकका एक ही अर्थ हो जायगा।

मुनयश्च—श्लोकके 'च' शब्दद्वारा 'आत्मारामाः' शब्दके साथ **'मुनयः'** शब्दका योग होता है। अट्ठावन प्रकारके आत्मारामगण एवं मुनिगण श्रीकृष्ण-भजन करते हैं—यही अर्थ होगा। यह समुच्चयका फल है।

'निर्ग्रन्था एव' हञा 'अपि'-निर्द्धारणे।
एइ उनषष्ठि अर्थ करिल व्याख्याने ॥२२०॥

'अपि' का निर्धारण अर्थ यहाँ, 'निर्ग्रन्थ एक हो' भाव अतः।
प्रस्तुत कर व्याख्या इस प्रकार उनसठवाँ अर्थ दिया यह कह॥

निर्ग्रन्था एव हञा इत्यादि—उक्त अर्थमें श्लोकस्थ 'अपि' शब्दसे निर्द्धारण समझा जाता है। निर्द्धारण अर्थमें 'अपि' शब्दका अर्थ है—एव (भी); इस प्रकार **निर्ग्रन्था अपि**'का अर्थ—निर्ग्रन्था एव, निर्ग्रन्थ होकर भी। वे निर्ग्रन्था हैं, यह बात सुनिश्चित है; तथापि वे श्रीकृष्णभजन करते हैं।

इस तरह श्लोकका अर्थ इस प्रकार होगा :—

(५६) (पूर्वोक्त अट्ठावन प्रकारके) आत्मारामगण एवं मुनिगण निर्ग्रन्थ होकर भी उरुक्रम श्रीकृष्णमें अहैतुकी भक्ति करते हैं—ऐसी ही श्रीहरिके गुणोंकी महिमा है।

यहाँतक उनसठ अर्थ मिले। परवर्ती दो पयारोंमें और भी एक प्रकारका अर्थ करते हैं।

सर्व्व समुच्चये आर एक अर्थ हय— ।
आत्मारामाश्च मुनयश्च निर्ग्रन्थाश्च भजय ॥

ले 'च' का समुच्चय भाव और है एक अर्थ होता अवगत ।
'आत्मारामाश्च च निर्ग्रन्थाः मुनयश्च' भजनमें होते रत ॥२२१॥

सर्व्व समुच्चये—श्लोकके 'च' शब्दका समुच्चय अर्थ लेकर एवं आत्मारामाः, मुनयः, और निर्ग्रन्थाः—इन तीनों प्रथमान्त शब्दोंको इस 'च' शब्दद्वारा संयुक्त करके और एक अर्थ मिलता है, जो इस प्रकार होगा—आत्मारामगण, मुनिगण एवं निर्ग्रन्थगण—ये सभी श्रीकृष्णभजन करते हैं।

'अपि' शब्द अवधारणे सेहो चारिवार ।
चारिशब्द सङ्गे 'एवे' र करिबे उच्चार ॥२२२॥

आवृत्ति चार 'अपि' की करके ले अर्थ यहाँपर अवधारण ।
चारों शब्दोंके साथ 'एव' का करना होता उच्चारण ॥

'अपि'-शब्द अवधारणे—मूल श्लोकके 'अपि' शब्दसे-अवधारण या निश्चय समझा जायगा। निश्चयार्थे 'अपि'का अर्थ—'एव' (ही) है।

सेहो चारिबार—इस 'अपि' शब्दको चारबार ग्रहण करना होगा।

चारिशब्द सङ्गे इत्यादि—उरुक्रमे, भक्तिम्, अहैतुकीम् एवं कुर्वन्ति—इन चारों

शब्दोंके प्रत्येकके साथ ही 'एव' (अपि) शब्दका योग करके उच्चारण करना होगा ; अर्थात् उरुक्रमे एव, भक्तिमेव, अहैतुकीमेव एवं कुर्वन्ति एव—इस प्रकार पढ़ना होगा। इस तरहके पाठका यह तात्पर्य होगा कि :—

उरुक्रमे एव—उरुक्रम श्रीकृष्णमें ही भक्ति करेंगे, किसी अन्य भगवत्-स्वरूपकी नहीं। एव (अपि) शब्द यहाँपर भजनीय वस्तुको निश्चित रूपसे दिखा देता है।

भक्तिमेव—श्रीकृष्णमें भक्ति ही करेंगे, योग-ज्ञानादिद्वारा उनकी उपासना नहीं करेंगे। 'एव' (अपि)-शब्द यहाँपर साधन-पथको भी निश्चित करके दिखा देता है।

अहैतुकीमेव—श्रीकृष्णमें जो भक्ति करेंगे वह अहैतुकी ही होगी ; किसी भी प्रकारकी भुक्ति-मुक्ति आदि वासनाके वशवर्ती होकर वे श्रीकृष्णमें भक्ति नहीं करेंगे। 'एव' (अपि)-शब्द यहाँपर शुद्धाभक्तिको निश्चय कर देता है।

कुर्वन्ति एव—कुर्वन्ति शब्द 'कृ' धातुसे परस्मैपदीसे उत्पन्न है। 'एव' शब्द 'कृ' धातु एवं परस्मैपद—इन दोनोंका ही निश्चयार्थ सूचित करता है। 'एव' योगसे 'कृ' धातुका अर्थ ऐसा होगा—वे भक्ति करेंगे ही, भक्ति किये बिना किसी प्रकार रह नहीं सकेंगे। और 'एव' योगसे परस्मैपदका अर्थ ऐसा होगा :—ये जो भक्ति करेंगे वह अपने लिये नहीं, श्रीकृष्णके लिये, श्रीकृष्णके प्रीति-विधानके लिये ही, अन्य किसीके लिये नहीं। इसी परिच्छेदके १९वें पयारकी टीका पृष्ठ १५ पर देखिये।

सभी स्थानोंमें जो इसं 'अपि' (एव)-शब्दका निश्चयार्थ वाचन है, वह श्रीहरिके गुणोंका माहात्म्य वाचक है। श्रीकृष्ण-गुणमें ऐसी ही आकर्षिणी शक्ति है कि यह आत्मारामोंको अन्य स्वरूपोंकी उपासना छुड़वाकर श्रीकृष्ण-भजन कराती रहती है ; श्रीकृष्णगुणमें ऐसी आकर्षिणी शक्ति है कि यह योग-ज्ञानादिके प्रति स्पृहा छुड़वाकर भक्तिके प्रति आसक्ति उत्पन्न कराती है—उस भक्तिको भी अहैतुकी एवं श्रीकृष्ण-सुख-तात्पर्यमयी बना देती है। और श्रीकृष्णगुणमें ऐसी आकर्षिणी शक्ति है कि जो इन गुणोंमें आकृष्ट होते हैं, वे श्रीकृष्णका भजन किये बिना रह ही नहीं सकते।

तथाहि श्रीप्रभुपादोक्त-व्याख्या—

उरुक्रम एव, भक्तिमेव, अहैतुकीमेव, कुर्वन्त्येव ॥८७॥

अन्वय—सरल है। अनुवाद—उरुक्रममें ही (भक्ति करेंगे, अन्य किसी स्वरूपमें नहीं), भक्ति ही (करेंगे, ज्ञान-कर्मादिका अनुष्ठान नहीं करेंगे), अहैतुकी भक्ति ही (करेंगे, सहैतुकी भक्ति नहीं करेंगे), कृष्ण-प्रीतिके निमित्त ही भक्ति करेंगे (भक्ति किये बिना रह नहीं सकेंगे—उन्हें स्वसुखकी वासना ही नहीं रहेगी।

एइ त कहिल श्लोकेर षाटिसंख्या अर्थ।
आर एक अर्थ शुन, प्रमाणे समर्थ ॥२२३॥

श्लोकार्थ यहाँतक इस प्रकार कुल साठ हुए अबतक वर्णित।
अब एक अर्थ कह रहा नया, उसको भी सुनो प्रमाण सहित ॥

उक्त अर्थसे मूल श्लोकके अन्वयादि इस प्रकार होंगे :—

आत्मारामाः (च) मुनयः (च) निर्ग्रन्था च उरुक्रमे अपि (एव) अहैतुकीमपि (एव) भक्तिमपि (एव) कुर्वन्ति अपि (एव) हरिः इत्थम्भूतगुणः।

(६०) श्रीहरिके ऐसे ही गुण हैं कि चाहे आत्मारामगण हों, चाहे मुनिगण हों ; चाहे निर्ग्रन्थ व्यक्तिगण हों—सभी श्रीकृष्णगुणसे आकृष्ट होकर श्रीकृष्णमें ही अहैतुकी भक्ति करते रहते हैं।

यहाँ पर्यन्त सब मिलाकर साठ अर्थ हुए। अब निम्न दो पयारोंमें और एक प्रकारका अर्थ करते हैं।

'जीव' आत्माराम

'आत्मा'-शब्दे कहे—क्षेत्रज्ञ जीवलक्षण।
ब्रह्मादि कीटपर्य्यन्त तार शक्तिते गणन ॥

'आत्मा' पदका 'क्षेत्रज्ञ-जीव' भी अर्थ ध्यानमें उठा अभी।
ब्रह्मादि कीटपर्यन्त गये हैं जीव-शक्तिमें गिने सभी ॥२२४॥

'आत्मा' शब्दका जीव अर्थ मानकर और एक प्रकारका अर्थ करते हैं।

'आत्मा—शब्दका अर्थ – क्षेत्रज्ञ जीव ; श्रीकृष्णकी जीव-शक्तिका अंश। जीव श्रीकृष्णकी जीव-शक्तिका अंश है, इसका प्रमाण निम्न श्लोकमें है। और आत्मा शब्दसे जो जीवका बोध होता है, उसका निम्नलिखित ८९ संख्यक श्लोकमें प्रमाण है। ब्रह्मादि कीट इत्यादि—ब्रह्मासे लेकर कीट पर्यन्त—सभी श्रीकृष्णकी जीव-शक्तिके अंश हैं। अतः सभी जीव (आत्मा) हैं। यहाँ 'ब्रह्मा' शब्दसे जीव कोटि ब्रह्माको बताया है, ईश्वर कोटि ब्रह्माको नहीं।

इस प्रकारके अर्थसे 'आत्माराम' शब्दका अर्थ भी होगा जीवमें—आत्मामें (जीवमें या जीव-शक्तिमें) रमण करें जो, वे ही—आत्माराम। जो जीव-शक्तिमें रमण करें (संसारी जीव रूपमें ही जो रहना चाहते हैं एवं अनादिकालसे नित्य हैं) वे ही आत्माराम (जीव) हैं।

तथाहि विष्णुपुराणे (६।७।६१)—

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा।
अविद्याकर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते ॥८८॥

संस्कृतटीका—अविद्या कर्म कार्यं यस्याः सा, तत्संज्ञा मायेत्यर्थः। यद्यपीयं बहिरङ्गा, तथाप्यस्यास्तटस्थशक्तिमयमाप जावमावरितुं सामर्थ्यमस्तीति। भगवत्सन्दर्भे जीव।

अन्वय—विष्णुशक्तिः (विष्णुशक्ति) **परा** (पराशक्ति नामसे) **प्रोक्ता** (कथित होती है); **अपरा** (अपर शक्ति) **क्षेत्रज्ञाख्या** (क्षेत्रज्ञ-शक्ति नामसे कथित होती है) ; **अन्या तृतीया शक्तिः** (अन्य एक तीसरी शक्ति) **अविद्याकर्म-संज्ञा** (अविद्या-कर्म-नामसे) **इष्यते** (अभिहित है)।

अनुवाद—विष्णुशक्ति परा नामसे अभिहित है, दूसरी एक शक्तिका नाम क्षेत्रज्ञाशक्ति है ; और एक तीसरी शक्ति अविद्या-कर्म नामसे अभिहित है।

जीव जो भगवान्‌की शक्ति है उसीके प्रमाणमें यह श्लोक है। २२४वें पयारका यह प्रमाण है।

तथा च अमरकोषे स्वर्गवर्गे (७)—

क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः ॥८६॥

अन्वय सरल है। अनुवाद—'आत्मा' शब्दका अर्थ है—क्षेत्रज्ञ, जीव, पुरुष। २२४वें पयारके पूर्वार्द्धके प्रमाणमें यह श्लोक है।

भ्रमिते भ्रमिते यदि साधु-सङ्ग पाय।
सभे सब त्याजि तबे कृष्णेरे भजय ॥२२५॥

भ्रमते-भ्रमते यदि साधु-सङ्ग, इनमें-से कोई पा जाता।
सब कुछका करके परित्याग वह कृष्ण-भजनमें लग जाता॥

जीव रूप आत्मारामगण नाना प्रकारकी योनि भ्रमण करते-करते यदि किसी भी सौभाग्यसे, किसी भी समय, किसी भी साधुकी कृपा प्राप्त कर सकें, तब वे अन्य सब कुछ त्याग करके एकमात्र श्रीकृष्णका ही अहैतुकी भक्तिसहित भजन करते रहते हैं।

इस प्रकार मूल श्लोकका अन्वयादि इस तरह होगा:—आत्मारामाः (ब्रह्मादिकीटपर्यन्तजीवाः) अपि निर्ग्रन्थाः मुनयः च (सन्तः) उरुक्रमे अहैतुकीं भक्तिं कुर्वन्ति हरिः इत्थम्भूतगुणः।

(६१) ब्रह्मादि कीटपर्यन्त जीवगण भी निर्ग्रन्थ और मुनि होकर श्रीकृष्णकी भक्ति करते हैं,—श्रीकृष्णके ऐसे ही गुण हैं।

यहाँतक सब मिलाकर इकसठ अर्थ हुए। प्रत्येक प्रकारके अर्थका तात्पर्य ही श्रीकृष्णगुणमें आकर्षिणी शक्तिकी पराकाष्ठा एवं श्रीकृष्णमें अहैतुकी भक्ति है।

षाटि अर्थ कहिल—जे कृष्णेर भजन।
सेइ अर्थ हय सब अर्थेर उदाहरण ॥२२६॥

साठों अर्थोंमें जिन-जिनके है कृष्ण-भजनकी बात कही।
वे सभी जीव हैं ; उदाहरण या अर्थ पदोंके शेष वही॥

इन साठ अर्थोंमें जो कृष्ण-भजनकी बात कही गयी है वह सब अर्थोंका उदाहरण अर्थात् सार है या वही सब अर्थोंका लक्ष्य है अथवा मैंने श्लोकके साठ अर्थ कहे, वे सब कृष्णभजनको लक्ष्य करते हैं, वह कृष्णभजन ही वास्तविक अर्थ है ; जितने प्रकारके मैंने अर्थ किये, वे सब इसीके उदाहरण हैं।

एकषष्टि अर्थ एबे स्फुरिल तोमार सङ्गे।
तोमार भक्ति-बले उठे अर्थेर तरङ्गे॥२२७॥

इकसठवाँ अर्थ खुला यह तो, बस सङ्ग तुम्हारा ही पाकर।
तव भक्ति-प्रताप रही जो उठ अर्थोंकी एकानेक लहर॥

श्रीमन्महाप्रभु बोले—"सनातन ! तुम्हारी भक्तिके प्रभावसे एवं तुम्हारे सङ्गके माहात्म्यसे अर्थकी तरंगें उठती हैं, जिससे अब यह इकसठवाँ अर्थ स्फुरित हुआ।

एक मात्र भक्तिकी कृपासे ही भागवतका (श्रीमद्भागवतके किसी भी श्लोकका) अर्थ समझा जा सकता है एवं भक्तिकी कृपासे ही भागवतका अर्थ चित्तमें स्फुरित होता है, केवल मात्र बुद्धिके प्रभावसे या केवल मात्र टीकाकी सहायतासे भागवतीय श्लोकका अर्थ समझा नहीं जा सकता। उसके प्रमाणमें निम्न श्लोक है।

तथाहि प्राचीन श्लोकः—

भक्त्या भागवतं ग्राह्यं न बुद्ध्या न च टीकया॥६०॥

अन्वय—सरल है। अनुवाद—भागवतका अर्थ केवल भक्तिद्वारा ही ग्रहणीय (बोधगम्य हो सकता है), बुद्धि या टीकाद्वारा इसका अर्थ बोधगम्य नहीं होता।

अर्थ शुनि सनातन विस्मित हइया।
महाप्रभुरे स्तुति करे चरणे धरिया—॥२२८॥

सुन इस प्रकार सब अर्थोंको विस्मयसे गये सनातन भर।
स्तुति करने लगे महाप्रभुकी, हाथोंमें उनके पद लेकर॥

ये अर्थ सुनकर सनातन विस्मित होकर महाप्रभुके चरण पकड़कर स्तुति करने लगे।

साक्षात् ईश्वर तुमि व्रजेन्द्रनन्दन।
तोमार निश्वासे सब वेदप्रवर्त्तन॥२२९॥
तुमि वक्ता भागवतेर तुमि जान अर्थ।
तोमा बिनु अन्य जानिते नाहिक समर्थ॥

परमेश्वर हो साक्षात तुम्हीं, माधव, मुकुन्द, व्रजपतिनन्दन।
है हुआ तुम्हारे निःश्वासोंसे चारों वेदोंका प्रकटन॥२२६॥
हो तुम्हीं भागवतके वक्ता, तुमको ही उसके विदित अर्थ।
उसको तो सिवा तुम्हारे है कोई न समझनेमें समर्थ॥२३०॥

तोमार निश्वासे इत्यादि—श्रुति भी बतलाती है कि ईश्वरके निश्वाससे समस्त वेदोंकी उत्पत्ति है। 'अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्द यद्दृग्वेदः'—इत्यादि। वेदान्त सूत्रके १।१।३ सूत्रके शाङ्करभाष्यकी टीका-धृत श्रुति।

श्रीपाद सनातनने श्रीमन्महाप्रभुसे कहा—"तुम स्वयं भगवान् हो, तुम्हारे निश्वाससे ही वेदोंकी उत्पत्ति है; तुम्हीं वेदके वक्ता हो, अतः वेदार्थ रूप श्रीमद्भागवतके वक्ता भी तुम्हीं हो; इसीसे श्रीमद्भागवतके श्लोकके सब प्रकारके अर्थ तुम्हीं जानते हो—अन्य किसीके लिये तुम्हारी कृपा बिना उसका जानना सम्भव नहीं। अतः तुमने जो आत्माराम श्लोकका बहुविध अर्थ किया, तुम्हारे लिये उसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं।

भागवत्का स्वरूप

प्रभु कहे—केने कर आमार स्तवन ?
भागवतेर स्वरूप केने ना कर विचारण ? ॥२३१

तब कहा महाप्रभुने, "मेरी क्यों स्तुति करते हो इस प्रकार ।
क्यों नहीं भागवतका चिन्तन करते, करते उसपर विचार ॥

प्रभुने कहा—"मेरा स्तवन क्यों करते हो ? भागवतके स्वरूपका विचार क्यों नहीं करते ?

भागवतेर स्वरूप—श्रीमद्भागवतका तत्त्व। परवर्त्ती पयारमें भागवत्का तत्त्व बताया है।

कृष्णतुल्य भागवत—विभु सर्व्वाश्रय ।
प्रतिश्लोके प्रत्यक्षरे नाना अर्थ कय ॥२३२॥

भागवत स्वयं श्रीकृष्ण तुल्य, विभु-सर्वाश्रय उनके ही सम ।
प्रत्येक श्लोक, प्रत्येकाक्षर नानार्थ व्यक्त करनेमें क्षम ॥

कृष्णतुल्य भागवत—श्रीमद्भागवत ग्रन्थ श्रीकृष्णके तुल्य है। जिस प्रकार श्रीकृष्ण विभु एवं सर्वाश्रय हैं, श्रीमद्भावत उसी प्रकार विभु और सर्वाश्रय है। इसीलिये श्रीमद्भागवतके प्रत्येक श्लोकके—यहाँतक कि प्रत्येक अक्षरके अनेक प्रकारके अर्थ हो सकते हैं।

श्रीकृष्ण जिस प्रकार नित्य, सत्य, आनन्दमय और चिन्मय हैं, श्रीमद्भागवत भी उसी प्रकार नित्य, सत्य, आनन्दमय और चिन्मय है। विभुका अर्थ है वृहद्वस्तु, व्यापक वस्तु ; जो सर्वव्यापक हो वही विभु। श्रीकृष्ण जैसे सर्वव्यापक हैं, श्रीमद्भागवत भी उसी प्रकार सर्वव्यापक (विभु) है, अर्थात् अनन्त कोटि प्राकृत ब्रह्माण्ड एवं चिन्मय भगवद्धाम आदि—सर्वत्र ही श्रीमद्भागवतका प्रभाव विराजित है (सर्वत्र ही श्रीकृष्णलीला-कथाका समादर होनेसे, सर्वत्र ही इन

लीला-कथा पूर्ण श्रीमद्भागवतका समादर है)। श्रीकृष्ण आश्रय तत्त्व हैं, उनका लीला-ग्रन्थ श्रीमद्भागवत भी सबका आश्रय स्वरूप है। श्रीकृष्ण पूर्ण भगवान् होनेसे अन्यान्य भगवत्-स्वरूपादि जैसे उनके अन्तर्भूत हैं, वैसे ही उनकी लीलादि भी श्रीकृष्णकी लीलादिके अन्तर्भूत है। विशेषतः श्रीकृष्णको आश्रय करके जब अन्यान्य भगवत्-स्वरूप अपनी-अपनी लीला करते रहते हैं, तब उनका और उनकी लीलाका आश्रय भी श्रीकृष्णलीला-ग्रन्थ श्रीमद्भागवत ही है। और ज्ञान, योग, कर्म प्रभृति अन्य जो समस्त साधन-पथ हैं वे अपना-अपना फल प्रदान करनेको भी जब श्रीकृष्णलीला-कथा-श्रवणादि रूप भक्तिकी अपेक्षा रखते हैं, तब इन सब साधन-पथका आश्रय भी श्रीकृष्णलीला-ग्रन्थ श्रीमद्भागवत ही है। और जीव स्वरूपसे ब्रह्मादि कीटपर्यन्त सभीके अवलम्बनीय एवं उपजीव्य* जब श्रीकृष्ण हैं, तब उन सबका आश्रय भी श्रीमद्भागवत ही है। श्रीमद्भागवतका आश्रय ग्रहण करनेसे मायावद्ध जीवका स्व-स्वरूप जाग्रत हो सकता है एवं वह स्वरूपानुबन्धी कार्य श्रीकृष्ण-सेवामें नियोजित हो सकता है। और जो भक्त-स्वरूप हैं अथवा नित्यसिद्ध या साधनसिद्ध परिकर हैं, श्रीकृष्णलीला ही उनके लिये भी उपजीव्य है। इसलिये श्रीकृष्णलीला-ग्रन्थ श्रीमद्भागवत उनके लिये भी आश्रय और अवलम्बन स्वरूप है।

निम्नलिखित ९२-९३ संख्यक दोनों श्लोकोंमें व्यक्त किया गया है कि श्रीकृष्णके अप्रकट होनेके बाद सभी धर्मोंने श्रीमद्भागवतका आश्रय लिया है एवं श्रीमद्भागवत ही श्रीकृष्णके प्रतिनिधि स्वरूपसे जीवोंका मङ्गल विधान करती है। इसलिये भी श्रीमद्भागवत श्रीकृष्ण तुल्य है।

প্রশ্নোত্তরে ভাগবতে করিয়াছে নির্দ্ধার।
জাহার শ্রবণে লোকে লাগে চমৎকার ॥২৩৩॥

लीला-रसिकोंके प्रश्नोत्तरसे हुआ भागवतका प्रणयन।
सुन करके जिसको लोगोंका भर चमत्कारसे जाता मन॥

---

*उपजीव्य—जीविका या जीविकाका साधन देनेवाला।

श्रीमद्भागवत श्रीकृष्णकी प्रतिनिधि होनेसे श्रीकृष्ण तुल्य है— यह बात शौनकादि ऋषिगणके प्रश्नके उत्तरमें श्रीसूतजीने बतायी है।

प्रश्नोत्तरे—प्रश्न और उत्तरमें। श्रीशौनकादि ऋषिगणने प्रश्न किया और श्रीसूतजीने उत्तर दिया।

तथाहि श्रीमद्भागवते शौनक प्रश्नः (१।१।२३)—

ब्रूहि योगेश्वरे कृष्णे ब्रह्मण्ये धर्मवर्मणि।
स्वां काष्ठामधुनोपेते धर्मः कं शरणं गतः ॥६१॥

संस्कृतटीका—पुनः प्रश्नान्तरं ब्रूहीति। धर्मस्य वर्मणि कवचवद्रक्षके स्वां काष्ठां मर्यादां स्वरूपमित्यर्थः। अस्य चोत्तरम्—कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभिः सह इत्यादि श्लोकः। स्वामी।

अन्वय—योगेश्वरे (योगेश्वर) ब्रह्मण्ये (ब्रह्मण्यदेव) धर्मवर्माण (धर्मरक्षक) कृष्णे (श्रीकृष्ण) स्वां (अपने) काष्ठां (मर्यादा—नित्यधाम) उपेते (उपगत हुए—चले गये) अधुना (उस क्षण) धर्मः (धर्म) कं शरणं गतः (किसके शरणागत हुए)—ब्रूहि (बताइये)।

अनुवाद—शौनकादि ऋषिगणने कहा—हे सूतजी ! योगेश्वर ब्रह्मण्यदेव एवं धर्मरक्षक श्रीकृष्ण निज नित्यधाम पधारे, तब धर्म किसके शरणागत हुए, सो बताइये।

धर्मवर्मणि—धर्मके लिये वर्म (कवच) तुल्य—धर्मवर्म, उसके सप्तमीमें धर्मवर्मणि। अङ्गके लिये—शरीरके लिये लोहमय आवरणको वर्म अथवा कवच कहते हैं; शरीर कवचसे ढका रहे तो शरीरमें किसी प्रकारका आघात नहीं लग सकता, सब प्रकारोंके आघातसे देह रक्षा पाती है। जिस प्रकार वर्म (कवच) बाहरके आघात आदिसे देहकी रक्षा करता है, श्रीकृष्ण उसी प्रकारसे सर्वदा धर्मकी रक्षा करते रहते हैं; इसीलिये श्रीकृष्णको धर्मवर्म—धर्मरक्षक कहा गया है। श्रीकृष्ण प्रकट कालमें धर्मकी रक्षा किया करते, धर्म उन्हींके आश्रय रहता। प्रकट लीला अन्तर्धान करके श्रीकृष्णके अप्रकटमें चले जानेसे धर्मकी रक्षा कौन करेगा ?—श्रीसूतजीके निकट शौनकादि

ऋषिगणका यही प्रश्न था। इस प्रश्नके उत्तरमें श्रीसूतजीने निम्नश्लोकोक्त उत्तर दिया।

तथाहि सूतोत्तरम् (१।३।४३)—

कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभिः सह।
कलौ नष्टदृशामेष पुराणार्कोऽधुनोदितः ॥६२॥

संस्कृतटीका—तदिदं पुराणं न तु शास्त्रान्तरतुल्यं किन्तु श्रीकृष्णप्रतिनिधिरूपमेवेत्याह कृष्ण इति। स्वस्य कृष्णरूपस्य धाम नित्यलीलास्थानमुपगते सति श्रीकृष्णे। तत्र च धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्रेति नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितमिति चानुसृत्य परमप्रकृष्टतयाऽवगतैः भगवद्धर्म-भगवज्ज्ञानादिभिरपि सह स्वधामोपगते सति कलौ नष्टदृशां तादृश-धर्मज्ञानविवेकरहितानां कृते तदिदं पुराणमेवार्कः। न तु शास्त्रान्तरवद्दीपस्थानीयं यत् तथाविधोऽयं पुराणर्क उदितः। तादृशधर्मज्ञानप्रकाशनात्तत्प्रतिनिधिरूपेणाविर्बभुव। अर्कवत्तत्प्रेरितयैवेति भावः। श्रीजीव।

अन्वय—धर्मज्ञानादिभिः सह (भगवद्धर्म और भगवत् ज्ञानादि सहित) कृष्णे (श्रीकृष्ण) स्वधाम (अपने नित्यलीला स्थानमें) उपगते (चले गये) कलौ (कलियुगमें) नष्टदृशां (अज्ञानान्धकारके प्रभावसे विनष्ट दृष्टि—धर्म-ज्ञानहीन और विवेकशून्य—जीवके लिये) एषः (यह) पुराणार्कः (श्रीमद्भागवत-पुराण रूप सूर्य) अधुना (इस क्षण—इस समय) उदितः (उदित हुए हैं)।

अनुवाद—शौनकादि ऋषियोंके प्रश्नके उत्तरमें श्रीसूतजी बोले—भगवद्धर्म व भगवत् ज्ञानादि सहित श्रीकृष्णके नित्यलीला स्थानमें चले जानेसे, कलियुगमें—धर्म, ज्ञान और विवेकशून्य जीवके लिये यह (श्रीमद्भागवतरूप) पुराण सूर्य उदय हुए हैं।

धर्मज्ञानादिभिः सह—धर्म (कैतव रहित या अन्य अभिलाषा शून्य भगवद्धर्म) और ज्ञानादिके सहित (भगवत् सम्बन्धी ज्ञानादिके सहित) श्रीकृष्ण नित्यधाममें पधार गये हैं। श्रीकृष्ण जिस समय इस ब्रह्माण्डमें प्रकट थे, तब वे

स्वयं भगवद्धर्म और भगवत् सम्बन्धीय ज्ञानादिकी नाना प्रकारके उपायोंसे शिक्षा दिया करते—जैसे कुरुक्षेत्रमें अर्जुनको उपलक्ष्य करके गीतोक्त धर्मादि और तत्त्वादिका उपदेश किया। उनके अप्रकट होनेपर स्वयं श्रीकृष्ण कर्तृक इस प्रकारके धर्मज्ञानादिके उपदेश भी असम्भव हो जानेसे ही यह कहा गया है—मानो श्रीकृष्ण धर्मज्ञानादि सहित ही नित्यधाम पधार गये हैं—उनके अन्तर्धान होनेके साथ-साथ धर्मज्ञानादि सम्बन्धी उपदेश भी मानो अन्तर्हित हो गये। जो हो, उनके अन्तर्धान होनेसे उनकी जगह अब कौन धर्म-ज्ञानादिकी शिक्षा देंगे ? इसके उत्तरमें कहते हैं—उनके नित्यधाम पधार जानेसे जगत मानो अज्ञान रूप अन्धकारसे आवृत हो गया है ; गाढ़ अन्धकारसे लोग जिस प्रकार कुछ भी देख नहीं पाते, केवल अन्धे (नष्ट दृष्टि लोग)की तरह भटकते रहते हैं, उसी प्रकार अज्ञानान्धकारसे आवृत होकर जीव भी धर्मके सम्बन्धमें अथवा भगवत्-तत्त्वादिके सम्बन्धमें कुछ नहीं जान पा रहे थे। किंतु श्रीकृष्णके प्रतिनिधि रूपमें श्रीमद्-भागवत पुराणने आविर्भूत होकर जीवके वे सब अभाव दूर कर दिये—सूर्योदयसे जैसे अन्धकार दूर होता है, उसी प्रकार श्रीमद्भागवत्के आविर्भूत होनेसे जीवके अज्ञानान्धकार दूर हो गये, श्रीमद्भागवतकी कृपासे जीव धर्माधर्म सब कुछ जान सकेगा, भगवत्-तत्त्वादि जान सकेगा—स्वयं श्रीकृष्ण जिस प्रकार धर्म रक्षा करते, श्रीमद्भागवत भी उसी प्रकार धर्मकी रक्षा करेगी। इसीलिये श्रीमद्भागत श्रीकृष्ण तुल्य है—धर्मरक्षाके विषयमें श्रीकृष्णके प्रतिनिधि तुल्य है।

"कृष्णतुल्य भागवत—"इस २३२वें पयारोक्ति प्रमाणमें यह श्लोक है।

एइ त करिल एक श्लोकेर व्याख्यान।
'बातुलेर प्रलाप' करि—के करे प्रमाण ?॥२३४

मैंने की केवल एक श्लोककी इस प्रकार व्याख्या मौखिक।
'पागल-प्रलाप' ही कहो, कौन मानेगा इसको प्रामाणिक॥

एइत—इस परिच्छेदके आरम्भसे लेकर यहाँतकके पयार समूहमें। **एक श्लोकेर**—"आत्मारामाः·· ···श्लोकका। **बातुलेर**—पागलका। **के करे**

प्रमाण—मेरे द्वारा की गयी इन व्याख्याओंको कोई भी प्रामाण्य या मूल्यवान मानेगा ? अर्थात् कोई भी नहीं मानेगा ।

आमा-हेन जेवा केहो बातुल हय।
एइ दृष्ट्ये भागवतेर अर्थ जानय ॥२३५॥

मेरे ही जैसा होगा यदि पागल कोई इस पृथ्वीपर।
इस भाँति भागवतकी व्याख्या सकती उसके ही गले उतर ॥

आमा-हेन—मेरे समान। बातुल—पागल ; यहाँपर कृष्णप्रेमसे उन्मत्त। एइ दृष्ट्ये—इस प्रकार ; पूर्वापर विचार करके ।

मेरे जैसा जो कोई पागल होता है वही श्रीमद्भागवतके ऐसे अर्थ करता है ।